महावीर जयंती स्मारिका

संपादक

पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

अप्रेल – १९६२

अनुक्रमणिका

राष्ट्रपति

"भगवान महावीर का जयन्ति समारोह एक ऐसा अवसर है जब कुछ क्षणों के लिए हमें अपने हृदयों को टटोलना चाहिये और अहिंसा के महान आदर्श के महत्व को समझने का यत्न करना चाहिए। दैनिक जीवन में अहिंसा को एक सहल सिद्धांत के रूप में सबसे पहले लागू करने का श्रेय भगवान महावीर को ही है। इसलिये हम उन्हें अहिंसा के प्रवर्तक कह सकते हैं। सभी भारतवासियों को, चाहे वे भगवान महावीर के अनुयायी हों अथवा नहीं इस महान देन पर गर्व है। आधुनिक युग में गांधीजी ने इसी पुराने सूत्र को हाथ में लिया और इसके आधार पर राजनीति के क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। यद्यपि किन्हीं दुर्बलताओं के कारण संसार अहिंसा को सहसा अपना नहीं सका है, फिर भी यह हर्ष का विषय है कि गांधी विचारधारा के कारण बहुत से विभिन्न देशों के विचारशील लोग हिंसा के दूषित चक्र से ऊबकर अहिंसा में ही आशा की झलक देखते हैं।"

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

Vice-President, India

Dear Sir,

I am glad to know that you will celebrate Shri Mahavir Jayanti in a befitting manner. I send my best wishes for the success of your function.

Yours sincerely,
S. RADHAKRISHNAN

राज्यपाल, राजस्थान

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि स्थानीय महावीर जयन्ती समारोह समिति द्वारा भगवान महावीर की जयन्ती १५ अप्रेल से १७ अप्रेल, १९६२ तक मनाने का आयोजन किया जा रहा है और इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित की जा रही है जिसमें भगवान महावीर के जीवन एवं उनके उपदेशों पर महत्व-पूर्ण लेख रहेंगे।

भगवान महावीर ने आध्यात्मिकवाद के बहुत ऊंचे आदर्श विश्व के सामने रखने के साथ-साथ जांत-पांत के भेदभाव व ऊंच-नीच के झगड़े मिटाने का उपदेश दिया जिनको अपने जीवन में उतारने की आज भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। ऐसे वार्षिक समारोह मनाने का सबसे उत्तम तरीका यही हो सकता है कि हम उनके बताये हुए आदर्शों पर चलने का हार्दिक प्रयत्न करें।

मुझे आशा है कि यह स्मारिका जन-साधारण के लिए भगवान महावीर के उपदेशों को जीवन में उतारने के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगी।

—गुरमुखनिहालसिंह

★

राज्यपाल, महाराष्ट्र

आपका १७ मार्च का कृपा पत्र संख्या २२६६ मिला। अनेक धन्यवाद। यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आप १५ से १८ अप्रेल तक श्री महावीर जयंती समारोह मनाने का आयोजन कर रहे हैं। इस अवसर पर आपने मुझे निमंत्रित किया, यह आपकी विशेष कृपा है। मुझे खेद है कि दूरी के कारण मेरे लिए इस शुभ उत्सव में स्वयं सम्मिलित होना संभव न होगा। क्षमा कीजिएगा।

मेरी शुभ कामना है कि सब कृत्य सानंद और सफलता पूर्वक संपन्न हो। आप सब प्रसन्न रहें।

—श्रीप्रकाश

राज्यपाल, पंजाब

महावीर जयन्ती समारोह का निमंत्रण मिला। धन्यवाद। समारोह के प्रति शुभकामना।

—न० वि० गाडगिल

★

रेल मंत्री, भारत सरकार

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आगामी अप्रेल में भगवान महावीरजी की जयन्ती समारोह समिति, जयपुर द्वारा समारोह पूर्वक मनायी जा रही है। इस अवसर पर महावीर जी के सर्वजीव सम-भाव, सर्व जाति, समभाव व सर्व-धर्म, समभाव आदि सिद्धांतों का मानव हित में प्रचार व प्रसार किया जायगा, इस आशा के साथ मैं समारोह की सफलता की कामना करता हूं।

—जगजीवनराम

खाद्य तथा कृषि मंत्री, भारत सरकार

मुझे जानकर प्रसन्नता हुई कि इस मास में भगवान महावीर का पावन जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है।

भगवान महावीर एक महान आत्मा थे। उन्होंने अहिंसा के सिद्धांत को सर्वत्र फैलाया और आज भी उनके अनुयायी उसका दृढ़तापूर्वक अनुकरण कर रहे हैं। हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वयं पूर्ण अहिंसक एवं शांत जीवन व्यतीत करते हुए अहिंसा का सर्वत्र प्रसार करे। मुझे आशा और विश्वास है कि भगवान् महावीर के पावन जन्म-जयन्ती समारोह के अवसर पर विश्व के समस्त मानव भगवान् महावीर के अनुयायी एवं सत्य का व्रत ग्रहण करेंगे।

—एस० के० पाटिल

मुख्य मंत्री, राजस्थान

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आगामी महावीर जयन्ती के पर्व पर श्री महावीर जयन्ती समारोह समिति एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशित कर रही है।

भगवान महावीर अहिंसा और विश्व प्रेम के अवतार थे। उनका महान संदेश आज की युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिये आशा और त्राण का द्योतक है। इस युग में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित मानवीय और सामाजिक आदर्शों को अधिकाधिक प्रसारित करने की आवश्यकता है।

आशा है स्मृतिग्रंथ में भगवान महावीर के जीवन चरित तथा आदर्शों से सम्बन्धित लेखों का उपयोगी संकलन होगा। मैं जयन्ती समारोह की तथा स्मृति ग्रन्थ की सफलता के लिए अपनी शुभ कामनाएं भेजता हूं।

—मोहनलाल सुखाडिया

मुख्य मंत्री, मध्यप्रदेश

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि महावीर जयन्ती के पावन अवसर पर समारोह समिति द्वारा स्मारिका ग्रन्थ प्रकाशित किए जाने की योजना है। भगवान महावीर ने आज से वर्षों पूर्व समाज में व्यापक रूढिवादिता के विरोध में नवीन जागृति को वाणी दी थी। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि सिद्धांतों के प्रतिपादन तथा उन्हें अपने जीवन में अपना कर जो पथ भगवान महावीर ने बताया था, उसे जानना आज समस्त देश एवं विश्व के लिए आवश्यक है। आशा है आप अपने उद्देश्य में सफल होंगे। मेरी शुभकामनाएं आपके साथ हैं।

—भ. प्र. मंडलोई

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित की जा रही है। भगवान महावीर ने अपने दिव्य ज्ञान के आलोक से जिन महान सिद्धांतों का प्रचार किया उनमें सर्वजीव समभाव, सर्वधर्म समभाव और सर्वजाति समभाव सबसे मुख्य हैं। यही तीन सिद्धांत ऐसे हैं जो न केवल भारतवर्ष की अपितु संपूर्ण विश्व की समस्याएं हल कर सकते हैं। भारतीय राष्ट्र के नवनिर्माण के लिये हमें भगवान महावीर की सर्वजीव हितकारी शिक्षाओं को स्वयं अपने जीवन में उतार कर अपने वैयक्तिक उदाहरण द्वारा लोक मानस में उनकी प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहिए।

मुझे आशा है कि आपकी महावीर जयन्ती स्मारिका अपने इस उद्देश्य को पूरा करने में समर्थ होगी।

—भगवतसिंह महता

हिन्दू जाति के परमोद्धारक श्री महावीर स्वामी की जयन्ति के स्मारक रूप में जो उपहारग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है, वह एक स्तुत्य प्रयास है।

जैन धर्म द्वारा समाज और साहित्य की जो अमूल्य सेवायें हुई हैं, भारतीय चिंतन धारा में उनका एक अपना स्थान है। व्यक्ति के उत्थान और समाज के साथ उसका विशिष्ट सम्बन्ध निर्धारित करने में इस धारा का अपना दृष्टिकोण है।

मुझे विश्वास है चिंतन शील व्यक्ति और मननशील पाठक प्रस्तुत संग्रह में प्रेरणात्मक सामग्री पाकर प्रसन्न होंगे।

संग्रहकर्ताओं के प्रयास की सराहना करता हुआ अपनी शुभकामनायें समर्पित करता हूं।

—सोमनाथ गुप्त

संयम का पुनर्जीवन

भगवान् महावीर की वाणी हमारे लिए प्रकाश-दीप के समान है। उससे हमारा वर्तमान और भविष्य दोनों आलोकित होते हैं। उन्होंने जिन शाश्वत सत्यों की उपलब्धि की और जिनका प्रतिपादन किया वे सार्वजनिक और सार्वजनिन हैं।

उनकी दृष्टि में साध्य तत्व आत्मा ही है। धर्म उससे अभिन्न है। सम्प्रदाय आदि उसके निमित्त हैं। उपादान को निमित्त और निमित्त को उपादान समझना मिथ्या दृष्टि है। सम्यग् दृष्टि यही है कि जो वस्तु जिस स्थिति में हो उसे उसी कोण से आंका जाय।

भगवान महावीर के तत्व ज्ञान का आधार सम्यग्-दर्शन है। वर्तमान विश्व को उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। हम भगवान को अतीत के वातावरण में ही सीमित न करें। उनकी वाणी में सार्व-दिकता है, इसलिए उसका प्रयोग वर्तमान की समस्याओं का समा-धान पाने के लिए भी करें। उनकी वाणी में सार्वदेशिकता है इस लिए इसका प्रयोग सब स्थानों में करें। आज विश्व के सामने सब से जटिल समस्या शस्त्रीकरण की है। निःशस्त्रीकरण की समस्या उससे अधिक जटिल है। चिन्तन की जिस रेखा पर आज के राजनयिक चल रहे हैं, वहां समाधान नहीं है। भगवान महावीर ने यही कहा था–अत्थि सत्थ परेण परं। शस्त्रीकरण में आगे से तीव्रता आती है। भगवान ने समाधान की भाषा में कहा-नत्थि असत्थ परेण परं, निशस्त्रीकरण में कोई स्पर्धा नहीं है। संयम का मार्ग स्पर्धा से मुक्त है। इस असंयम बहुल युग के सामने भगवान महावीर को प्रस्तुत करने का अर्थ संयम को पुनर्जीवित करना है। मैं इसे बहुत ही शुभ कार्य मानता हूं।

— आचार्य श्री तुलसी

Message

It gives me great pleasure to learn that the Rajasthan Jain Sabha are celebrating Mahavir Jayanti from 15th to 17th April. The great message of 'live and let live' which Lord Mahavir gave to the world many centuries ago is more valuable today than ever before in this atomic age.

It is a right step to bring out a souvenir on this occasion giving the contribution of Lord Mahavir's preaching to the cause of humanity. I wish the celebrations and its organisers all success.

SAWAI MAN SINGH
Maharaja of Jaipur

सन्देश

मुझे यह जान कर अपार हर्ष हुआ कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर ने इस वर्ष भगवान महावीर की पुण्य जयन्ती पर एक महिला सम्मेलन का विशेष आयोजन किया है। आज जब समस्त विश्व नवीनतम वैज्ञानिक विध्वंसक उपकरणों के कारण विनाश के कगार पर बैठा हुआ है तब सृष्टि को बचाये रखने के हेतु भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा एवं सत्य आदि के सिद्धान्त ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अतः मैं सम्मेलन में भाग लेने वाली समस्त महिलाओं से विनम्र निवेदन करती हूं कि वे भगवान महावीर के दिये गये उपदेशों को अपने दैनिक जीवन में व्यवहारिक रूप प्रदान करें। ऐसा करने से ही उस महान विभूति की जयन्ती मनाना सार्थक होगा।

—गायत्री देवी
महारानी जयपुर

भगवान महावीर का शुभ संदेश

जीवो और जीने दो

भगवान महावीर के उपदेशों का प्रचार कीजिए और अपने जीवन में उतारिये ।

*

राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रसारित

जैन मन्दिर, रणकपुर

सम्पादकीय

श्री महावीर जयन्ती स्मारिका के द्वारा हमें पाठकों को कुछ ऐसा साहित्य देना है जो भगवान महावीर एवं उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म दर्शन आदि के विषय में नानाविध दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने का प्रयत्न करे। यद्यपि ऐसे प्रयत्न पहिले भी अनेक बार हुये हैं, पर वे पर्याप्त नहीं हैं; यह हमारा प्रयत्न भी पर्याप्त तो न होगा। सच तो यह है कि ऐसे प्रयास लगातार होते रहने की जरूरत अब भी और भविष्य में भी बनी रहेगी।

जैन धर्म संसार के अति प्राचीन धर्मों में से एक है। इसका देश की नाना भाषाओं में लिखा गया प्राचीन वाङ्मय इतना महत्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। यह धर्म अपने दर्शन, पुरातत्व, आचार, संहिता, स्थापत्य कला एवं मूर्ति कला आदि के कारण दुनियां के धर्मों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

बौद्धों के धार्मिक साहित्य के अध्ययन से अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से पहिले का है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी यत्र तत्र जैन धर्म के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। कहना यह है कि अब तक जो अन्वेषण हुए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म बहुत वर्ष पुराना है और यही कारण है कि विवेचक विद्वान जैन तत्वों को जानने के लिए आज बड़े उत्सुक जान पड़ते हैं। उनकी उत्सुकता तृप्ति के लिए हमें ऐसे साधन जुटाने का प्रयत्न करना चाहिए जो आवश्यक एवं अनिवार्य हों।

जैन धर्म की महत्ता केवल उसकी प्राचीनता के कारण ही नहीं अपितु उसकी अनेक विशेषताओं के कारण आंकी जानी चाहिये। उसका स्याद्वाद (सापेक्ष दृष्टि) एक ऐसा सिद्धान्त है जिस की आज संसार के सम्पूर्ण धर्मों को ठीक परख कर उनका मूल्याङ्कन करने के लिए अत्यन्त जरूरत है। भगवती अहिंसा का सिद्धान्त भी आज के भयाक्रान्त, त्रस्त और पीड़ित मानव के लिए एक मृत्युंजय महौषधि है।

अपरिग्रह भी ऐसा ही सिद्धान्त है। जब तक व्यक्ति समाज तथा राष्ट्रों में संचय को लालसा बनी रहेगी जगत में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

इसमें कोई शक नहीं है कि ये तीनों सिद्धान्त आज की सभी समस्याओं के समाधान हैं। किन्तु यह मानने में हमें जरा भी संकोच नहीं होना चाहिये कि ये तीनों सिद्धान्त आज स्वयं जैनों के जीवन में भी सक्रिय नहीं हैं। अगर सक्रिय होते तो यह कहा जा सकता कि वे संख्या में थोड़े होने पर भी देश की अनेकानेक समस्याओं को हल करने में वड़े सहायक होते। दुःख है, कि आज वे भी घोर रूढ़िवादी हैं एवं अंध परम्पराओं के पुजारी बने रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं। उन्होंने कभी विवश होकर जो बुराइयां उधार ली थीं उन्हें आज भी छोड़ना नहीं चाहते। अफसोस तो यह है कि उन्होंने उन्हें ही धर्म मान लिया है। सचाई यह है कि आज जैनों के सामाजिक जीवन में धर्म के नाम मे कुछ ऐसी बुराइयां बैठी हुई दृष्टि गोचर हो रही हैं जिनका जैन धर्म से कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि जैनों के परवर्ती साहित्य में भी ऐसी बुराइयां विधि विहित एव समर्थित दीख पड़ती हैं।

कुछ ऐसी धार्मिक भ्रांतियां, मिथ्या विश्वास और संकीर्णतायें जैन जीवन में आ गई हैं जो सर्वथा असामाजिक एवं अराष्ट्रीय हैं। ऐसी चीजों का मूल जैन धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये जितनी जल्दी हमारे बाह्य और अभ्यन्तर जीवन से सदा के लिए पृथक हो जाय उतना ही हमारा भला है।

ये चीजें समाज से तब तक दूर नहीं हो सकतीं जब तक जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का परिचय लोगों को न कराया जाय। जो अंध विश्वास एवं गलत परम्परायें भारतीय समाजों में घर किये हुये हैं उन्हें दूर करना, प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है। और यह तभी हो सकता है जब विभिन्न धर्मों के सत् सिद्धान्तों का प्रचार किया जाय।

यह प्रसन्नता का विषय है कि कुछ अर्से से प्रति वर्ष हमारे देश में श्री महावीर जयन्ती का उत्सव उत्साह के साथ मनाया जाने लगा है। अधिकांश प्रान्तों मे इस अवसर पर सार्वजनिक अवकाश भी होता है। जैन व जैनेतर विद्वान इस उद्देश्य से किये जाने वाले आयोजनों में खुशी से भाग लेते हैं तथा भगवान महावीर एवं जैन धर्म के विषय में सब मिला कर लाखों श्रोताओं को अपने कीमती विचार सुनाते हैं। इन श्रोताओं को नैतिक जीवन की ओर बढते एवं उसे और भी समुन्नत बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है।

ऐसी प्रेरणाओं को बल देने तथा उनका स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ऐसी अनेकों स्मारिकाओं की आवश्यकता है। इस स्मारिका में भगवान महावीर-उनके दर्शन उनके तीर्थ, जैन साहित्य एवं जैन कला आदि के विषय में देश के अधिकारी विद्वानों एवं लेखकों ने लेख भेज कर जो हमें उत्साहित किया है, उसके लिए हम उनके बहुत बहुत कृतज्ञ हैं। उन्हीं की कृपा का फल है कि यह स्मारिका पाठकों के हाथों में पहुँच रही है।

राजस्थान जैन सभा को साधुवाद है कि उसने स्मारिका प्रकाशित करने का यह स्तुत्य कदम उठाया।

प्रिन्सिपल
जैन संस्कृत कालेज, जयपुर
१५ अप्रेल, १९६२

चैनसुखदास

प्रकाशकीय

राजस्थान जैन सभा जयपुर जैन समाज के उत्साही नवयुवकों का एक मात्र संगठन है। युवकों में जीवन, जागृति एवं स्फूर्ति उत्पन्न करने में इस सभा का प्रारंभ से ही योगदान रहा है। पर्यूषणपर्व, क्षमापण समारोह वीरनिर्वाणोत्सव और महावीर जयन्ती आदि के पावन अवसरों पर नाना-विध आयोजन कर जन मानस को धर्म एवं कर्त्तव्य की ओर आकृष्ट करना इसकी अनेक प्रगतियों में एक है।

राजस्थान विधान सभा में जो नग्न विरोधी बिल रखा था उसको वापिस कराने में इस सभा ने जो स्तुत्य कार्य कर उसमें सफलता प्राप्त की वह इस सभा के इतिहास में एक स्मरणीय अध्याय रहेगा।

पर्यूषण पर्व एवं महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष अधिकारी विद्वानों को आमंत्रित कर उनके भाषण कराना इस सभा की विशेषता है। जयन्ती के अवसरों पर जैनों के सभी संप्रदायों का सभा के आयोजनों में पूर्ण सहयोग रहा है।

इस सभा की स्थापना सन् १९५२ में हुई थी। तब से यह उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त प्रत्येक सामाजिक व धार्मिक समस्याओं को सुलझाने में दत्तचित्त रही है। जैनों के खासखास पर्वों पर अवकाश स्वीकृत कराने आदि में इसने यथा शक्ति जो प्रयत्न किया है यह सभी जानते हैं। समाज के कई अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, मृत्युभोज एवं अनेक असामाजिक कार्यों को रोकने के लिए किये गये सभा के प्रयासों की सभी विवेकियों ने प्रशंसा की है।

विगत वर्षों में अशक्त एवं असहाय छात्रों को शिक्षा प्राप्ति में सहायता दिलाने, बेकार व्यक्तियों को रोजगार दिलवाने नवयुवकों में जैन दर्शन एवं जैन सिद्धांतों के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करने में अपना सहयोग देकर सभा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में अग्रसर रही है।

यह सभा जो भी काम करती है उसमें भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सर्व धर्म समभाव, सर्वजीव समभाव और सर्वजाति समभाव के

महान सिद्धांतों को अपने सामने रखती है और समझती है कि जैन समाज की बौद्धिक, आर्थिक, शारीरिक और नैतिक उन्नति समूचे भारतीय राष्ट्र की पूरक है क्योंकि व्यक्ति से ही समाज और समाजों से ही राष्ट्र बनता है। कहने का आशय यह है कि सभा के सभी कार्य असांप्रदायिक भाव से होते हैं।

सभा का सदा से ही यह विचार रहा है कि कुछ आधुनिक मौलिक प्रकाशनों द्वारा भगवान महावीर के सर्वजीव हितकारी सिद्धांतों का प्रचार किया जाय। इसी लक्ष्य से सभा ने निर्णय किया कि एक महावीर जयन्ती स्मारिका नाम से ऐसी पुस्तिका प्रकाशित की जाय जिसमें अधिकारी विद्वानों के भगवान महावीर, जैन साहित्य, दर्शन और कला आदि विषयों पर लेख हों और इसके संपादन के लिए श्री चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ से प्रार्थना की जाय। प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकृत की और उसके फल स्वरूप आज भगवान महावीर की २५६०वीं पावन जयन्ती के परम पुनीत अवसर पर यह स्मारिका पाठकों के हाथों में पहुंच रही है। जैन सभा इसके लिये उनकी अत्यन्त कृतज्ञ है। सभा के सामने सदा ही आर्थिक कष्ट रहा है। यदि आर्थिक कष्ट की समस्या न हो तो इस प्रकार के अनेक प्रकाशनों की योजना बनाई जा सकती है।

स्मारिका के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने हमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जो भी सहयोग प्रदान किया है, उसके लिये हम उनके आभारी हैं। हम विशेष तौर पर उन सभी विज्ञापनदाताओं के भी कृतज्ञ हैं जिनकी सहायता के फलस्वरूप इस स्मारिका का प्रकाशन सम्भव हो सका।

हमें आशा है पाठक इस स्मारिका से लाभ उठा कर हमें आभारित करेंगे जिससे हमें भविष्य में स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती रहे।

रतनलाल छाबड़ा
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा

जयपुर
१५-४-६२

मंगल पाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।।

चत्तारि लोगुत्तमा । अरिहंता लोगुत्तमा । सिद्धालोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा । केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । अरिहंता सरणं पव्वज्जामि । सिद्धे सरणं पव्वज्जामि । साहू सरणं पव्वज्जामि । केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

चार मंगल हैं, मंगल अर्थात् अशुभ के विनाश का और शुभ के उत्पादक । अरिहंत मंगल है । सिद्ध मंगल है । साधु मंगल है और केवलि (तीर्थङ्कर) के द्वारा प्रज्ञिप्त (अथवा प्रतिपादित) धर्म मंगल है ।

चार उत्तम हैं । अरिहंत उत्तम है । सिद्ध उत्तम है । साधु (आचार्य, उपाध्याय, और साधक तपस्वी) उत्तम है और केवलि के द्वारा प्रतिपादित धर्म उत्तम है ।

मैं चारों के शरण जाता हूं । अरिहंतों के शरण जाता हूं । सिद्धों के शरण जाता हूं । साधुओं के शरण जाता हूं । तीर्थङ्कर के द्वारा प्रतिपादित धर्म के शरण जाता हूं ।

अपराजित महामन्त्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झयाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥ १ ॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण रूप से योग्य बन गये हैं अर्थात् जिन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय नामक चार कर्मों (महाविकारों) को जीत लिया है उन विश्व के समस्त अरिहंत परमेष्टियां (जीवन्मुक्त आत्माओं) को प्रणाम हो।

जिन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया है अर्थात् उक्त चार कर्मों के अतिरिक्त वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इस प्रकार सम्पूर्ण आठ कर्मों को जीतकर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरां के संपर्क से भी सदा के लिये मुक्त हो गये हैं उन संपूर्ण सिद्धात्माओं (सिद्ध परमेष्ठियों) को मेरा प्रणाम हो।

जो स्वयं दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार वीर्याचार नामक पांच आचारों से अनुप्राणित हैं और दूसरों को भी इन सदाचारों से अनुप्राणित करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं और किसी भी प्रकार की आत्मिक त्रुटि होने पर जो उसके शोधन के लिये प्रायश्चित दण्ड व्यवस्था करते हैं जो अपने संघ पर शासन करने के अपने महान उत्तरदायित्व को निभाते हैं उन सभी आचार्य परमेष्ठियों को मेरा प्रणाम हो ।

जो स्वयं ज्ञानाराधक होते हुए हैं और दूसरों के अज्ञान नाश करने के पुनीत कार्य में सतत् लगे रहते हैं । अर्थात् जो मानव मात्र के शिक्षक हैं उन उपाध्याय परमेष्ठियों को मेरा प्रणाम हो ।

जो निरन्तर आत्म साधना में लगे रहते हैं। जो अहिंसादि पंच महाव्रतों के धारण करने वाले हैं। जो इन्द्रिय विजेता हैं और पांच समितियों के पालन करने वाले हैं संसार के उन सभी साधुओं को मेरा प्रणाम है।

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

महावीर संदेश

जो प्राणों में था ओत प्रोत,
उस तमस्तोम का भेदन कर।
तुमने विवेक के नयनखोल,
जग को जीवन पथ बतलाया
कैसे जीना, कैसे मरना,
कैसे रहना इस दुनियां में।
तूफानों पर शासन करना,
कैसे, तुमने यह समझाया ॥

स्वात्मानुभूति के वारिद से,
बरसाया ज्ञानामृत अपार।
निर्द्वन्द्व किया सब सत्व वर्ग
मानव मानस का हर विकार
औ जन्म विरोधी जीवों को,
एकात्म-तत्त्व का पाठ पढा।
उत्ताप हीन कर वसुधा को
सिखलाया मानव धर्म सार ॥

नारी के बंधन खोल दिये,
शूद्रों को सन्मति दे बोले
तुम भी निर्वृति पा सकते हो,
पर शोधो अपने को पहले।
उन्मुक्त द्वार है उन्नति का,
रोके कोई कैसे भाई ?
मेरे जैसे हो तुम सब ही,
है सबने मानवता पाई ॥

सारे धर्मों का जीवन क्या ?–
है, एक अहिंसा परम तत्व।
उसका प्रेरक है किंतु सत्य,
जो जीवन निष्ठा का महत्त्व
है किंतु समन्वय में रहता,–
है निगमागम का निखिल मर्म।
लडते धर्मों को बतलाया,
तुमने सक्षम स्याद्वाद तत्त्व।

तुम सबकी भाषा में बोले,
मंगलमय, पावन प्राणदान–
मूकों को देकर, अमर हुए,
तब तेरी महिमा का वितान
फैला जग के कण-कण में है
भागे निशिचर माया के तब
ओखुला सत्य का रुद्ध द्वार
गाया सबने आनंद गान ॥

म्रियमाण धर्म को तुमने ही,
दी मृत्युंजय औषधि महान।
कर निर्विकार उसकी काया,
चिर जीवन का दे उसे दान।
पाखंडों में है धर्म कहां ?
वह तो केवल आत्माश्रित है।
यह दिव्य घोष फैला जग में,
तेरा है वीर दया निधान ॥
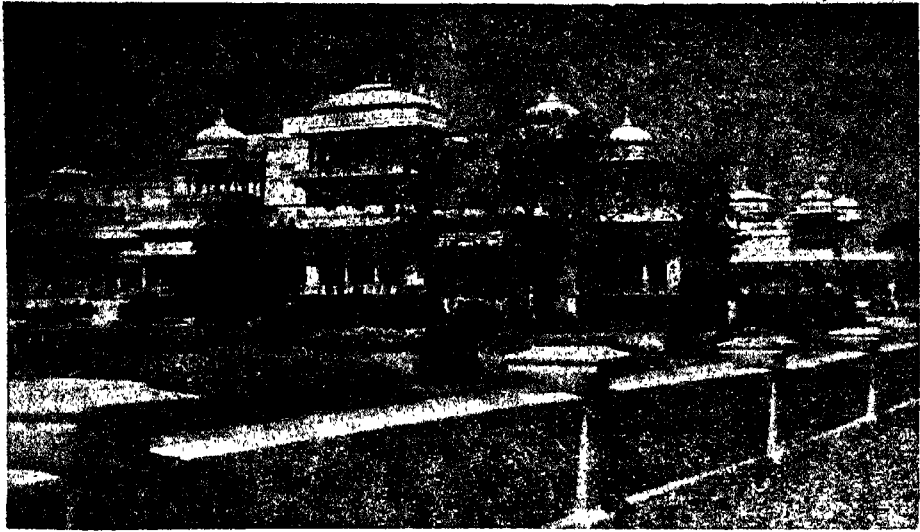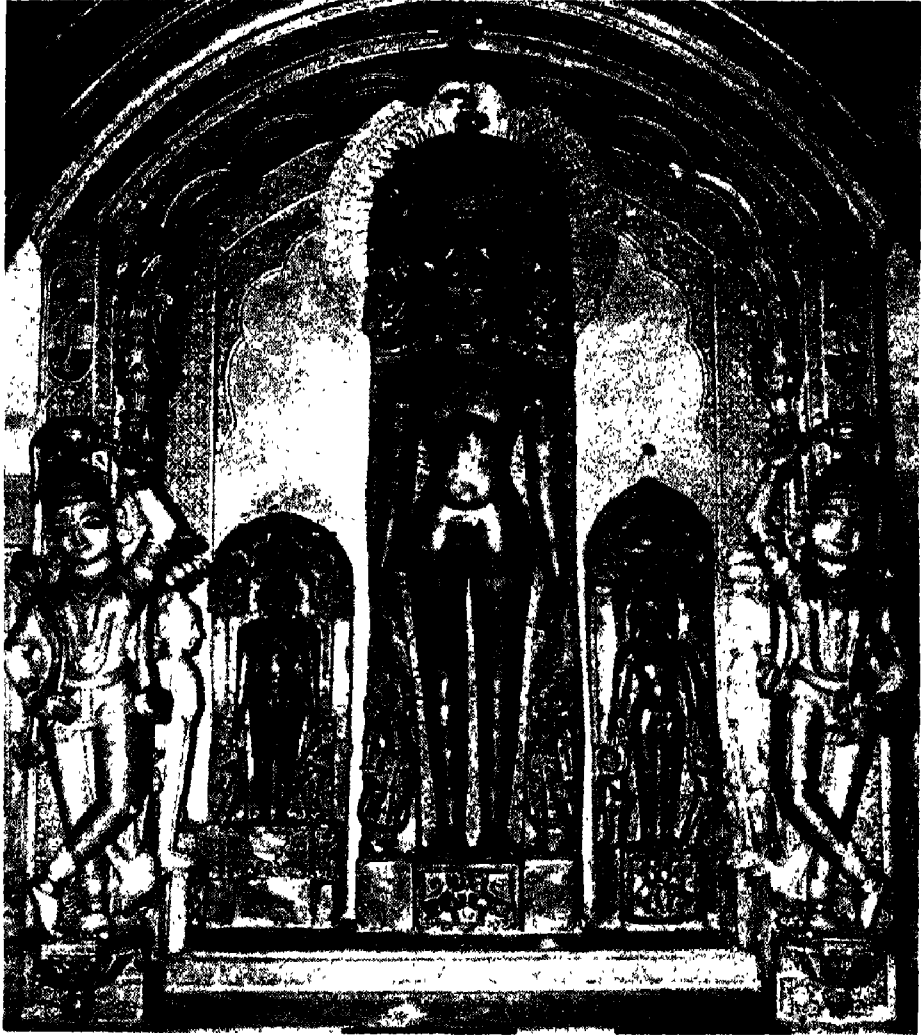
महावीर स्वामी के (कालाडेरा का मन्दिर, गोपालजी का रास्ता, जयपुर)
मन्दिर में भगवान महावीर की कलापूर्ण मूर्ति
यह मूर्ति सं. ११४७ की बनी हुई है

डा. ज्योतिप्रसाद जैन,
एम.ए., एल एल. बी., पी-एच. डी., लखनऊ

युग प्रवर्तक महावीर

महाभारतोत्तर काल का श्रमण पुनरुद्धार आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष को छठी शताब्दी ई० पू० में पहुँचा और उस समय उसके प्रमुख नेता चौबीसवें तीर्थङ्कर निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र वर्धमान महावीर थे। महावीर युग धार्मिक जगत में एक अद्भुत क्रान्ति, तत्वचिन्तन एवं दार्शनिकविचार बाहुल्य का युग था। भारतवर्ष में ही नहीं, समस्त सभ्य संसार में ज्ञान, जागृति एवं नवचेतना की लहर व्याप्त थी। चीन में कनफ्युशस और लाओत्से, ईरान में जरथुश्त, फिलस्तीन में मूसा, यूनान में पैथेगोरस आदि अनेक प्रख्यात विचारक, दार्शनिक अथवा धर्मप्रवर्तक तत्कालीन सभ्य संसार के विभिन्न भागों में अपने अपने धर्म अथवा विचारों का प्रचार कर रहे थे और जनसाधारण को ज्ञान दान कर रहे थे। इन सब के उपदेशों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि मानव के महत्व एवं व्यक्तिगत सदाचार पर अधिक बल दिया जाता था, जो कि श्रमण संस्कृति की जन्मजात विशेषताएँ थीं।

स्वयं भारतवर्ष में श्वेतकेतु, उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि पूर्वी ब्राह्मण ऋषि और जनक, प्रवाहण जैवालि आदि क्षत्रिय विद्वान औपनिषदिक अध्यात्मवाद का प्रचार कर रहे थे। पश्चिमी क्रियाकाण्डी ऋषि गृह्य श्रौत एवं धर्म भेदों से सूत्र साहित्य की रचना कर रहे थे। वेदों की संहिताएँ बन रही थीं और उन पर नियुंक्त आदि टीकाएं रची जा रही थीं। साथ ही कपिल कणाद, गौतम, जैमिनी आदि विद्वान् सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा आदि षड्दर्शनों का विकास कर रहे थे। वानप्रस्थ आश्रम एवं प्रव्रज्या का तथा ज्ञान-साधना, तपश्चर्या और तत्वचिन्तन का प्रसार वेदानुयायी समाज में भी बढ़ रहा था।

> इस युग के महापुरुषों में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बौद्धधर्म के प्रवर्तक गौतमबुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन वर्धमान महावीर का था। बुद्ध स्वयं उनके तेज से प्रभावित थे और उनका समादर करते थे। महावीर के धर्मचक्र प्रवर्तन के साथ ही सब पर यह स्पष्ट हो गया कि श्रमण परम्परा में जिस अन्तिम तीर्थङ्कर के होने की अनुश्रुति थी वह वर्धमान महावीर ही थे।

दूसरी ओर, श्रमण परम्परा में यह लोकानुश्रुति जोरों पर थी कि इस काल में अन्तिम तीर्थङ्कर के रूप में एक युगपुरुष जन्म लेने वाला है। अतएव उक्त परंपरा के अनेक विचारक एवं सुधारक अपने आपको तीर्थङ्कर घोषित करके अपने अपने मन्तव्यों का जनता में प्रचार करने लगे। मक्खलिगोशाल, पूरणकाश्यप, पकुधकात्यायन, अजितकेशकम्बलिन, संजयवेलट्ठिपुत्त, शाक्यमुनि-गौतमबुद्ध, निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्रमहावीर आदि अनेक व्यक्तियों ने अन्तिम तीर्थङ्कर होने का दावा किया। बौद्ध अनुश्रुति में स्वयं बुद्ध को छोड़कर उक्त छः तत्कालीन तीर्थंकरो का उल्लेख है। जैन अनुश्रुति में भी इन विभिन्न एकान्ती विचारकों का उल्लेख पाया जाता है। उससे तो यह भी पता चलता है कि उस काल में छोटे बड़े सब मिलाकर तीनसौ-त्रेसठ पाषंड या धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित थे या हो रहे थे, जिनमें उपर्युल्लिखित ब्राह्मण एवं श्रमण विचारकों के मत प्रमुख थे। सदाचार की इस प्रबल लहर की प्रतिक्रिया के रूप में उच्छृङ्खल एवं नास्तिक चार्वाक मत जैसे कतिपय वाम मार्गों का प्रचार भी उस काल में हुआ।

इस युग के महापुरुषों में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बौद्धधर्म प्रवर्तक गौतमबुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन वर्धमान महावीर का था। बुद्ध स्वयं उनके तेज से प्रभावित थे और उनका समादर करते थे। महावीर के धर्मचक्र प्रवर्तन के साथ ही सब पर यह स्पष्ट हो गया

कि श्रमण परम्परा में जिस अन्तिम तीर्थङ्कर के होने की अनुश्रुति थी वह वर्धमान महावीर ही थे । ऋषभादि पार्श्वनाथ पर्यन्त श्रमण परम्परा के जो तेईस तीर्थङ्कर अतीतकाल में हो चुके थे उन्हीं की परम्परा में उसी अहिंसामयी अरहंत धर्म अथवा आत्मधर्म का पुन: उद्धार, संस्कार एवं प्रचार करने के लिये अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का जन्म हुआ था । उन्होंने न किसी नवीन धर्म का प्रचार करने का दावा किया, न कोई नवीन मार्ग खोज निकाला । उन्होंने किसी देवी-देवता, दैवी अथवा गुप्त (या ग़ैबी) शक्ति का भी आश्रय नहीं लिया और किसी राजा महाराजा की सहायता भी नहीं चाही । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि उन्होने एक सामान्य मनुष्य के रूप में जन्म लिया था और एक सामान्य संसारी व्यक्ति के रूप में ही बाल्यावस्था एवं कुमार काल व्यतीत किये थे, किन्तु स्वपुरुषार्थ और आत्म साधन द्वारा उन्होंने अपनी आत्मा को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया था । उन्होंने आत्मकल्याण के चिर प्रचलित एवं तीर्थङ्करों द्वारा प्रणीत मार्ग का स्वयं अपने जीवन में शुद्धतम एवं श्रेष्ठतम रूप से अवलम्बन करके उक्त मार्ग का औचित्य चरितार्थ कर दिखाया था और सर्वसत्व-हित-सुखाय उस मार्ग का जीवमात्र को अथक उपदेश दिया था । यही महावीर की सबसे बड़ी विशेषता थी और इसी के कारण विश्व के महापुरुषों के उस महायुग में भी वे अपना विशिष्ट स्थान रखते थे । आज भी न केवल वे जैनधर्म के इतिहास के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं वरन प्राचीन भारत के इतिहास में तथा विश्व के धर्मों के इतिहास में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है । जैनधर्म का तो जो कुछ वर्तमान रूप है तथा उसके विगत अढ़ाई सहस्त्र वर्षों का जो कुछ इतिहास एवं संस्कृति है, उस सबका सर्वाधिक श्रेय अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर को ही है ।

उस सार्वकालीन महापुरुष की जयन्ति स्मारिका का वर्तमान विश्व के जीवन संघर्ष रत मानवों के लिये सबसे बड़ा सन्देश यही है कि—'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' ।

कहं चरे ? कहं चट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ?
(भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे कि पाप कर्म का बन्ध न हो)
जयं चरे जयं चट्ठे जयमासे जयं सए !
जयं भुजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ !!
(आयुष्मन् ! विवेक से चलो; विवेक से खड़ा हो; विवेक से बैठे; विवेक से सोए; विवेक से भोजन करे और विवेक से ही बोले तो पाप कर्म नहीं बंध सकता)

डा. प्रेमसागर जैन
एम. ए., पी. एच. डी., बड़ौत

भगवान महावीर और उनके समकालीन जैन साधक

> अहिंसा का जैसा समूचापन महावीर की दिव्यवाणी में प्रस्फुटित हुआ, वैसा कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि बौद्ध भिक्षु अहिंसा के अनुयायी थे पर वे आगे चल कर मांसाहार को उचित मानने लगे। मांसाहारी देशों में बौद्ध धर्म के द्रुतगति से फैलने का कारण भी यह ही था। महावीर ने अहिंसा को ही आध्यात्मिक साधना माना। उन्होंने कोरे सत्य को कभी स्वीकार नहीं किया।

महावीर एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका महात्मा गौतमबुद्ध से पृथक्त्व प्रमाणित हो चुका है। कभी दोनों को एक ही समझ लिया गया था। यह भ्रम पाश्चात्य विद्वानों ने उत्पन्न किया था। निराकरण भी उन्हीं ने किया। सबसे प्रथम प्रो० जैकोबी और डा० ल्युमान ने जैन आगम सूत्रों के आधार पर सिद्ध किया कि महावीर बुद्ध से पृथक ही नहीं अपितु उनसे कुछ वर्ष बड़े भी थे। डा० ल्युमान ने लिखा कि महावीर को तीर्थङ्कर संज्ञा वैसी ही निराली है, जैसी बुद्ध की तथागत।[1]

फिर भारतीय विद्वानों का प्रयास भी प्रारम्भ हुआ। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने खारवेल का शिलालेख १६ वर्ष में पढ़ा। उसमें लिखा है, "वधमान से स यो वे (व) नाभि विजयो", अर्थात बचपन में खारवेल का सौन्दर्य महावीर जैसा था। खारवेल कलिङ्ग का राजा था और मगध से जिनमूर्ति जीतने के उपरान्त उसने यह शिलालेख उत्कीर्ण करवाया था। इसका समय ईसा से १७० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे भी पूर्व का एक और प्रमाण उपलब्ध हुआ है। वह है बडली (राजस्थान) से प्राप्त एक शिलालेख। उसमें लिखा है, "विराय भगवत् ८४ चतुरासिति वस — — — — झाये सालिमालिनीयर निविठ मज्झिमिके।" अर्थात भगवान महावीर के लिए ८४ वें वर्ष में मध्यमिका में सालिमालिनि।" डा० जायसवाल ने इसका उत्कीर्ण काल ३७४ ई० पूर्व माना है।[2] मथुरा के कंकाली टीले की खुदाइयों में अनेक ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जो ईसवी पूर्व प्रथम शती के हैं। जहां तक मूर्तियों का संबंध है वह सबसे प्राचीन ५३ ई० पूर्व है, जो कनिष्ठ के राज्य काल में रची गई थी। यह मथुरा की खुदाइयों में प्राप्त हुई है। जैन स्तूप और मूर्तियां भगवान पार्श्वनाथ के समय में ही बनने लगी थीं।[3] मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से तो अब मूर्तिकला का इतिहास बहुत पीछे तक चला जाता है। मोहनजोदड़ो की मूर्तियों में से एक पर डा० प्राणनाथ ने 'श्री जिनाय नमः' पढ़ा है।

पुरातत्व के अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थ भी महावीर के पुनीत अस्तित्व को प्रमाणित करने में सहायक हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद में महावीर का उल्लेख है। मज्झिमनिकाय, न्यायबिन्दु, अंगुत्तरनिकाय, संयुक्तनिकाय और सामागम सुत्त आदि बौद्ध ग्रन्थों में महावीर की प्रशंसा की गई है। षटखण्डागम सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृतांग सूत्र, जयधवल और नन्दी सूत्र आदि प्राचीन जैन सूत्र ग्रन्थों में महावीर की वन्दना में अनेक पद्यों का निर्माण हुआ है। महावीर का भक्तिपरक जैन साहित्य तो विपुल है। महावीर की सबसे प्राचीन स्तुति दूसरे अंग सूत्रकृतांग में उपलब्ध है। इसके पश्चात् आचार्य समन्तभद्र की वीर स्तुति हृदयग्राही है। उसके बाद तो संस्कृत, अप-

१. बुद्ध अने महावीर, पूना, पृ० १२
२. जर्नल आव दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६ पृ० १६७
३. मदनमोहन नागर, मथुरा का जैन स्तूप और मूर्तियां, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २८०

भ्रंश और हिन्दी में रचा गया वीर परक जैन साहित्य इतना अधिक है कि 'महावीर और उनकी भक्ति' लेकर एक शोध प्रबन्ध ही लिखा जा सकता है। महावीर केवल जैन समाज के ही नहीं, अपितु समूची भारतीय चेतना के प्रेरणा सूत्र रहे हैं। भारतीय संस्कृति की पावनता महावीर की देन है।

जैन आगम सूत्रों में महावीर का जीवन चरित्र बहुत कुछ सुरक्षित है। उनमें भी पंचमांग भगवती या विवाह प्रज्ञप्ति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उसमें भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री संकलित है। विशेषता है कि गोशालक का वर्णन करते हुए भगवान ने अपने मुँह से अपनी आत्म कथा कही है।[1] इसी अंग में भगवान के समकालीन अनेक व्यक्तियों का वर्णन है। इसी भांति पहले अंग आचारांग में भगवान के साधक जीवन का विषद विवेचन है। अभी तक इन अंगों की खोज बीन कर महावीर के जीवन सूत्रों से कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया, कैसे आश्चर्य की बात है। अब एक ग्रन्थ विजयेन्द्रसूरि का 'तीर्थङ्कर महावीर' यशोधर्म मन्दिर, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ का केवल प्रथम भाग है। अभी उसके अन्य भाग भी प्रकाशित होंगे। विद्वान लेखक ने साधना की है और उसका यह परिणाम है। इसके पूर्व भी अनेक प्रयास हुए हैं, किन्तु वे नगण्य ही हैं।

जीवन चरित्र

महावीर के समय को लेकर कोई विवाद नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही ग्रन्थों के अनुसार महावीर का जन्म ईस्वी पूर्व ५९८ में और निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में हुआ था। निर्वाण को लेकर कल्पसूत्र और उत्तरपुराण में यत्किंचित् अन्तर है। कल्पसूत्र के अनुसार महावीर पूर्ण ७२ वर्ष जीवित रहे, जबकि उत्तरपुराण में उन्हें ७१ वर्ष और कुछ माह का लिखा है। इसका प्रामाणिक विवेचन इस लेख का विषय नहीं है। अन्य विद्वान उस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। इस विषय में धवलाटीका, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, तपागच्छ और नन्दीसंघ की पट्टावली आदि दिगम्बर ग्रन्थों को भी पढ़ना होगा। इस विषय में बौद्ध ग्रन्थों का सहाय्य महत्त्वपूर्ण होगा। प्रस्तुत लेख के लिये तो इतना पर्याप्त है कि महावीर का जन्म ५९८ ई० पूर्व और निर्वाण ५२७ ई० पूर्व हुआ।

महावीर का जीवन चरित्र सभी ग्रन्थों में समान रूप से वर्णित है। कहीं कहीं थोड़ा बहुत भेद पाया जाता है, जो नगण्य सा ही है। महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्ड ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। चेटक की ही दूसरी पुत्री चेलना थी, जिसका परिणय मगध के सम्राट बिम्बसार के साथ हुआ था। क्षत्रिय कुण्ड ग्राम वैशाली का ही एक भाग था। महावीर को 'वैसालिय' कहा जाता है।[2] वे ज्ञातृकुल में जन्मे थे। उन्हे 'नातपुत्त' कहते हैं। उनका जन्म निर्ग्रन्थ परम्परा में हुआ था। उनके माता-पिता २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के धर्म को मानते थे। वे प्रति दिन एक पार्श्व चैत्य में वंदना के लिये भी जाया करते थे। पहले जैन साधुओं को निर्ग्रन्थ ही कहा जाता था। महावीर के लिये 'निगण्ठ' शब्द का शताधिक बार प्रयोग हुआ है। गौतमबुद्ध उन्हें 'निगण्ठनातपुत्त' कहा करते थे।[3]

जैन पुराणों, चरित्रों, कथा-ग्रन्थों और स्तुति-स्तोत्रों में महावीर के पंचकल्याणकों का भक्ति परक विवेचन हुआ है। तीसरे तप-कल्याण के प्रारम्भ में जैन तीर्थंकर वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। प्रत्येक तीर्थङ्कर का अपना एक विशेष संयोग है, जिससे उसकी मानस धारा वीतरागी दीक्षा की ओर मुड़ती है। सम्राट ऋषभदेव के दरबार में नीलांजना नाम की एक अप्सरा नृत्य करते करते ही दिवंगत हो गई। जीवन की इस क्षण भंगुरता

१. इसकी तुलना पब्बज्जा-सुत्त [सुत्तनिपात] में वर्णित बुद्ध की आत्मकथा से की जा सकती है।
२. 'अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि' सूत्रकृताङ्ग सूत्र, २।३
३. धम्मपदट्ठ कथा, जिल्द तीसरी, पालिटेक्स्ट सोसाइटी, पृ० ४८६

से युवा ऋषभदेव के हृदय में वैराग्य का संचार हुआ। दुल्हा के वेश में सजे नेमिनाथ दीन पशुओं की करुण पुकार से वीतरागता की ओर झुके। विश्व की अनिंद्य सुन्दरी राजीमती से विवाह नहीं किया। एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में ये बाह्य प्रसंग एक व्यक्ति के जीवन को तभी परिवर्तित कर पाते हैं, जब उसमें 'असंयोजित प्रसंग' के अनुकूल प्रबल संस्कार रहा हो। भले ही जैन तीर्थंकरों का बाल और यौवन वैभव-सम्पन्न वातावरण में बीता हो, किन्तु वीतरागता उन्हें पूर्व संस्कार के रूप में प्राप्त हुई थी। वीतरागता उनके खून में व्याप्त थी। महावीर का वैराग्य किसी बाह्य—प्रसंग पर नहीं, अपितु उनके अपने अध्ययन और चिंतन पर आधारित था। उनके पूर्व जन्म की अनुभूतियां उभरी और उन्होंने अपने माता-पिता से दीक्षा के लिये अनुमति चाही। दो वर्ष तक उनकी और उनके माता-पिता की इच्छा-शक्तियों में संघर्ष चलता रहा। जीत महावीर की हुई और वे सब की खुशियों के बीच तप करने चले गये। वे संसार से भागे नहीं, डरे नहीं। उन्होने कुछ को छोड़ा सब को पाने के लिये।। अपने को पाये बिना सबको नहीं पाया जा सकता, अत: उन्होंने अपने को पाने का प्रयास किया। उनका प्रयास आध्यात्मिक था। आध्यामिक साधना का अर्थ है सत्य और अहिंसा। कोरा सत्य नहीं, कोरी अहिंसा नहीं। इनमें से एक पर किया गया आग्रह एकांगी हो सकता है, अत: महावीर ने समन्वयात्मक पथ का उद्योतन किया। गान्धी ने भी इस रहस्य को समझा था। अन्यथा उनके सत्याग्रह का रचनात्मक रूप अहिंसक कैसे होता। इस साधना से महावीर ने अपने को पाया और उसके साथ ही विश्व को। उनकी चेतना ने विश्व व्यापी रूप धारण किया।

केवल ज्ञान

महावीर के हृदय में तप की सोई भावना जाग्रत हुई और उन्होंने वीतरागी दीक्षा धारण कर ली। वीतरागी दीक्षा परम्परा से चली आ रही थी। उसका एक प्रशस्त मार्ग था। महावीर के पूर्व २३ तीर्थंकर उसे धारण कर चुके थे। साधना-पथ को लेकर महावीर के हृदय में भटकाव नहीं था। उन्होंने जिस मार्ग को अपनाया, उस पर उनका पूर्ण विश्वास था, श्रद्धा थी। इसलिये उनके कदम मजबूत थे। साधना भी मजबूत हुई। उन्होंने १२ वर्ष की सतत् साधना से ऋजुकूला नदी[1] के तट पर केवलज्ञान प्राप्त किया। इसी को उपनिषदों की भाषा में 'कैवल्यपद' कहते हैं।

केवलज्ञान का अर्थ है सर्वसत्व। बुद्ध ने महावीर के सर्वसत्व को स्वीकार किया था। मज्झिमनिकाय से ऐसा सिद्ध है[2]। सर्वसत्व सदैव महावीर के साथ रहता था। वह आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा से उत्पन्न हुआ था। दूसरी ओर बोधि की व्याख्या करते हुए मिलिन्दपण्ह में लिखा है, "गौतम की सर्वसत्ता सदैव उनके पास नहीं रहती थी, अपितु उनके विचार करने पर अवलम्बित थी।"[3] कुछ भी हो महावीर के सर्वसत्व और उनकी दिव्यवाणी का बुद्ध की ख्याति पर प्रभाव पड़ा था। बुद्ध के जीवन की ५० वर्ष से ७० वर्ष तक की आयु की घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इसका एकमात्र कारण महावीर की वृहद्रुत ख्याति थी। यह कथन 'पासादिक सुतन्त' से और भी स्पष्ट हो जाता है। उसमें लिखा है कि बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द को जब पावा के चण्ड के द्वारा महावीर के निर्वाण की सूचना मिली, तो उसने तुरन्त ही इस समाचार को तथागत के समक्ष उपस्थित

---

१. ऋजुकूला नदी का तट जहां भगवान को केवल ज्ञान की उत्पत्ति हुई, आजकल बिहार-उड़ीसा के अन्तर्गत माना जाता है। कहा जाता है कि बाराकर नदी ऋजुकूला थी। खोज की आवश्यकता है।

२. देखिए चूल दुक्खक्खन्ध—सुत्तन्त (मज्झिम. १।२।४) तथा चूल सुकुलदायि—सुत्तन्त (मज्झिम. २।३।६)

३. मिलिन्दपण्ह (S. B. E.) भाग ३५ वां, पृ० १५४

करने योग्य समझा ।

अहिंसा का जैसा समूचापन महावीर की दिव्यवाणी में प्रस्फुटित हुआ, वैसा कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि बौद्ध भिक्षु अहिंसा के अनुयायी थे पर वे आगे चल कर मांसाहार को उचित मानने लगे। मांसाहारी देशों में बौद्ध धर्म के द्रुतगति से फैलने का कारण भी यह ही था। महावीर ने अहिंसा को ही आध्यात्मिक साधना माना। उन्होंने कोरे सत्य को कभी स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि के अनुसार अहिंसा की यत्किंचित् भी कमी सत्य को अहंकार से भर देती है। उन्होंने दोनों के समन्वय पर जोर दिया। महात्मा गान्धी ने इसको समझा था। इसी कारण उनके 'सत्याग्रह' में सत्य का आग्रह केवल शाब्दिक रहा, रचनात्मक रूप में सत्य के साथ अहिंसा को प्रमुखता मिली है। महावीर ने अपनी दिव्य-वाणी में अहिंसा को प्रेम कहा हैं। वास्तव में उनकी आध्यात्मिक साधना प्रेमसाधना ही थी। इसी आधार पर जैन आचार्य 'सत्वेषुमैत्री' वाला गीत गा सके। और इसी प्रेम रूप के सहारे भक्तों के दिल टिके रहे।

असंख्य भक्ति साहित्य

महावीर मोक्षगामी थे। वे संसार के कर्त्ता–धर्त्ता नहीं, अच्छे–बुरे के दाता–प्रदाता नहीं, फिर भी उनको लेकर असीम भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ। असंख्य मूर्तियां रची गईं, असंख्य मन्दिर और चैत्य बने। महावीर भले ही कुछ न करते हों, कुछ न देते हों, किन्तु उनका व्यक्तित्व प्रेम के ऐसे धागों से बुना गया था, जो मौन रहते हुए भी प्रेम की प्रेरणा देता रहा। भक्त भगवान की मुक्ति में जा बिराजने के लिये उपालम्भ भी देता रहा और प्रेरणा भी पाता रहा। "तुम प्रभु कहियत दीन-दयाल। आपन जाय मुकति में बैठे हम जु रुलत इह जग-जाल।" कहने वाला ही भक्त कवि, "मेंढक हीन किए अमरेसुर, दान सबै मनवांछित पाए। द्यानत आज लौ ताहीं को मारग सारग है सुख होत सवाए।।" गा सका जिसके दर्शन मात्र से ही हीन मेंढक तर सका हो, वह भगवान अवश्य ही जीव-मात्र के लिये प्रेम का प्रतीक होगा। उसकी उदारता का विस्तार विश्वव्यापी बन सका होगा। उसका अहं अहंकार नहीं, अपितु विश्व-अहं में परिणित हो सका होगा।

भाव शुद्धि पर बल

महावीर ने सदैव भावशुद्धि पर बल दिया। नग्नता भावशुद्धि का एक आवश्यक साधन मात्र है, किन्तु नग्न होने से कोई समूचे रूप में शुद्ध ही हो जायेगा, यह अनिवार्य नहीं है। इसी कारण अनेक जीव मुनि-पद धारण करके भी भव समुद्र में तर न सके। उस समय दिगम्बरत्व साधु का चिन्ह था। इतिहास से सिद्ध है कि उस समय के आजीवक साधु भी नग्न रहते थे। महावीर भी नग्न बने। किन्तु उन्होंने गेरुआ वस्त्रों की भांति नग्नता को साधुत्व का 'फैशन' नहीं बनने दिया। 'फैशन' कैसा ही हो भावशुद्धि में बाधक बनता है। आगे चल कर हिन्दी के सन्त कवियों ने जिन बाह्याडम्बरों का विरोध किया, उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व महावीर ने साधु के सभी वेशों का निराकरण करते हुए केवल भावों की पावनता को ही प्रमुखता दी थी। आगे चल कर दिगम्बर साधुओं के क्रिया-काण्ड भी इतने बढ़े कि उन पर मोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना हुई। महावीर के दिगम्बर जीवन में उनका कोई मूल्य नहीं था। महावीर को कई दिनों से आहार नहीं मिला था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि कुंआरी, जंजीरों में जकड़ी और रोती हुई कन्या के हाथों आहार लेंगे। एक दिन उधर से निकले, जहां चन्दना को कैद करके रक्खा गया था। वह रो रही थी, उसके आगे कैदी का खाना रक्खा था। उसने जंजीरों से जकड़ी दशा में ही भगवान को भोजन के लिये आमंत्रित किया। उन्होंने स्वीकार किया और कैदखाने के सींकचों के बाहर, संकरी सी गली में खड़े होकर वह कैदियों वाला भोजन ले लिया। महावीर सभी प्रकार के क्रिया काण्डों से नितांत दूर थे।

महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। इतिहास ने उनके अस्तित्व को मान लिया है। उनका युग चला आ रहा था। उन्हीं के नाम पर वीतरागी साधु जैन दीक्षा ले रहे थे। मैं पिछले पृष्ठों पर मुनि पिहिताश्रव का नाम ले चुका हूं। वे पार्श्वनाथाम्नायी थे। उन्हीं से बुद्ध ने दीक्षा ली थी। इन

साधुओं में गोशालक का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। उसका पूरा नाम था मंखलिगोशाल। आचार्य देवसेन के दर्शनसार में मंखलिगोशाल और पूरणकाश्यप का एक साथ उल्लेख हुआ है। दिगम्बर ग्रन्थ दोनों को एक मानते हैं। दोनों ही आजीविक मत के नेता थे। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वे भिन्न दो व्यक्ति थे। अन्त में दोनों के मत सादृश्य ने दोनों को एक कर दिया था। इसी कारण जैन परम्परा दोनों को एक मानती रही।

मंखलि गोशाल और पूरणकाश्यप महावीर से उम्र में बड़े थे। जैन साधु थे। उन्होंने जैन पूर्व ग्रन्थों के आधार पर जैन धर्म को समझने का प्रयास किया था। वे उसके मर्म को समझ न सके। मंत्र और ज्योतिष ने भी बाधा पहुँचायी। गोमट्टसार और सूत्रकृतांग सूत्र में उनके मत को अज्ञान मत कहा गया है। वैसे आजीविक नाम भी जैनत्व का द्योतक है। किसी भी प्रकार की जीविका से पृथक रहने को आजीविक कहते हैं। यह जैनों के त्याग और अपरिग्रह पर निर्भर रहना चाहिये था। किन्तु आजीविक साधु मन्त्र और ज्योतिष के बल पर जीविका भी कमाने लगे। इस धर्म के पतन का यह ही एक मात्र कारण है। आजीविक सम्प्रदाय पर डा० बरुआ ने 'आजीविस' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। उन्होंने भी ऐसी ही मान्यता अभिव्यक्त की है।

भगवान महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। उनका समवसरण रचा गया। मंखलि गोशाल पहुंचा। वह समझता था कि एक पुराने जैन साधु होने के नाते उसे ही गणधर बनाया जायगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इन्द्रभूति गौतम को गणधर बनाया गया। गोशाल रुष्ट और मन्त्राहत नाग की भांति श्रावस्ती चला गया। वहां उसने अपने को सर्वज्ञ घोषित किया। सभी आजीविक उसे सर्वज्ञ मान उठे। जब महावीर का समवसरण श्रावस्ती पहुंचा, तो अधिकांश आजीविक महावीर के साथ हो गये। दर्शनसार में ऐसे ही एक आजीविक शब्दाल पुत्र का जिक्र आया है। वह कुम्हार था, भारत का प्रसिद्ध शिल्पी। उसने मिट्टी के बर्तनों से ही तीन करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें कमाई थीं। एक दिन उसने सुना कि पलाशपुर में सर्वज्ञप्रभु आयेंगे, तो उसने समझा कि उसके गुरु गोशाल आयेंगे। आये महावीर। उनके धर्मोपदेश से वह वास्तविकता को समझ सका। उनके धर्म में दीक्षित हो गया। उसका दुर्द्धर्ष तप प्रसिद्ध है।

कुछ ऐसे जैन साधक थे जिनकी महावीर ने स्वयं प्रशंसा की है। उनमें धन्यकुमार कानाम सर्वोपरि है। वह काकन्दी का श्रेष्ठि पुत्र था। घोर तप के कारण उसमें हड्डियां भर अवशिष्ट रह गई थीं। मगध नरेश श्रेणिक ने भगवान से उनके १४ हजार शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ साधक पूछा, तो उन्होंने 'धन्ना अणगार' का नाम लिया। दूसरा साधक, जिसकी प्रशंसा भगवान ने की 'कामदेव-श्रावक' था। उसका उल्लेख 'दशांगसूत्र' में आया है। वह चम्पा निवासी था। एक बार भगवान का विहार चम्पा में हुआ। कामदेव ने श्रावक की दशा में ही भगवान के द्वारा उपदिष्ट साधना प्रारम्भ की। एक रात्रि को एक देव के द्वारा घोर उपसर्ग आने पर भी कामदेव विचलित न हुआ। भगवान ने अपने समवसरण में उसकी प्रशंसा करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमणों से उपसर्ग सहन करने का उपदेश दिया। उन्होंने कामदेव श्रावक का उदाहरण उपस्थित किया। तीसरी थी साधिका सुलसा। वह एक गांव में रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ही वीतरागी साधना में तल्लीन रहती थी। भगवान ने अम्बड श्रावक के द्वारा उसको धर्म-लाभ कहलवाया था। इससे स्पष्ट है कि भगवान उसके प्रशंसक थे।[1]

जीवंधर की गणना प्रसिद्ध जैन साधकों में थी। जीवंधर हेमांगद देश के सम्राट थे। उसकी राजधानी राजपुरी थी। हेमांगद अपनी स्वर्ण की खानों के लिए प्रसिद्ध था। बाल्यावस्था में जीवंधर ने आर्यनन्दि नाम के एक जैनाचार्य के पास शिक्षा प्राप्त की थी। आर्यनन्दि ने शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा दी थी। जीवंधर के शस्त्र–कौशल ने उन्हें राज्य दिलवाया और शास्त्र नैपुण्य

१. देखिए अगरचन्द नाहटा का लेख 'महावीर द्वारा प्रशंसित तीन व्यक्ति' अहिंसावाणी, अप्रेल १९६१, पृ० १४०

ने वीतरागी भावनाओं के अंकुर को पनपाया। एक दिन महावीर के पास जाकर दीक्षा ले ली। राजा श्रेणिक ने महावीर के समवसरण के बाहर पर्णवृक्ष के नीचे जिस तेजस्वी मुनि को तप-निरत देखा था, वे मुनि जीवंधर ही थे। वे श्रुतज्ञान के धारी थे और महावीर के साथ ही उनका भी निर्वाण होना था। वे इतिहास में वीर श्रमण जीवंधर के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

भगवान महावीर का समवसरण प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु देवगण विमानों में उड़ते हुए, समवसरण में न आकर कहीं अन्यत्र चले जा रहे थे। यह एक आश्चर्य का विषय था। किसी ने भगवान से इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा कि महाराज जितारि का निर्वाण हुआ है, ये उनका निर्वाणोत्सव मनाने जा रहे हैं।[2] महाराज जितारि या जितशत्रु कलिङ्ग के सम्राट थे और रिश्ते में महावीर के फूफा लगते थे। उनका निर्वाण खण्डगिरि में हुआ था। तभी से यह सिद्धि क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध है। सम्राट खारवेल (ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी) के शिलालेख में इसको 'अर्हत्‌निषिद्या' कहा गया है। इस विषय में बाबू छोटेलालजी के अन्वेषण का एक उद्धरण देखिए, "अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के फूफा कलिंगाधिपति महाराज जितशत्रु या जितारि का निर्वाण मेरे अनुमान से खण्डगिरि में ही हुआ था। और उन्हीं के सम्बन्ध से यह सिद्धिक्षेत्र हो जाने के कारण सहस्त्रों निर्ग्रन्थ मुनियो ने इस स्थान को तपोभूमि बनाया था। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी में होने वाले कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल ने भी अपना अन्तिम साधु जीवन यहां ही व्यतीत किया था।"[3] सम्राट खारवेल ने अपना प्रसिद्ध शिला लेख इसी गुफा में क्यों उत्कीर्ण करवाया? इस पर बाबूजी का पुरातात्विक विवेचन इस प्रकार है, "मेरे अनुमान से उपर्युक्त श्री जितारि मुनि ने इसी हाथी गुफा में तपश्चरण करते हुए निर्वाण प्राप्त किया था और उसे तीर्थ बनाया था, जिससे वहाँ हजारों यात्री वन्दना के लिये और हजारों मुनि तपश्चरण के लिये सैकड़ों वर्षों से आते रहे हैं। अतः विशेष प्रचार की दृष्टि से और शिलालेख की अपनी विशिष्टता के कारण उसे इस महत्वपूर्ण स्थान में अंकित किया गया है। अन्यथा महाराज खारवेल ने अपनी अग्रमहिषी के लिये उसी गुफा के निकट जो अति सुन्दर समाश्रय रूप गुफा बनवाई थी, उसी में इस शिलालेख को भी स्थान दे देते। हाथी गुफा तीर्थस्थान के कारण ही अधिक मान्य और प्रतिष्ठित हो गई थी और महाराज खारवेल ने उसका अकृत्रिम मद्दा रूप संरक्षण रखते हुए भी इसे इतना महत्व दिया था।"[4]

महावीर के नारी संघ में चन्दना सर्वोत्तम साधिका थी। अपने अनिन्द्य सौन्दर्य के कारण उसे असीम कष्ट भोगने पड़े, किन्तु उसने कहीं पर भी सतीत्व को त्यागा नहीं। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रही। महावीर की भक्ति उसके जीवन का सम्बल थी। जब महावीर को केवलज्ञान हुआ, तब उसने दीक्षा ले ली। उसका कठोर तप नारियों के लिये ईर्ष्या का विषय बना। वह वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। वह अपने सौन्दर्य में जैसी प्रसिद्ध थी, आगे चलकर उसकी आध्यात्मिक साधना भी वैसी ही ख्याति प्राप्त हुई। सुन्दरी चन्दना ने अपने जीवन से जिस आदर्श की रचना की थी, वह आज भी नारी जगत के लिये अनुकरणीय है। × × ×

---

१. जीवंधर की कथा के लिये देखिए उत्तरपुराण

२. देखिए हरिवंश पुराण

३. बाबू छोटेलालजी, खण्डगिरि-उदयगिरि-परिचय, अनेकान्त वर्ष ११, किरण १, मार्च १९५२, पृ० ८१ २

४. देखिए वही, पृ० ८२

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

जैन धर्म और जैन समाज

किसी भी धर्म के वास्तविक रूप या महत्व को उसके ऐतिहासिक विकास क्रम पर विचार किए बिना समझा नहीं जा सकता। ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से विचार करने पर ही उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को ठीक ठीक रूप में आंका जा सकता है। एक जैन आचार्य का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि "न धर्मो धार्मिके विना" अर्थात कोई भी धर्म ऐसे लोगों के सहारे ही जीवित रह सकता है जो उस पर आचरण करने अथवा उसके अनुकूल जीवन व्यवहार को बनाने व ढालने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। मानव जीवन में इस धर्म व्यवहार की कमी को पूरा करने के लिए समय समय पर अवतार, तीर्थंकर, मसीहा, पैगम्बर, आचार्य, महात्मा, संत, साधु तथा मुनि जन्म लेते रहते हैं। श्री कृष्ण ने इस तथ्य को 'गीता' में बहुत सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है। मानव जीवन में धर्म व्यवहार की इस कमी को उन्होंने 'धर्मग्लानि' कहा है। और यह दावा किया है कि उसको दूर करने के लिए वे समय समय पर जन्म लेते रहते हैं। उनका यह दावा मानव की एक अनिवार्य आवश्यकता की द्योतक है। धर्म के इस जीवन व्यवहार का अध्ययन उसके ऐतिहासिक विकास क्रम के आधार पर ही सम्यक रूप में किया जा सकता है। मानव जीवन की उतार-चढ़ाव की कहानी का ही नाम तो इतिहास है। मुश्किल यह है कि इस दृष्टिकोण से न तो मानव का इतिहास लिखा गया है और न ही उसका अध्ययन किया गया है। इतिहास के विद्वानों में मानव जीवन के सांस्कृतिक पहलू को भुला कर जो भूल की है वह उनका मानव समाज के प्रति सबसे बड़ा अपराध है। इतिहास इसी कारण एकांगी बन गया और राजाओं तथा सम्राटों की राक्षसी महत्वाकांक्षा तथा आसुरी लालसा की कहानी बनकर रह गया।

* एक जैन आचार्य का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि न 'धर्मो धार्मिके विना' अर्थात कोई भी धर्म ऐसे लोगों के सहारे ही जीवित रह सकता है जो उस पर आचरण करने अथवा उसके अनुकूल जीवन व्यवहार को बनाने व ढालने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। विद्वान् लेखक ने लेखमें युक्तियों से इसी बात का समर्थन किया है।

दो संस्कृति

यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो हमारे देश के मानव जीवन के क्रम विकास का इतिहास वैसा ही गौरवास्पद है, जैसी कि हमारी संस्कृति रही है। गंगा और जमुना की तरह हमारी संस्कृति प्रायः अनन्त-काल से दो धाराओं में बहती रही है। एक को वैदिक ब्राह्मण संस्कृति नाम दे दिया गया और दूसरी को श्रमण संस्कृति कह दिया गया। मानव जीवन के ऐतिहासिक क्रम विकास की दृष्टि से दोनों का सापेक्ष्य अध्ययन न केवल धर्म व संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए अपितु इति-हास के विद्यार्थियों के लिए भी बड़ा ही उपयोगी, महत्व-पूर्ण तथा रोचक हो सकता है। वैदिक ब्राह्मण संस्कृति जिस समय विविध प्रकार के कर्मकाण्ड भोगैश्वर्य प्रधान बन गई, उच्चवर्णीय ब्राह्मण आदि निठल्ले रह कर सांसा-रिक सुख–भोग में लीन हो गए और केवल इच्छाओं की पूर्ति के लिए धार्मिक कर्म काण्डों का मनमाना विधि–विधान किया जाने लगा, तब वैदिक संस्कृति अपना रूप आकर्षण, महत्व व उपयोगिता खो बैठी। सोलह कलाओं से युक्त पूर्ण अवतार माने गए। श्री कृष्ण को भी गीता में उसके विरुद्ध विद्रोह की आवाज बुलन्द करने के लिए मजबूर होना पड़ा, उन्होंने वेद और वैदिक कर्मकाण्ड की जिन कठोर शब्दों में भर्त्सना की है वैसी कदाचित किसी घोर नास्तिक ने भी न की होगी। इस प्रकार कर्म काण्ड पर आधारित वैदिक संस्कृति का निरंतर शतमुखी पतन होता गया और सर्वमान्य अहिंसा के सम्बन्ध में यह व्यवस्था दे दी गई कि वैदिक कर्मकाण्ड के लिए की गई

हिंसा हिंसा नहीं होती । बलि की कुप्रथा इतनी अधिक व्यापक हो गई कि वह पशुओं तक ही सीमित नहीं रही, मानव की बलि भी नरमेध यज्ञ के नाम से दी जाने लगी। गऊ को माता मानने वालों ने भी गौमेध यज्ञ के नाम से उसकी बलि देनी शुरू कर दी। आज भी जब तब ऐसे समाचार पढ़ने व सुनने को मिलते रहते हैं जिनमें मन्दिरों में नर बलि तक के दिए जाने का उल्लेख रहता है। सरकारी कानून और लोकमत दोनों उसको रोक सकने में असमर्थ रहे हैं।

श्रमण संस्कृति का पुनरुद्धार

श्री कृष्ण की तीव्र भर्त्सना और कठोर खण्डन के बाद भी जब हिंसा प्रधान कर्मकाण्ड और निठल्लेपन का अन्त न हुआ तब श्रमण संस्कृति का पुनरुद्धार करने के लिए भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने ईश्वर, वेद, अध्यात्मवाद, पुनर्जन्म तथा कर्मकाण्ड आदि के संबंध में जो रुख स्वीकार किया वह ऐतिहासिक क्रम विकास का एक अनोखा उदाहरण है और मानव जीवन का निरंतर परिष्कार करने वाली ऐतिहासिक शृंखला की सुनहरी कड़ी है। हिंसा प्रधान कर्मकाण्ड से पैदा हुई भोगैश्वर्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध उन्होंने 'अपरिग्रह' की आवाज उठाई और संयम प्रधान ब्रह्मचर्य पर पूरा जोर दिया। अहिंसा परमो धर्म: का नारा सारे देश में एक बार फिर गूंजा दिया। ब्राह्मणों के निठल्लेपन के विरोध में श्रमप्रधान जीवन व्यवहार की प्रतिष्ठा के ही कारण उनके संदेश को 'श्रमण' संस्कृति का पुनरुद्धार कहा गया है। धर्म की ठेकेदारी के नाम पर कायम किए गए महन्तों, साधुओं व सन्यासियों के वैभव सम्पन्न अखाड़ों व मठों आदि के विरोध में उन्होंने अपने साधुसंघ के लिए जो व्यवस्था स्थिर की वह त्याग, तपस्या व साधना की पराकाष्ठा थी। जैन साधु के विहार का एकमात्र साधन पदयात्रा है। उसका उतना ही संसार है जितना वह स्वयं अपने कन्धे पर संभाल सकता है। भोजन–छादन तक की सामग्री वह अपने पास नहीं रख सकता। आकाश वृत्ति अथवा भिक्षा वृत्ति पर ही वह जीवन–यापन के लिए निर्भर है और इसके लिए भी इतनी कठोर मर्यादा है कि उसका पालन केवल संयमी ही कर सकता है। सार यह है कि जीवन–व्यवहार की जर्जरित व्यवस्था में उन्होंने अणुव्रत महाव्रत की पुन: प्रतिष्ठा करके नवजीवन का संचार किया। यदि कहीं उन्होंने ऐसा न किया होता तो भोगैश्वर्य प्रधान बन जाने के कारण भारतीय संस्कृति भी अन्य भोगप्रधान संस्कृतियों की तरह नाम शेष हो गई होती। उसको विनाश से सुरक्षित रखने के रूप में श्रमण संस्कृति की जो महान देन है उसकी इतिहास के विद्वानों को कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये थी, परन्तु खेद और विस्मय का विषय है कि भारतीय इतिहासकारों ने सबसे अधिक उपेक्षा भगवान महावीर की ही की है।

ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से इतिहास के एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर कुछ विचार करना आवश्यक है। भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध वर्त्तमान कालीन तिलक और गांधी सरीखे राष्ट्र महापुरुषों की तरह समकालीन थे। दोनों ने समान रूप से एक ही समय अपना संदेश उपस्थित किया। दोनों का संदेश बड़े वेग से सारे देश में फैला, परन्तु महात्मा बुद्ध का संदेश हमारे देश के लिए केवल इतिहास का विषय बन कर रह गया और भगवान महावीर का संदेश आज भी किसी न किसी रूप में हमारे देश में जीवित व विद्यमान है। उसका कारण क्या है? इतिहास के किसी भी विद्वान ने इस प्रश्न का समाधान नहीं किया और न किसी जैन विद्वान ने ही इसकी मीमांसा की है। इस प्रश्न का उत्तर हमें ऐतिहासिक क्रम–विकास के अध्ययन से मिल सकता है।

बौद्ध व जैन धर्म का क्रमिक विकास

बौद्ध धर्म और जैन धर्म के क्रमिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही शिक्षाप्रद और मनोरंजक है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भ हीनयान से हुआ और उसका विकास महायान, मन्त्रयान, वज्रयान तथा सहजयान के रूप में हुआ। यह क्रम विकास मानव–जीवन का परिष्कार न कर सका। वैदिक ब्राह्मण संस्कृति के समान इस क्रम विकास के कारण बौद्ध धर्म में भी वाम मार्ग व चार्वाक की तरह अनैतिकता, भ्रष्टाचार, हिंसात्मक

व्यवहार तथा मिथ्या व्यवहार घर कर गया । उसकी अंतिम परिणति उस समझौते के रूप में हुई जिसकी स्पष्ट साक्षी पुरी का मन्दिर है । हिन्दुओं ने बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया और उसकी मूर्ति की प्रतिष्ठा उस मंदिर में की गई । हीनयान के रूप में जिस धर्म का श्रीगणेश मंदिर–मूर्ति आदि के मिथ्या आडम्बर से सर्वथा रहित निर्लेप रूप में हुआ था, उसकी समाधि पुरी के मंदिर में बन गई । पुरी के मंदिर पर अंकित अश्लील मूर्तियां वाममार्ग और वज्रयान में हुए समझौते की ही प्रतीक हैं और देवदासी प्रथा का श्री गणेश भी उसीका सूचक है । इस रूप में बौद्ध धर्म सर्वसाधारण जनता का धर्म नहीं रह सकता था और उसका नाम शेष होना अनिवार्य घटना थी, उसको टाला ही नहीं जा सकता था ।

दूसरी ओर जैन धर्म के विकास क्रम का प्रवाह इसके सर्वथा विपरीत है । दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर रूप में उसका प्रारम्भ हुआ । उसका विकास स्थानकवासी तथा तेरापंथी आदि के जिस रूप में हुआ उसमें मानव जीवन के परिष्कार का क्रम निरंतर निखरता ही गया । स्थानकवासी शाखा में मन्दिर मूर्ति आदि के आडम्बर को जैन आगमों के विपरीत बता कर केवल स्थानकों की प्रतिष्ठा रखी गई और तेरापंथी शाखा में स्थानकों का भी परित्याग यह कह कर किया गया कि वह परिग्रह के निमित्त बन गए हैं । सार यह है कि इस क्रम विकास द्वारा समाज के जीवन–व्यवहार में अणुव्रतों तथा महाव्रतों के पालन पर अधिक से अधिक जोर दिया जाता रहा । इसी क्रम-विकास के बल पर जैन धर्म नाम शेष होने से बच गया । आज भी तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसी गणि तथा अन्य जैन आचार्य अणुव्रतों के पालन पर अधिक से अधिक जोर देते हैं । आज भी जैन साधु अपने जीवन व्यवहार द्वारा त्याग, तपस्या, साधना, संयम तथा अपरिग्रह आदि का उच्चतम आदर्श समाज के सामने रखे हुए हैं । दिगम्बर जैन आचार्य का संयम और अपरिग्रह मानव जीवन के लिए त्याग, तपस्या व साधना का ऊंचे से ऊंचा व्यावहारिक आदर्श उपस्थित करता है ।

संकीर्ण दृष्टिकोण

मुश्किल यह है कि जैन समाज का इस ऐतिहासिक विकास क्रम की ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं है । उसकी दृष्टि में इस क्रम विकास का महत्व सम्प्रदायवाद से कुछ अधिक नहीं रहा । सम्प्रदायवाद की संकीर्णता, असहिष्णुता, भेदभाव, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष, कलह तथा वैमनस्य आदि दुर्गुण उसमें इस प्रकार घर कर गये हैं कि वह जैन धर्म के क्रम विकास के महत्व को बिल्कुल भूल गया है । इसी कारण उसकी दृष्टि धर्म से हट कर जैन समाज में भी उस शाखा तक सीमित रह गयी है, जिसके साथ उसने अपना संबंध जोड़ लिया है । उसने सम्प्रदायवाद के कारण संकीर्ण दृष्टिकोण अपना लिया है । दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी एक दूसरे के प्रति परस्पर ऐसा विरोधी व्यवहार रखते हैं जैसे कि वे एक दूसरे के विरोधी धर्मों के अनुयायी हों और उनमें परस्पर कोई भी मेल न हो । जैसे कि विशाल वट वृक्ष की शाखाओं पर बैठे हुए लोग अपनी ही शाखा को पेड़ मान कर दूसरे का विरोध करने लग जाते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति आज उस जैन समाज की बन गई है जो स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद का पुजारी है । सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी जैन धर्म का रूप ऐसा व्यापक है कि वह आज की आवश्यकताओं की पूर्ति करके राष्ट्र धर्म का स्थान ले सकता है । उसका कर्मफल विचार, स्याद्वाद व अनेकान्तवाद, क्षमावणी परम्परा, सामायिक अनुष्ठान तथा अन्य विधि-विधान कुछ ऐसे हैं जिनका आधार अणुव्रत तथा महाव्रत के व्यवहार के समान अत्यंत व्यापक और सर्वग्राही है । सम्प्रदायवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर ऐतिहासिक क्रम विकास के महत्व को अंगीकार किए बिना न तो जैन समाज स्वयं जैन धर्म की महानता को समझ सकता है और न दूसरों के सामने उसको उपस्थित कर सकता है ।

बौद्ध धर्म के अपने देश में नाम शेष हो जाने के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि एशिया के अन्य देशों में उसका अस्तित्व क्यों बना रहा और वह वहां क्यों लुप्त नहीं हो गया ? इस प्रश्न के विवेचन के लिए

एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है। फिर भी संक्षेप में यहां इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म जहां भी कहीं गया, वहां अपने वास्तविक रूप को खो बैठा और वहां उसने प्रचलित धर्मों के साथ आचार-विचार में कुछ ऐसा समझौता कर लिया कि उसके अस्तित्व के लिए किसी प्रकार का कोई संकट पैदा होने की सम्भावना न रही, चीन में ताओ और कनफूशियस की श्रेणी में बुद्ध को भी बिठा दिया गया और खान-पान आदि की सारी मर्यादायें वे ही स्वीकार कर ली गईं, जो चीन में प्रचलित थीं, तिब्बत में बौद्ध धर्म अपने रूप में न रह कर लामा धर्म बन गया, जिसका बौद्ध धर्म के साथ कुछ भी ताल-मेल नहीं है, जिस आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में बुद्ध बिल्कुल चुप रहे, उसकी खोज एक दलाई लामा की मृत्यु के बाद दूसरे नवजात शिशु में की जाती है, और जिसमें उसकी आत्मा को विद्यमान मान लिया जाता है, उसी को दलाई लामा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। यह कैसा विचित्र समझौता है, बर्मा में प्रेत-आत्माओं की पूजा नट्श के नाम से की जाती है और बर्मा के लोगों ने बुद्ध की आत्मा को भी अब प्रेतात्माओं में सम्मिलित कर लिया है, वे उसकी भी वैसे ही पूजा करते हैं। दलाई लामा के भारत आने पर उनके खान-पान की जो व्यवस्था की गई थी, उसको पढ़कर देशवासी चकित रह गये थे, एक बौद्ध धर्म गुरु के लिए वह खानपान निश्चय ही विस्मयजनक है। खानपान के सम्बन्ध में बर्मा में भी वैसी ही स्थिति है। श्री लंका में बौद्ध धर्म का विशेष जोर समझा जाता है। परन्तु वहां के बौद्ध भिक्षुओं तक में अनेक आचार-विचार श्री लंका के जीवन से ऐसे लिये गये हैं, जिनका बौद्ध धर्म के वास्तविक रूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं, जापान में भी बौद्ध धर्म इसी प्रकार के समझौते से बना रहा और वह अपने वास्तविक रूप को खो बैठा। इस रूप में विदेशों में उसका बना रहना क्या महत्व रखता है ?

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी राजनीतिक भ्रान्ति यह थी कि एशिया के राष्ट्रों में सांस्कृतिक सम्बन्ध सुदृढ़ बनाने के लिए उसको आधार बनाया जा सकता है और उसके पंचशील के आधार पर विश्व के समस्त राष्ट्रों में सह अस्तित्व की भावना जगाई जा सकती है। जन-वादी चीन ने इस भ्रान्ति को मृग तृष्णा से भी अधिक निरर्थक सिद्ध कर दिया है, कर्म विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन किये बिना ऐसी भ्रान्तियों का पैदा हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। अन्तरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय जगत में केवल भावावेश से काम लेना बहुत बड़ी भूल है, कूटनीतिज्ञ के डोरों के समान विश्व की राजनीति में संस्कृति के डोरे भी डाले जाने लगे हैं और सांस्कृतिक सन्धियों के नाम पर भी कुछ बड़े बड़े दाव पेच चले जा रहे हैं, उनसे सावधान रहना आवश्यक है।

ऐसे सब भ्रमों व भ्रान्तियों को दूर करने के लिये भी जैन धर्म के जीवन व्यवहार के परिष्कार के कर्म विकास तथा प्रक्रिया को सर्व साधारण के सम्मुख उपस्थित करना आवश्यक है और वह तभी सम्भव होगा जब कि जैन समाज जैन धर्म पर रुढ़िगत अन्ध श्रद्धा न रखते हुये उसका अध्ययन, मनन तथा अनुशीलन इतिहास की दृष्टि से भी करेगा। वह उसको इसलिए अपनायेगा कि उसने एक महान संकट के काल में भारतीय जीवन तथा भार-तीय संस्कृति को विनाश के मुख से बचाया था। भगवान महावीर के सन्देश का पुनरुद्धार इसी रूप में इसी दृष्टि से किया जाना चाहिये।

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मथुरा की जैन कला

* मथुरा जैन धर्म का भी अत्यन्त प्राचीन केन्द्र रहा है। बौद्धों तथा हिन्दुओं की भांति जैन धर्म के अनुयायी आचार्यों ने मथुरा को अपना केन्द्र बनाकर अपने भक्त श्रावक-श्राविकाओं को प्रेरित करके प्राचीन मथुरा में स्तूपों और मंदिरों की स्थापना की।

* अनेक वेदिका स्तम्भों और सूची दलों की सुन्दर सजावट भी मथुरा कला की अनुपम देन है। उनमें नाना प्रकार की सजावट पाई जाती है। मथुरा के इस शिल्प की महिमा केवल भावगम्य है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने मथुरा की जैन कला पर विशद प्रकाश डाला है।

मथुरा जैन धर्म का भी अत्यन्त प्राचीन केन्द्र था। जिस प्रकार बौद्धों ने यहां प्राचीन स्तूपों का निर्माण किया और जिस प्रकार हिन्दुओं ने अपने देवताओं के लिए प्रासाद या मंदिरों का निर्माण किया उसी प्रकार जैन धर्म के अनुयायी आचार्यों ने मथुरा को अपना केन्द्र बना कर अपने भक्त श्रावकश्राविकाओं को प्रेरित कर के प्राचीन मथुरा में स्तूपों और मंदिरों की स्थापना की।

कंकाली टीले की खुदाई में जैन शिल्प की अद्भुत सामग्री प्राप्त हुई है। इस टीले की भूमि पर एक प्राचीन जैन-स्तूप और दो प्रासाद या मंदिरों के चिन्ह मिले हैं। अर्हत्-नन्द्यावर्त अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ की एक प्रतिमा की चौकी पर खुदे हुए एक लेख में लिखा है कि कोट्टियगण की वज्री शाखा के वाचक आर्य वृद्ध हस्ती की प्रेरणा से एक श्राविका ने देव-निर्मित स्तूप में अर्हंत् की प्रतिमा स्थापित की (एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग २, लेख २०)। यह लेख संवत् ८६ अर्थात् कुषाण सम्राट वासुदेव के राज्यकाल की ई० १६७ का है। इसका देव-निर्मित शब्द महत्वपूर्ण है। बूलर, स्मिथ आदि विद्वानों का विचार है कि उस समय में स्तूप के वास्तविक निर्माणकर्ताओं के विषय में लोगों का ज्ञान विस्तृत हो गया था और स्तूप इतना प्राचीन समझा जाने लगा था कि उसके लिए देव निर्मित, इस नाम की कल्पना संभव हुई। हम भी समझते हैं कि 'देवनिर्मित' शब्द साभिप्राय है। और जैसा रायपसेनियसुत्त में देवों द्वारा एक विशाल स्तूप के निर्माण का वर्णन है कुछ उसी प्रकार की निर्माण-कल्पना मथुरा के इस स्तूप के विषय में की जाती थी। तिब्बत के विद्वान् बौद्ध-इतिहास लेखक तारानाथ ने अशोक कालीन शिल्प के निर्माताओं को यक्ष कहा है और लिखा है कि मौर्यकालीन शिल्प कला यक्ष कला थी। उससे पूर्व युग की कला देवनिर्मित समझी जाती थी। अतएव 'देव निर्मित' शब्द की यह ध्वनि स्वीकार की जा सकती है कि मथुरा का 'देव'निर्मित जैन स्तूप मौर्य-काल से भी पहले लगभग पांचवीं या छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में बना होगा। जैन विद्वान जिनप्रभसूरि ने अपने तीर्थकल्प ग्रन्थ में मथुरा के इस प्राचीन स्तूप के निर्माण और जीर्णोद्धार की परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह माना जाता था कि मथुरा का यह स्तूप आदि में सुवर्णमय था। उसे कुबेरा नाम की देवी ने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की स्मृति में बनवाया था। कालान्तर में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में इसका निर्माण ईंटों से किया गया। भगवान महावीर की

सम्बोधि के तेरह सौ वर्ष बाद बप्पभट्टसूरि ने इनका जीर्णोद्धार कराया। इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि मथुरा के साथ जैन धर्म का संबंध सुपार्श्व तीर्थंकर के समय में ही हो गया था और जैन लोग उसे अपना तीर्थ मानने लगे थे। पहले यह स्तूप केवल मिट्टी का रहा होगा। जैसा कि मौर्यकाल से पहले के बौद्ध स्तूप भी हुआ करते थे। उसी प्राचीन स्तूप का जब पहला जीर्णोद्धार हुआ तब उस पर ईंटों का आच्छादान चढ़ाया गया। जैन परम्परा के अनुसार यह परिवर्तन महावीर के भी जन्म के पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय हो चुका था। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं जान पड़ती। उसी इष्टका-निर्मित स्तूप का दूसरा जीर्णोद्धार लगभग शुंग काल में दूसरी शती ई० पू० में किया गया। जब कि शुंगकालीन बौद्ध स्तूपों की भांति इस जैन स्तूप के निर्माण और जीर्णोद्धार में खुलकर पत्थरों का उपयोग हुआ। उस समय तीन विशेष परिवर्तन हुए ऐसा ज्ञात होता है। एक तो मूल स्तूप पर शिलापट्टों का आच्छादन चढ़ाया गया दूसरे उसके चारों ओर चार तोरणद्वारों से संयुक्त एक भव्य वेदिका का निर्माण कराया गया। इस वेदिका के जो अनेक स्तम्भ प्राप्त हुए हैं उन पर कमल के अनेक फूलों की बहुत ही बढ़िया सजावट है। इस आधार पर वह वेदिका पद्मवर वेदिका का नमूना जान पड़ती है जिसका उल्लेख रायपसेनियसुत्त में आया है। हो सकता है कि धनिक उपासक लोग वास्तविक कमल के खिले हुए फूलों से इस प्रकार की पुष्पमयी वेदिका बनवाकर विशेष अवसरों पर स्तूप की पूजा किया करते थे। कालान्तर में उन कमल के फूलों की अनुकृति काष्ठमय वेदिका स्तंभों पर उत्कीर्ण की जाने लगी और सबसे अंत में पत्थर के स्तंभों पर कमल के फूलों के वैसे ही अलंकरण और सजावट युक्त बेलें उकेरी जाने लगीं। इसी प्रकार की पद्मवर वेदिका का एक सुन्दर उदाहरण मथुरा के देवनिर्मित जैन स्तूप की खुदाई में प्राप्त शुंग कालीन स्तंभों पर सुरक्षित रह गया है। वेदिका स्तंभों के बीच बीच में लगे हुए सूची पट्टों पर और उष्णीष पट्टों पर भी बहुत ही सुन्दर उकेरी की सज प्राप्त हुई है। उसके अनेक नमूने इस समय लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक तोरण की सिरदल पर स्तूप पूजा का दृश्य अंकित है जिसकी शैली शुंग काल की है। उसमें किन्नर और सुपर्ण स्तूप की पूजा करते हुए अंकित किए गए हैं।

ई० पू० दूसरी शती से लेकर ई० की ११ वीं शती तक के शिलालेख और शिल्प के उदाहरण जैन स्तूप और मंदिरों के अवशेषों से प्राप्त हुए हैं। इससे यह निश्चित है कि जैन शिल्प की यह परम्परा इसी स्थान पर लगभग १३ सौ वर्षों तक चालू रही। मथुरा उस युग में बहुत ही महान् शिल्प तीर्थ था। विशेषतः कुषाण युग में मथुरा शिल्प का वैभव अत्यंत उत्कृष्ट हो गया। जैन शिल्प के क्षेत्र में यहां के भव्य देव प्रसाद, उनके सुन्दर तोरण, वेदिकास्तंभ, मूर्धन्य या उष्णीष पत्थर, उत्फुल्ल कमलों से सज्जित सूचीपट, स्वस्तिक आदि से अलंकृत आयागपट्ट, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं आदि के सुन्दर उदाहरण भारतीय शिल्प का गौरव समझे जाते हैं। मथुरा से मिले हुए अनेक शिला-लेख जैन धर्म के प्राचीन इतिहास पर मूल्यवान प्रकाश डालते हैं। जैन संघ के जिस विपुल संगठन का उल्लेख कल्पसूत्र ग्रन्थ में आता है उससे सम्बन्धित गण, कुल और शाखाओं का वास्तविक उल्लेख जब हम प्राचीन मथुरा के प्राचीन शिलालेखों में पाते हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि कल्प सूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित इतिहास प्रामाणिक है। जैन संघ के आठ गणों में से चार का नामोल्लेख मथुरा के लेखों में हुआ है। अर्थात् कोट्टिय गण, वारण गण, उद्देहिक गण और वेशवाटिक गण। इन गणों से संबंधित जो कुल और शाखाओं का विस्तार था उनमें से भी लगभग बीस नाम मथुरा के लेखों में पाए गए हैं। इससे सूचित होता है कि जैन भिक्षु संघ का बहुत जीता-जागता केन्द्र मथुरा में विद्यमान था और उसके अन्तर्गत अनेक श्रवक-श्राविकाएं धर्म का यथावत् आचारण और पालन करती थीं। उदाहरण के लिए देवपाल श्रेष्ठि की कन्या श्रेष्ठी सेन की धर्मपत्नी, क्षुद्रा ने वर्धमान की प्रतिमा का दान दिया। श्रेष्ठी वेणी की धर्मपत्नी, भट्टिसेन की माता कुमार मित्रा ने आर्या वसुला के उपदेश से एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना की। यह वसुला आर्य जयभूति की शिष्या आर्य संगमिका की

शिष्या थी। सर्व लोकोत्तम अर्हतों को प्रणाम करने वाली सुचिल की धर्मपत्नी ने भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा दान में दी। वज्रोशाखा के वाचक आर्य मातृदत्त, जो आर्यबलदत्त के शिष्य थे, इसके गुरु थे। मणिकार जयभट्ट की दुहिता, लोहवणिज फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्र ने कोट्टिय गण के अन्तर्गत बृहन्तदासिक कुल के बृहन्तवाचक गणि जमित्र के शिष्य आर्य ओघ के शिष्य गणि आर्यपाल के श्रद्धाचर वाचक आर्य दत्त के शिष्य वाचक आर्यसिंह की निर्वर्तना या प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा का दान दिया। आचार्य बलदत्त की शिष्या आर्या कुमारमित्रा तपस्विनी को शिलालेख में संशित, मखित, बोधित कहा गया है। वह भिक्षुणी हो गई थी किन्तु उसके पूर्वाश्रम के पुत्र गंधिक कुमार भट्टि ने एक जिन प्रतिमा का दान किया। यह मूर्ति कंकाली टीले के पश्चिमी भाग में स्थित दूसरे देवप्रसाद के भग्नावशेष में मिली थी। पहले देवप्रसाद की स्थिति इस मंदिर के कुछ पूर्व की ओर थी। ग्रामिक जयनाग की कुटुम्बिनी और ग्रामिक जयदेव के पुत्रवधू ने संवत् ४० में शिला स्तंभ का दान दिया। आर्या शामा की प्रेरणा से जयदास की धर्मपत्नी गूढ़ा ने ऋषभ प्रतिमा दान में दी। श्रमणश्राविका बलहस्तिनी ने अपने माता-पिता और सास-ससुर की पुण्य वृद्धि के लिए एक बड़े तोरण की स्थापना की।

कंकाली टीले के दक्षिणपूर्व के भाग में डा० बर्जेस की खुदाई में एक सरस्वती की प्रतिमा प्राप्त हुई थी। उसे लोहे का काम करने वाले (लोहिककारुक) गोप ने स्थापित किया था। इसी स्थान पर धनहस्ति की धर्मपत्नी और गुहदत्त की पुत्री ने धर्मार्था नामक श्रमण के उपदेश से एक शिलापट्ट का दान किया जिस पर स्तूप की पूजा का सुन्दर दृश्य अंकित है। जयपाल, देवदास, नागदत्त और नागदत्ता की जननी श्राविका दत्ता ने आर्य संघसिंह की प्रेरणा से वर्धमान प्रतिमा को ईसवी ९८ में दान किया। स्वामी महाक्षत्रप शोडास के राज्य संवत्सर ४२ में श्रवणश्राविका अमोहिनी ने आर्यवती की प्रतिमा का दान किया। तपस्विनी विजय श्री ने जो राज्यवसु की पत्नी देविल की माता और विष्णुभव की दादी थी, एक मास का उपवास करने के बाद संवत् ५० (१२८ ई०) में वर्धमान-प्रतिमा की स्थापना की। इस प्रकार जैन संघ के इतिहास के अंतर्गत अनेक श्रमण श्राविकाओं के पुण्य कार्यों का उल्लेख भी मथुरा के अभिलेखों में पाया जाता है जिनकी धार्मिक भावना से अधिकांश कलाकृतियों की रचना की गई। मथुरा की जैन कला में निम्नलिखित प्रकार की मूर्तियां पाई जाती हैं। आयागपट्ट, तीर्थंकर प्रतिमाएं, देवीमूर्तियां, स्तूपों के तोरण, शालभंजिका, वेदिका स्तंभ, उष्णीष आदि। आयागपट्ट का मूल है आर्यकपट्ट अर्थात् पूज के लिए स्थापित शिलापट्ट जिस पर स्वस्तिक, धर्मचक्र आदि अलंकरण या तीर्थंकर की प्रतिमा अंकित की गई हो। स्तूप के प्रांगण में इस प्रकार के पूजा शिला पट्ट या आयाग पट्ट ऊंचे स्थंडिलों पर स्थापित किए जाते थे और दर्शनार्थी उनकी पूजा करते थे। मथुरा की जैन शिल्प कला में आयाग पट्टों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से उन पर जो अलंकरणों के संपुंजन की छवि है वह नेत्रों को मोहित कर देती है। उदाहरण के लिए सिंहनादिक द्वारा स्थापित आयाग पट्ट पर ऊपर-नीचे अष्ट मांगलिक चिन्ह अंकित हैं और दोनों पार्श्वों में से एक ओर चक्रांकित ध्वजस्तंभ तथा दूसरी ओर गजांकित स्तंभ है। बीच में चार त्रिरत्नों के मध्य में तीर्थंकर की बद्ध पद्मासन स्थित मूर्ति है। (लखनऊ संग्रहालय जे० २४९)। लखनऊ संग्रहालय में एक दूसरा आयाग पट्ट है (जे० २५०) जिसके मध्य भाग में एक बड़ा स्वस्तिक अंकित है और उसके स्वस्तिक के गर्भ में एक छोटी तीर्थंकर मूर्ति है। स्वस्तिक के आवेष्टन के रूप में सोलह देवयोनियों से अलंकृत एक मण्डल है जिसके चार कानों पर चार महोरग मूर्तियां हैं। नीचे की ओर अष्ट मांगलिक चिन्हों की बेल है। इस प्रकार के पूजा पट्ट को प्राचीन परिभाषा में स्वस्तिक पट्ट कहते थे। एक तीसरे आयाग पट्ट पर (लखनऊ संग्रहालय, जे० २४८) मध्य में षोडश धर्मचक्र की आकृति अंकित है उसके चारों ओर तीन मंडल हैं। पहले में १६ नन्दिपद, दूसरे में अष्टदिक्कुमारिकाएं और तीसरे में कुण्डलित पुष्कर स्रज कमलों की माला है। और चार कोनों में चार महोरग मूर्तियां

हैं। इस प्रकार का पूजापट्ट प्राचीन काल में चक्र पट्ट कहलाता था।

आयागपट्ट (जे० २५५) की स्थापना फल्गुयश नर्तक की पत्नी शिवयशाने अर्हतपूजा केलिए की थी। इस पर प्राचीन मथुरा जैन स्तूप की आकृति अंकित है जिसके एक ओर तोरण, वेदिका और सोपान भी दिए गए हैं। मथुरा संग्रहालय में भी एक आयाग पट्ट है, (क्यू २) जिसकी स्थापना गणिका लावण्यशोभिका की पुत्री श्रमणश्राविका गणिका वसु ने अर्हतों के मंदिर में अर्हत् पूजा के लिए की। इस पर भी स्तूप, तोरण वेदिका और सोपान अंकित हैं।

कंकाली टीले से मिली हुई दो विशिष्ट मूर्तियों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इनमें से एक देवी सरस्वती की मूर्ति है जिसकी स्थापना संवत् ५४ में गोप नामक लोहिए ने की थी। सरस्वती के बांए हाथ में पुस्तक है। अब तक की प्राप्त सरस्वती मूर्तियों में यह प्रतिमा सबसे प्राचीन है। प्राचीन जैन धर्म में सरस्वती और लक्ष्मी दोनों देवियों की मान्यता और पूजा प्रचलित थी।

दूसरी उल्लेखनीय मूर्ति देवी आर्यवती की है जो क्षत्रप शोडास के राज्यकाल में संवत् ४२ में स्थापित की गई। छत्र और चवर लिए हुए दो पार्श्वचर स्त्रियां आर्यवती की सेवा कररही हैं जिससे उसका राजपदसूचित होता है। संभव है आर्यवती का यह अंकन महावीर की माता क्षत्रियाणी त्रिशाला के लिए ही हो।

नैगमेशमूर्ति—प्राचीन जैन धर्म में भगवान् नैगमेश नामक एक देवता की पूजा प्रचलित थी। कहा जाता है कि इस देवता ने गर्भस्थ बालक महावीर को ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से लेजाकर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में पहुंचाया था। नैगमेश की एक सुन्दर मूर्ति कंकाली टीले से प्राप्त हुई थी, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में है। उस पर देवता का नाम भी लिखा है। यह मूर्ति अजमुखी है। नैगमेश बच्चों के मंगल देवता माने जाते थे।

तीर्थंकर मूर्तियां—मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में अनेक तीर्थ कर मूर्तियां सुरक्षित हैं। इनमें कुषाण संवत् ५ से लेकर ६५ तक की मूर्तियां हैं। किन्तु उसके बाद भी तीर्थंकर मूर्तियों की स्थापना का क्रम ११ वीं शती तक चलता ही रहा। कला की दृष्टि से गुप्त काल की पद्मासन में बैठी हुई प्रतिमाएं सुन्दर हैं।

ये मूर्तियां तीन प्रकार की हैं। १–कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई मूर्तियां। २–पद्मासन में बैठी हुई ध्यानस्थ मूर्तियां। ३–सर्वतो भद्रिका प्रतिमाएं अर्थात् चारों दिशाओं में खड़े हुए या बैठे हुए चार तीर्थंकारों को मिला कर बनाई हुई मूर्तियां। इन तीर्थंकरों की पहचान इस प्रकार की जा सकती है। पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ या आदिनाथ सातवें सुपार्श्व, २३ वें पार्श्वनाथ, २४ वें महावीर। इन मूर्तियों की चौकी पर पार्श्वों में सिंह बने रहते है और धर्म चक्र स्तूप की पूजा का दृश्य अंकित होता है। भक्त गृहस्थ स्त्री और पुरुष अपने परिवार के सदस्यों को लेकर पूजा करते हुए दिखाए जाते हैं। कला की दृष्टि से जैन तीर्थंकर मूर्तियों में समाधिजन्य स्थिरता और उर्ध्वता पाई जाती है। बाहरी ओर उनका आकर्षण नहीं होता। किन्तु वे ही शिल्पी जो प्रतिमाओं के अंकन में इतनी संयत वृत्ति का परिचय देते थे जब तोरण और वेदिका स्तंभों पर जीवन संबंधी दृश्यों का चित्रण करने लगते हैं तो ऊंचे कलात्मक सोष्ठव का परिचय देते हैं। जैसे आयागपट्टों पर अंकित शिल्प का माधुर्य मन को मोहित किए बिना नहीं रहता। वे कलाविदों की श्रेष्ठ प्रतिभा की सूचक हैं।

अनेक वेदिका स्तंभों और सूची दलों की सुन्दर सजावट भी मथुरा कला की अनुपम देन हैं। उनमें नाना प्रकारकी सजावटपाई जाती हैं आभूषण-संभारोंसे सन्नतांगी रमणियों के सुख मय जीवन का अमर वाचन एक बार ही इन स्तम्भों के दर्शन से सामने आ जाता है। अशोक बकुल, आम्र और चम्पक के उद्यानों में पुष्प भंजिक क्रीड़ा में प्रसक्त, कन्दुक, खड्गादि नृत्यों के अभिनय में प्रवीण स्नान और प्रसाधन में संलग्न पोरांगनाओं को देख कर कौन मुग्ध हुए बिना रह सकता है? भक्तिभाव से पूजा के लिए पुष्पमालाओं का उपहार लाने वाले उपासक वृन्दों की शोभा और भी निराली हैं। सुपर्ण और किन्नर सदृश देवयोनियां भी पूजा के इन श्रद्धामय कार्यों में बराबर भाग लेती हुई दिखाई गई हैं। मथुरा के इस शिल्प की महिमा केवल भावगम्य है। ●
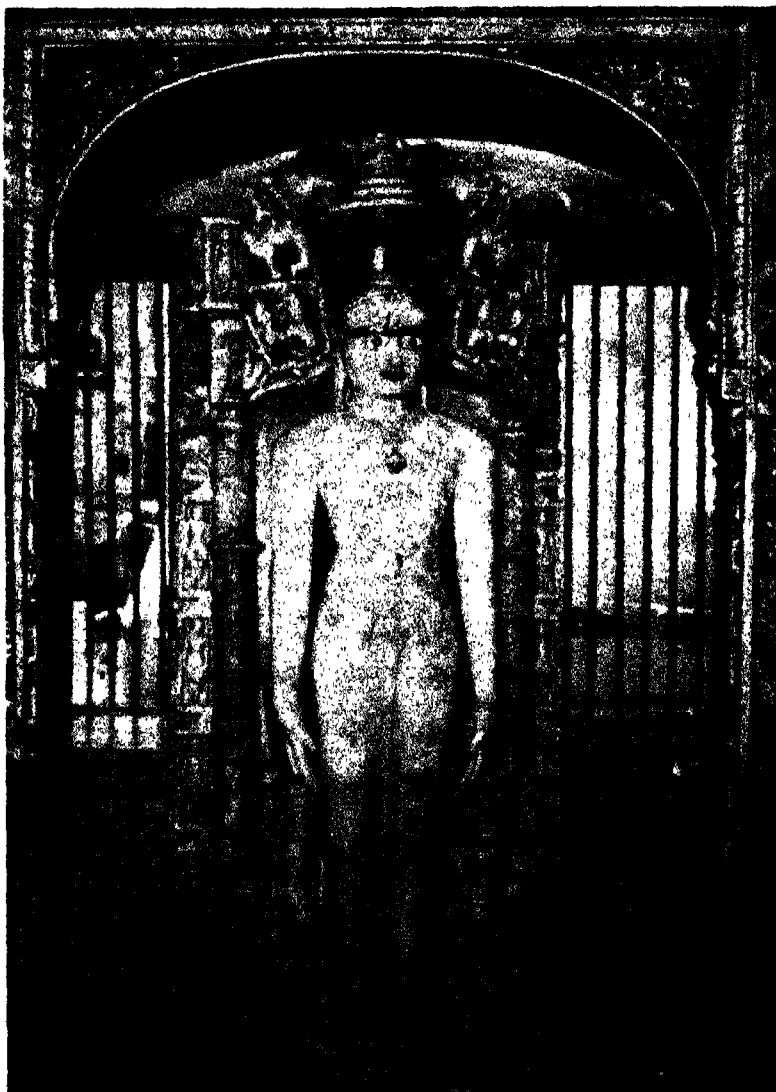
श्री श्वेताम्बर जैन मन्दिर (बड़ा) घीवालों का रास्ता, जयपुर में
श्री शान्तिनाथ स्वामी की भव्य एवं अति प्रचीन प्रतिमा

डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एन. आर. ई. सी. कालेज खुर्जा

जैन-संस्कृति

> ★ जैनाचार में अहिंसा को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है। पूर्ण अहिंसा मनुष्य की महान साधना है। जैन संस्कृति की इस अहिंसा का ही प्रभाव महात्मा गांधी पर पड़ा था क्योंकि इसी कारण वे "पाप से घृणा करो पापी से नहीं" के विचारों को अपनाते हुए विश्वबन्धुत्व पर जोर देते थे।

संस्कृति का सम्बन्ध मानव के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक कलात्मक आदि सभी प्रकार के महत्वपूर्ण विकासों एवं जीवन के विविध पहलुओं से है। मानव के इन विकासों में परम्परागत संस्कारों का बड़ा हाथ रहता है। इसी कारण संस्कृति का सस्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इन विकासों द्वारा ही किसी समाज की सभ्यता का भी पता चलता है। इसी कारण सभ्यता को मानव के विकास की समस्त चेष्टाओं का बाह्य रूप कहा जाता है और संस्कृति उनका आन्तरिक रूप है। अतः किसी देश की संस्कृति से उस देश के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान, परम्परागत अनुभव, जीवनयापन के ढंग, कला-प्रेम, रुचि आदि का बोध होता है।

भारतीय संस्कृति का निर्माण विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिश्रण से हुआ है। दिनकरजी का मत तो यह है कि "जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न द्रविड़ों की, प्रत्युत उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान हैं। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है एवं उसके भीतर अनेक औषधियों का रस समाहित है।"[1] इसका कारण यह है कि यहां पर द्रविड़, आर्य, शक, हूण, मुस्लिम, अंग्रेज आदि कितनी ही विदेशी एवं देशी जातियों का सम्मिलन हुआ और सभी ने अपनी अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। परन्तु भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह समन्वय प्रधान है। इसी कारण यह आज तक अक्षुण्ण एवं एक रूप बनी हुई है। अन्य सभी संस्कृतियां यहां आकर इस अखंड सांस्कृतिक स्त्रोत में ऐसी विलीन हो गई कि आज उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं दिखाई देता। यह संस्कृति अपने इसी गुण के कारण अन्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने पर भी मौलिक रूप में विद्यमान है, क्योंकि संसार की प्राचीन से प्राचीन संस्कृतियां या तो परिवर्तित हो गई या सदैव के लिए अतीत के गर्त में समा गई। परन्तु भारतीय संस्कृति की इस पुनीत गंगा में अन्यान्य नदी-नालों के समान मिलने वाली संस्कृतियों का सम्मेलन होने पर भी उसने सबको गांगेय रूप देकर अपना बना लिया है।

इस भारतीय संस्कृति का स्वरूप वैदिक एवं अवैदिक दोनों प्रकार की संस्कृतियों के सम्मिश्रण द्वारा निर्मित हुआ है। वैदिक संस्कृति का तात्पर्य उस संस्कृति से है जिसका विकास वेदशास्त्रों अथवा निगमागमों के आधार पर हुआ है और अवैदिक संस्कृति वह है जो वेद-बाह्य विचारों के आधार पर यहां पल्लवित हुई हैं। इस अवैदिक संस्कृति के अंतर्गत आग्नेय संस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति तथा अन्य भारतेतर विदेशी सस्कृतियां आती हैं। इन अवैदिक संस्कृतियों की आन्तरिक

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६५३

विचारधारा ने भारतीय संस्कृति के विकास में पर्याप्त योग दिया है, परन्तु इनके विचार आज भारतीय संस्कृति में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें पृथक करके देखना सर्वथा असंभव-सा जान पड़ता है। जैन संस्कृति भी ऐसी ही संस्कृति है, जिसका विकास तो भारत में ही हुआ है और भारतीय जन-जीवन को भी जिसने अत्यधिक प्रभावित किया है, परन्तु जिसके स्वरूप का संगठन कुछ वैदिक आचार-विचार के विरुद्ध हुआ है। इसी कारण इसे अवैदिक संस्कृतियों की कोटि में गिना जाता है।

भारत में जैन-संस्कृति का प्रादुर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल से माना जाता है। यहां पहले वैदिक युग में यज्ञों की अत्यधिक प्रधानता थी और प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा विश्वास था कि यज्ञों से ही मनोवांछित फल की प्राप्ति हो सकती है। अतः घर-घर यज्ञ होते थे। धीरे-धीरे यज्ञ का विधान इतना विचित्र हो गया कि यजमान लोग पांडित्य एवं विद्वत्ता की प्राप्ति के लिए पंडित एवं विद्वान् व्यक्ति की बलि देने लगे तथा पशु-बलि देना तो अत्यन्त स्वाभाविक हो गया। इसके साथ ही उस समय वर्णों में परस्पर भेद-भाव भी बढ़ने लगा था और शूद्र एवं नीच वर्ग के लोगों के प्रति घृणा का भाव भी घर करता चला आ रहा था। अतएव यज्ञों में नर-बलि एवं पशु-बलि का विरोध करने के लिए तथा वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत पारस्परिक भेद-भाव को दूर करने के लिए उस समय जैन-संस्कृति का स्वरूप आगे आया। इसके आदि प्रवर्तक 'ऋषभ' माने जाते हैं, जिन्होंने राजा होते हुए भी राजपाट अपने पुत्र भरत को देकर सन्यास धारण किया था। जैनधर्म के २३ तीर्थंकरों में से प्रथम स्थान 'ऋषभ' जीका ही है तथा अंतिम पार्श्वनाथ माने जाते हैं, जो महावीर स्वामी की मृत्यु से लगभग २५० वर्ष पूर्व तक विद्यमान रहे। ८वीं सदी ई० पू० में श्री पार्श्वनाथ हुए थे। परन्तु जैन-संस्कृति के प्रमुख प्रचारक इस युग में महावीर स्वामी ही माने जाते हैं, जो २४वें तीर्थंकर हैं तथा जो इन चौबीसों तीर्थंकरों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

जैन संस्कृति में पांच व्रतों की व्यवस्था की गई है। इन पांच व्रतों के बारे में विद्वानों का मत है कि (१) हिंसा न करना, (२) असत्य न बोलना, (३) चोरी न करना और (४) परिग्रह या सम्पत्ति न रखना-ये चार व्रत पार्श्वनाथ के थे। परन्तु महावीर स्वामी ने इसमें पांचवां ब्रह्मचर्य का व्रत और जोड़ा था। इस तरह अहिंसा सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य नामक पांच महाव्रत मुनि के लिए और इन पांच पापों के एक देश त्याग रूप अणुव्रत प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक बताये गये थे।

जैनाचार में अहिंसा को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है। पूर्ण अहिंसा मनुष्य की महान साधना है। जैन संस्कृति की इस अहिंसा का ही प्रभाव महात्मा गांधी पर पड़ा था क्योंकि इसी कारण वे "पाप से घृणा करो पापी से नहीं" के विचारों को अपनाते हुए विश्वबन्धुत्व पर जोर देते थे। जैन संस्कृति में दो प्रकार के साधक माने गये हैं मुनि और गृहस्थ। एक पूर्ण साधक है और दूसरा अपूर्ण साधक। जिसके जीवन में अहिंसा पूर्णतः उतर चुकती है वह मुनि या पूर्ण साधक कहलाता है। गृहस्थ या अपूर्ण साधक के जीवन में अहिंसा पूरी नहीं उतरती। उसकी अनेक ऐसी जिम्मेवारियां है कि वह अपने जीवन में अहिंसा को पूरे रूप से नहीं उतार सकता। यही कारण है कि उसके अभ्यासार्थ पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रतों का विधान जैन शास्त्रों में पाया जाता है। ये व्रत मनुष्य की लौकिक तरक्की में बाधक नहीं बनते प्रत्युत उसमे साधक बनते हुए उसे पूर्णता की ओर ले जाने में सहायक होते हैं।

जैन संस्कृति की एक विशेषता यह भी है कि इसने अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद जैसे दार्शनिक विचार प्रदान किये हैं। जैन दार्शनिक बहुत कुछ विचार करते करते इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि किसी भी बात को बहुत जोर देकर कहना ठीक नहीं, क्योंकि दुनियां में कोई भी बात ऐसी नहीं हैं, जिसे अधिक बलपूर्वक सत्य या बिल्कुल ठीक कहा जा सके। सत्य के अनेक पहलू होते हैं और हम जब जिस पहलू को देखते हैं, तब वही पहलू हमें सत्य दिखाई देता हैं। अतः सच्चा दर्शन अनेकान्तवाद है, जो

सत्य के अनेक पहलुओं के विषय में सम्यक दृष्टि रखता हैं। इसी तथ्य को जैन दार्शनिकों ने 'स्याद्वाद' के नाम से भी अभिहित किया हैं। स्याद्वाद एक समन्वयात्मक विचार पद्धति हैं। यह संसार के समस्त सम्प्रदायों में समभाव की भावना उत्पन्न करता है। साम्प्रदायिक विवादों को निपटाने के लिए यह सर्वोत्तम उपाय है।

इस तरह जैन-संस्कृति में वेदों की सत्ता और प्रामाणिकता एवं अपौरुषेयता को स्वीकार न करके वैदिक क्रिया-विधियों, यज्ञ-विधियों, यज्ञ-विधानों, ब्राह्मणों के प्रभुत्व आदि का घोर विरोध किया गया है तथा जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं लाभकारी पवित्र नियमों, व्रतों आदि की व्यवस्था की गई हैं। इतना अवश्य हैं कि इस संस्कृति में मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यन्त कठोर तप एवं संयमपूर्ण जीवन को महत्व दिया गया हैं। इसी कारण इस संस्कृति में लग्न रहने तथा सल्लेखना द्वारा मृत्यु प्राप्त करने को अच्छा समझा जाता हैं। इस संस्कृति में बौद्धों की 'मध्यम प्रतिपदा' को अच्छा नहीं समझा जाता। क्योंकि वह तो बीच का मार्ग है और उसके द्वारा मानव योगी की अपेक्षा भोगी अधिक बन सकता है। इस संस्कृति में तो जन्म-मृत्यु एवं आवा-गमन का मूल कारण कर्म माना गया है। अतएव यहां तपस्या द्वारा कर्म के क्षय करने तथा कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए अधिक जोर दिया जाता है और इसीसे इस संस्कृति में आत्मशुद्धि पर का अधिक महत्व माना गया है। फिर भी इस संस्कृति के पवित्र एवं पावन नियम तथा व्रत मानव-जीवन को उन्नत एवं उदार बनाने में अत्यन्त उपयोगी हैं।

राग धनाश्री

चेतन उलटी चाल चले ॥ टेक ॥
जड संगत तैं जड़ता व्यापी
निज गुन सकल टले ॥ चेतन० ॥१॥
हित सों विरचि ठगनि सौं राचे,
मोह पिशाच छले ॥
हंसि हंसि फंद सवारि आप ही
मेलत आप गले ॥ चेतन ॥२॥
आये निकसि निगोद सिंधु तें,
फिर तिह पंथ टले।
कैसे प्ररगट होय आग जो
दबी पहार तले ॥ चेतन० ॥३॥
भूले भव भ्रम बीचि 'बनारसि',
तुम सुरज्ञान भले।
धर शुभ ध्यान ज्ञान नौका चढि
बैठे ते निकले ॥ चेतन० ॥४॥

आचार्य रजनीश, जबलपुर

वर्द्धमान महावीर : एक परिचय

व्यक्ति आज अशांत और पीड़ित है। स्वभावत:, युग भी है। हिंसा, घृणा, विद्वेष और विग्रह के महारोगों से हम घिरे हैं। जीवन के नैतिक मूल्य विनष्ट हो गये हैं। मनुष्य हैं, पर मनुष्यता नहीं है। अंधेरा है और मार्ग नहीं दीखता है। 'क्या करें ?' प्रश्न है पर उत्तर नहीं है। सोचता हूं, पर क्या सच ही उत्तर नहीं है ? या कि उत्तर है और हम ही अंधे और बहरे हैं जो उसे देख और सुन नहीं पाते? ईसा का स्मरण आता है। कहा था उस मनीषी ने: 'आंख होते हुए तुम देखते नहीं, कान होते हुए सुनते नहीं।' यह एकदम सत्य है। ऐसे ही हैं हम। उत्तर है और सदा से है; प्रश्न था उसके पहले ही उत्तर था, यह उत्तर, यह मार्ग युग–युग में प्रगट हुआ है अनेक रूपों में अनेक विधि। आज से ढाई हजार सम्वत्सर पहिले यह शाश्वत मार्ग महावीर के रूप में हुआ। हिंसा, अशांति, अधर्म और अराजकता के बीच महावीर मार्ग बनकर आए। आज फिर वैसा ही कुछ अंधेरा है। कौन जाने उनका जीवन और दर्शन आज भी हमें प्रकाश दे सके। इस आशा में ही उनपर विचार करता हूं।

ढाई हजार वर्ष पहिले, आज से, महावीर जन्मे। घर का नाम वर्द्धमान था; महावीर तो बाद में बने जब अपने को जीता। यह जीत बड़ी थी, उससे बड़ी और कोई जीत नहीं है। अपने को जीतना ही सब कुछ जीतना है। कहा है महावीर ने : 'एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।' दुश्मन बाहर नहीं है। वह भीतर ही है; अहंकार में, वासना में वह छिपा है। वह है तो दुख बना ही रहेगा। उसकी समाप्ति पर ही आनन्द है। पर समाप्ति उसकी आसान नहीं है। जन्म-जन्मांतरों में उससे उलझकर ही विजय श्री मिलती

> ★ यह अनेकांतवादी दृष्टिकोण महावीर के सर्वसमन्वयी दर्शन का आधार है। इस समन्वयवादी उदारता के कारण ही वे लोक पूज्य हुए थे। सब उन्हें स्वीकृत है, सबका आदर है, सबके प्रति अनंत करुणा है। उनका प्रभाव युग पर अभूतपूर्व था।

है। महावीर को भी यह विजय एक दिन में नहीं मिली। अनेक जन्मों का संघर्ष पीछे था। धर्म ग्रन्थ कहते हैं कि बहुत जन्म पीछे उनका जीव एक भील के शरीर में था। नाम था पुरूरवा। पुरूरवा और उसकी पत्नी शिकार को निकले थे। उन्हें एक झाड़ी मे दो आंखें चमकती दिखीं। पुरूरवा ने तीर निकाल कर धनुष पर चढ़ाया। तीर धनुष से निकलने को ही था कि पत्नी ने रोक दिया। कहा: "वहां शिकार नहीं; कोई वन देवता बैठे हैं।" दोनों वहां गये और सच ही झाड़ी में एक मुनि को ध्यानस्थ पाया। मुनि समाधि से उठे तो उन्होने कहा : 'भील राज! इस मोह में क्यों पड़े हो ? तुम चाहो तो लोक को अपना सेवक बना लो!" पुरूरवा ने साश्चर्य पूछा: "सो कैसे ?" साधु ने कहा, "कुछ नहीं, जरा सी बात है। अपने को जीत लो। विजय फिर तुम्हारी। इस शरीर को अपना मानना भ्रांति है। यह शरीर यही मिट्टी में पड़ा रह जायेगा। जो हंस भीतर है, वह उड़ जायेगा। वही तुम हो। इसलिए तुम अमर हो। शरीर छूटने पर भी तुम रहोगे फिर शरीर के मोह में क्यों पड़े हो। छोड़ो यह दासता।" भील ने कहा; "आप भूलते हैं। मैं दास नहीं। भीलों का सरदार हूं"। साधु हँसे थे और उनसे निकला था: 'भोले पुरूरवा!

तू सरदार कहां है ? दो अंगुल की तुच्छ जीभ तो तुझे अपना दास बनाये हुए है। उसके स्वाद के लिए तू जीवों के प्राण लेता फिरता है। उसकी आज्ञा तू कहां टाल पाता है। फिर बता, तू दास नहीं है ?" पुरूरवा को सत्य दीखा—अपनी दासता दीखी। उसके मन में बात लग गई। उसकी चेतना के समक्ष जैसे एक नया द्वार खुल गया। एक नये संकल्प ने उसे घेर लिया। स्वतन्त्र होना है। अपना मालिक होना है। और पुरूरवा में महावीर का बीज पड़ गया। यही पुरूरवा बाद में महावीर हुआ। बीच में अनेक जन्मों की उतार चढ़ाव की कथायें हैं। लम्बा संघर्ष है और तब प्राप्ति है। पर प्रयास व्यर्थ नहीं जाते हैं। हिंसक पुरूरवा—न कुछ पुरूरवा, महावीर बन जाता है, सर्वज्ञ, आत्मज्ञानी। सबका पूज्य और सबका मार्ग-द्रष्टा। सतश्रम उपादेय है। यह श्रम ही सच्ची संपत्ति है। यह श्रम ही पुरूरवा को महावीर तक ले आया। महान् उद्योग महान् पद तक ले आता है। श्रम पर यह आस्था ही श्रमण संस्कृति का मूलाधार है। मानवात्मा के विकास की संभावनायें अनंत हैं प्रयास भर साथ हो तो दास ही प्रभु बन जाता है; आत्मा ही परमात्मा बन जाती है।

महावीर राजा के घर जन्मे। सब कुछ था, सब सुख की सामग्री थी। सामग्री दिखी पर उसमें उन्हें सुख न दिखा। क्या थी कमी ? पर कुछ भी भाया नहीं। कुछ भी उन्हें उलझा न सका। सब था, पर उसकी क्षणभंगुरता स्पष्ट थी। संसार में सुख का आभास था, सुख न था। वे विवाह योग्य हुए। मां ने विवाह का आग्रह किया तो महावीर ने कहा:—"मां, क्या कहती हो आयु का क्या भरोसा–काया का क्या भरोसा। अभी हैं, अभी न हो। इससे जीवन व्यर्थ करने को मेरे पास समय कहां है ? मुझे तो अपने को जीतने के पराक्रम में लगना है।" यह विचार यह वैराग्य भाव गहरे उनके मन में बैठता गया। जीवन का दुख साफ था; उसकी माया में खोना संभव ही कैसे था ? कहा महावीर ने, 'जन्म का दुख है, जरा का दुख है रोग और मरण का दुख है। संसार दुख रूप ही है।" इस दुख से ऊपर कैसे उठूं ? उसे कैसे पाऊं जो दुख नहीं है, आनन्द है, मर्त्य नहीं है अमृत है ? यह चिन्ता घर कर गई। सत्य का अज्ञान उन्हें काटने लगा। अज्ञान से ऊपर उठे बिना आनन्द नहीं पाया जा सकता है। वस्तुतः तो अज्ञान ही दुख है और अज्ञान है घना, इतना घना कि हम कौन हैं यह भी पता नहीं है! एक मानसिक क्रांति उनके भीतर होने लगी। वह विचारने लगे, "मैंने अपने जीवन का इतना समय व्यर्थ ही गवां दिया...अब समय खोने को नहीं है......जीवन है बहुत अल्प, जैसे ओस की बूंद कुशा की नोक पर थोड़ी देर ही ठहरी रहती है, उसी तरह यह जीवन है......आज है और कल नहीं...फिर बीता समय कभी लौट कर नहीं आता है इसलिए अब अविलम्ब अपने को जानने और जीतने के पराक्रम में लगना ही उपादेय है।"

महावीर ने माता-पिता से सत्य ज्ञान, आत्म ज्ञान की खोज में जाने की आज्ञा मांगी। तपश्चर्या के जीवन में वे प्रविष्ठ होना चाहते थे। माता-पिता को मोह ने घेरा, आज्ञा न दी। महावीर बिना आज्ञा के ही चले नहीं गये। चुपचाप भी निकल जा सकते थे, पर वह उन्होंने नहीं किया। वे किसी को भी दुख न देना चाहते थे। किसी उत्तम कार्य के लिए भी नहीं। उसमें भी वे प्रेम और अहिंसा का मार्ग खोजते थे। सो वे और कुछ दिन रुके। पर यह रुकना ऊपरी ही था। भीतर से तो वे जा ही चुके थे। निर्लेप भाव से वे घर पर ही रहने लगे। घर ही उन्हे वन हो गया क्योंकि आध्यात्मिक परिवर्तन जिस मन में होता है, वह तो बदल ही गया था। इससे ही स्थान बदलने का अति-आग्रह उन्होंने न किया। मां बाप जब न रहे तो उन्होंने बड़े भाई से आज्ञा मांगी। भाई ने कहा, ऐसे दुख में हमें न छोड़ो, कुछ दिन और ठहर जाओ।' सो वे दो वर्ष और ठहरे। इसमें उनकी सत्याग्रही वृत्ति के दर्शन होते है। इतना संयम और धीरज उनमें था।

तीस वर्ष की अवस्था में वे अगृही बने। ताप-वन (भोग विलास) को छोड़कर वे तपोवन के हुए। सब छोड़ा कि अपने को पायें। सारी सम्पत्ति अपनी उनने उनको दे डाली जिनको उसकी आवश्यकता थी। योग-

साधना और तपश्चरण प्रारम्भ हुआ। परिचित से अपरिचित, ज्ञात से अज्ञात और जन से निर्जन की ओर उनका प्रयाण हुआ। लक्ष्य था। मन, वचन, काय की चंचल वृत्तियों पर विजय पाना। कारण, ऐसे ही अपने को जीता जा सकता था। इनके ही कारण दासता है, दुख है और जन्म-मरण है। इस आत्म-विजय के लिए विकृति का परित्याग आवश्यक था। सो उन्होंने विकृति को छोड़ा और प्रकृति की मुद्रा को ग्रहण किया। भीतर से, बाहर से जो प्रकृत है, उसका ही होना उनका नियम बन गया। अब वे दिगम्बर तपस्वी हो गये। पूर्ण अपरिग्रह साधा, तन के कपड़े भी छूट गये। यह अपरिग्रह ऊपर ही न था। असली छोड़ना तो अन्तर में है। अपरिग्रह यानी अनासक्ति। आसक्ति है तो बाह्य परिग्रह के अभाव में भी मन अपरिग्रही नहीं होता है। इससे अपरिग्रह के लिए अनासक्ति अनिवार्य शर्त हैं, अन्तर से रस का जाना आवश्यक हैं। बाहर छोड़ने से भीतर नहीं छूटता, पर भीतर छूट गया तो बाहर ठहराने को क्या रह जाता है। जैसे पके पत्ते वृक्ष से छूट जाते है, वैसे ही बाह्य परिग्रह झड़ जाता हैं। महावीर ने कहा भी है:-वस्त्रादि स्थूल पदार्थ परिग्रह नहीं है। वास्तविक परिग्रह तो पर-पदार्थ पर मूर्छा-आसक्ति है।" उनका अन्तरंग इस साधना में निर्मल होने लगा शांति उतरने लगी, सत्य साक्षात् का दिन करीब आने लगा। वे एकांकी, निस्पृह, शांत, पाणिपात्र यतिपति हो गये। शीत, उष्ण वर्षादि ऋतुओं के प्रचंडरूप से वे तनिक भी विचलित न होते थे। वह दुर्द्धर्ष-साधना थी। अनेकानेक उपसर्ग आये। कल्पना थर्रा जाय ऐसे कष्ट अज्ञानियों से उन्हें मिले। पर सब उनने सहा क्यों कि सहना ही तो साधना थी। इस अग्नि से निकलकर ही तो वे निखरा सोना बन सकते थे। कष्ट इसलिए वास्तव में उन्हें कष्ट न थे। हमें उनका वर्णन कंपा देता है पर साधक महावीर के लिए वह कुछ भी न था। वह सब अनिवार्य था, कर्मफल था और इससे उनके सामने कोई प्रश्न उपस्थित न करता था। काया को पहुंचाया गया कष्ट जैसे कष्ट ही न था, जैसे वह इष्ट था। उससे होकर ही मार्ग जाता था, सो वह भी प्रिय था, वह भी आनन्द था। हमें यह निर्मम दीख सकता है। उसमें केवल छोड़ना तपना और कष्ट सहना दीख सकता है क्योंकि उसके भीतर के आनन्द की उपलब्धि हमें सहज गोचर नहीं होती है। पर उन्हें वह निश्चय आनन्द था। वह ही आनन्द है। त्याग ही आनन्द है क्योंकि उससे ही उस स्वर की प्राप्ति है जिसके अभाव में सब दुख है, पीड़ा है और मृत्यु है। सम्राट श्रेणिक बिम्बसार को भी यह दुर्द्धर्ष तप कष्ट मय दीखा होगा। उन्होंने महावीर से पूछा था; "युवक थे आप.......राज्य वैभव था...फिर आप त्यागी क्यों बने? इस वयस में प्रत्येक आनन्द-भोगता है...फिर आपने यह कष्ट का......त्याग का मार्ग क्यों पकड़ा?" महावीर ने उत्तर में कहा था; श्रेणिक! लोक की यही तो भूल है-कि वह भोगों में...इन्द्रिय वासनाओं की तृप्ति में आनन्द मानता है लोक के सारे उपद्रव इसी भूल से होते हैं.......जो मानव होकर भी मनन करना नहीं जानते वही विषय वासनाओं की पूर्ति में आनन्द पाने का धोका खाते हैं जो सार को सार और असार को असार मानते हैं, वही सार को पाते हैं। लोक में रस्सी या लोहे के बंधन दिखते हैं परन्तु वह दृढ़ बन्धन नहीं हैं। वस्तुत: दृढ़ बंधन इंद्रिय-भोगों में आसक्त होना, वासनाओं में बंधना है........भटकन है उनमें प्राप्ति नहीं है...। इससे सुख भोग में नहीं, त्याग में है। संसार में आसक्त प्राणी सुख को नहीं पा सकता है क्योंकि वह वासनाओं का दास होता है।....दासता में आनन्द कहां? इससे, श्रेणिक! आत्म-स्वातंत्र्य ही सुख मूल है।"

यह तप द्वादश वर्ष चला। महावीर इस आत्म-यज्ञ से निखरकर पूर्ण पुरुष बने। बन्धन मुक्त हुए। निर्ग्रन्थ कहलाए। मन पर अब कोई गांठ न थी। सरल और सहज स्वरूप में वे स्थित हुए थे। तम कट गया था और प्रकाश का अवतरण हुआ था। ऋजुकूला के तट पर मोहनीय कर्म का क्षय करके उन्होंने वीतरागता प्राप्त की। समभाव और समदृष्टि उन्हें मिली। मन पर उनके अब न राग था, न विराग था, अब वे वीतराग थे। जड़ता का परिहार हो गया था, पुद्गल के मोह-स्पर्श से विमुक्ति हो गई थी। इस प्रकाश में उन्होंने जाना कि आत्मा ही स्व है। शेष पर है। और इस सत्य का अज्ञान ही एक-

मात्र शत्रु है। आत्मस्थित, स्थितप्रज्ञ होकर सर्वज्ञ और सवदर्शी जिन वे कहलाए। जिन, क्योंकि उन्होंने अपने को जीता और शत्रुता को जीता। यह नहीं कि फिर उनके शत्रु न रहे पर यह कि उनके मन में शत्रुता न रही। वैर और विग्रह का बीज तक उनकी मनोभूमि में जड़ से उखड़ रहा है। यह उनकी आत्म साधना कोरी तत्व–साधना ही न थी, प्रेम साधना थी। इससे ही इस मंथन से जो अमृत निकला वह थी अहिंसा। अहिंसा यानी प्रेम अहिंसा यानी कुर्बानी, अहिंसा यानी आस्तिकता। अपने स्वरूप तक और सत्य तक पहुंचने का इसके सिवाय कोई और मार्ग नहीं। अहिंसा का अर्थ है दूसरों का मूल्य भी अपने बराबर ही मानना। अहिंसा संपूर्ण जीवन के प्रति एक सद्भावना है। यह विशुद्ध प्रेम है, अनन्त करुणा और अपार मैत्री भावना है। महावीर के अमृत वचनों में हम पढ़ते हैं। "जीवन सब को प्रिय है, सब ही जीना चाहते हैं, अतः किसी को जरा भी दुख न दो।" दुख देकर दूसरों को हम कभी भी सुखी नहीं हो सकते हैं। दूसरों को दिया गया दुख दोगुना होकर हम पर ही वापिस लौट आता है। महावीर ने अहिंसा के परम धर्म को बड़ी पूर्णता तक पहुंचाया है। इसकी बड़ी मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म व्याख्या की है। हिंसा दो प्रकार की है। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। भावहिंसा ही जड़ में है। हिंसा का विचार भी करना पाप-कर्म बांधना है। मन में उसका भाव उठाना ही पतन के लिए पर्याप्त है। इससे अहिंसक को अपने आपको सबके प्रति इतने असीम प्रेम से भरना आवश्यक है कि स्वप्न में भी उसे दूसरों को दुखी करने का विचार न उठ पाये। समग्र जगत के प्रति दुर्भाव के अभाव की इस स्थिति के बिना कोई भी आंतरिक शांति को नहीं पा सकता है। यही ज्ञान है। हिंसा अज्ञान में ही संभव है। ज्ञानी हिंसक नहीं हो सकता है क्योंकि वह जिसे अपने भीतर देखता है, उसे ही औरों के भीतर भी पाता है। महावीर के शब्दों में। "ज्ञानी का सार-ज्ञान यही है कि वह किसी की किंचित् भी हिंसा न करे। 'अहिंसा सर्वोपरि है'—यही विज्ञान है।" वे कहते थे कि 'जो अपने को अप्रिय है, वह दूसरों को भी अप्रिय भायेगा'—इस सत्य की उपेक्षा करके जो भी व्यवहार मनुष्य करता है, वह सब पापाचार है।" महावीर ने इस पापाचार को मुख्यतः पांच प्रकार का बतलाया है: (१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) कुशील और (५) परिग्रह।

इन पांच से ऊपर उठकर ही महावीर ने अपने को पाया था। पाया था कि इनसे मुक्त होकर आत्मा शुद्ध हो जाती है। यह शुद्धआत्मा ही परमात्मा है परमात्मा कोई अलग परसत्ता नहीं है। वह मुझसे भिन्न नहीं है। आपसे भिन्न नहीं है। मैं ही वह हूं। अशुद्ध होकर जीव हूं, अमुक्त हूं। शुद्ध होकर मुक्त हूं और प्रभु हूं। महावीर की इस उद्घोषणा में बड़ा आश्वासन है। मनुष्य पर बड़ी आस्था है। वे आत्म स्वातन्त्र्य को जीवन का लक्ष्य मानते थे, इसमें ईश्वर की कल्पना को भी वे बाधा नहीं बनने देना चाहते थे। इससे ही उनने मनुष्य को ईश्वर से मुक्त किया और अपने पैरों पर खड़े होने की सलाह दी। अपने बन्धन के लिए मैं ही उत्तरदायी हूं, अपनी मुक्ति के लिए भी। कोई अन्य इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। सब विकल्प मेरे सामने हैं, चुनने को मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूं और जो मैं चुनूंगा वही मैं हो जाऊंगा। प्रत्येक जीव स्वयं अपना भाग्य निर्माता और भोक्ता है। मनुष्य अपने कर्म निरन्तर अपना ही निर्माण करता चलता है। इससे अत्यन्त सावधानी से रहने और कर्म करने की आवश्यकता है, कारण, जो हम आज करेंगे वही हमारा कल होने को है। महावीर से पूछा गया था, 'भन्ते। कैसे रहें जिससे पाप–कर्म का बन्धन न हो?" तो महावीर ने कहा था, "आयुष्मन। विवेक से चले, विवेक से खड़ा हो, विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से भोजन करे, और विवेक से ही बोले तो पाप–कर्म नहीं बंधता है।... पापों से आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिये...अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है...सुरक्षित आत्मा मुक्त हो जाती है।" इस निरन्तर जागरूकता और सुरक्षा का भार प्रत्येक का अपने ऊपर है, कोई इसे बांट नहीं सकता है। प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं ही और अकेले ही तय करना है।

महावीर का दर्शन विशुद्ध आत्म–दर्शन है। मनुष्य शरीर ही नहीं है। शरीर में है पर शरीर पर ही समाप्त

नहीं है। शरीर से पार और प्रथक उसकी असली सत्ता है। इन्द्रभूति को आत्मा की सत्ता के संबंध में शंकित देख उन्होंने कहा था, "निश्चय जानो कि आत्मा है। उसका सर्वथा न कभी अभाव हुआ है, न है और न होगा।... यद्यपि स्थूल नेत्रों से आत्मा दिखाई नहीं देती क्योंकि वह रूप रस-गंध-वर्ण रहित है...फिर भी देह से वह विज्ञान-मयी चेतना भिन्न है...वह देह की, पंचभूतों की उपज नहीं है...पांचों तत्वों में कोई भी चेतना नहीं है और अचेतन—जड़ पदार्थों चेतना का उद्भव कैसे हो सकता है ?....जो है जगत में उसका नाश नही है और जो नहीं है वह हो नहीं सकता है।......फिर पंचभूतों के अंशों का ही परिणाम आदि चैतन्य भाव हो तो वह अखंड कैसे होगा ! वह तो उतने ही अंशों में बंटा होगा......परन्तु यह मनुष्य का अनुभव नहीं है...वह एक है और अखंड है...वह अखंड पदार्थ आत्मा है।"

महावीर ने जीवन और जगत सत्ता की बड़ी सूक्ष्म और वैज्ञानिक व्याख्या की है। उनका सिद्धान्त एक विज्ञान की भांति कार्य कारण सूत्र पर आधारित है। वे कहा करते थे, "कर्म क्षय करना है तो कर्मों के पैदा करने वाले कारणों को ढूंढो। और उनको छेद कर अक्षय यश का संचय करो।" महावीर का दर्शन दार्शनिक जिज्ञासा से अधिक जीवन की उत्कर्ष चेष्टा में से प्राप्त हुआ है, इससे कोरी बौद्धिक तात्विक व्याख्या का आग्रह उसमें नहीं है, जीवन दुख है, दुख के पार होना है, इसलिए दुख के पार ले जाने वाला मार्ग ही महत्वपूर्ण और विचारणीय है। इससे सृष्टि कैसे बनी, किसने बनाई, क्यों बनाई आदि प्रश्नों को महावीर ने बाद दे दी है। सृष्टि तो है अनादि, वे कहेंगे, इससे उसके कर्ता का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल यह है कि यह सृष्टि जो दुख और उलझन से भरी है, यह जो निरन्तर भव-बाधा है, उससे निस्तार कैसे मिले। संसार जो बन्धन है उसमें से जीव अपना मोक्ष कैसे साधे। महावीर द्वारा जगत-सत्ता को सात तत्वों में विभाजित करने के पीछे भी यही भाव परिलक्षित होता है। उनके सात तत्व हैं : (१) जीव, (२ अजीव, (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा, और (७) मोक्ष। जगत् जीव और अजीव में विभक्त है। जड़-तत्व और चेतना दोनों स्वरूप में गुणात्मक रूप से भिन्न और प्रथक हैं। आस्रव का अर्थ है चेतना पर कर्म-मल का आना। कर्म-आयाति का नाम ही आस्रव है। प्रत्येक कर्म अपने साथ अपना 'बंध' लाता है। कर्म करके ही इति नहीं है। कर्म तो जा चुका होता है पर उसका संस्कार छूट जाता है। ये संस्कार—ये कर्माणु—आत्मा के साथ चलते हैं। इनसे ही उसके कार्माण शरीर का निर्माण होता है। मृत्यु में भौतिक शरीर गिर जाता है पर कार्माण शरीर बना रहता है। यह कर्म-बंध ही जन्म जन्म में भटकता है। कार्माण शरीर के विसर्जन के लिए आस्रव का रोकना आवश्यक है। इससे महावीर का 'संवर' तत्व निकलता है। संवर अर्थात् रोकना। कर्म-मल विसर्जन के दो पहलू हैं, (१) नये कर्माणुओं को आने से रोकना और (२) संचित कर्माणुओं को बाहर करना। 'संवर' से पहले का अर्थ है 'निर्जरा' से दूसरे का। समग्र कर्म संस्कारों से आत्मा कब पृथक हो जाती है तो इस अवस्था का नाम ही 'मोक्ष' है। मोक्ष कोई स्थानिक धारणा नहीं है, मोक्ष आत्मा की स्वरूप अवस्था है। अपने में आकर ही आत्मा मुक्त हो जाती है। महावीर वाणी में कहा गया है, 'तपस्या के द्वारा बंधे कर्मों की निर्जरा से आत्मा मुक्त हो जाती है......कर्म ही बन्धन है। मन, वचन, कार्य द्वारा यदि जीव संवर पाले तो पाप कर्म नहीं बंधते और तपस्या से संचित कर्मों का नाश हो जाता है। इस प्रकार नये कर्मों (आस्रव) के रुक जाने से और पुराने कर्मों के क्षय (निर्जरा) हो जाने से संसार भ्रमण का अन्त हो जाता है .... निसंदेह, कर्मक्षय से ही दुखक्षय होता है... दुखक्षय से वेदना क्षय होती है और वेदना-क्षय से सब दुखों की निर्जरा हो जाती है...और इस तरह जीव मुक्त होकर शुद्ध बुद्ध परमात्मा स्वरूप को पा लेता है।

महावीर ने जो कहा वह कोई नया सत्य न था और फिर वस्तुतः सत्य नया-पुराना होता भी कहां है ? उन्होंने वही कहा जो सनातन है और सदा से है। वे कोई नया धर्म स्थापित करने न आये थे। वे धर्म को नहीं, धर्म में

खोयी निष्ठा को पुनर्स्थापित करना चाहते थे। सत्य तो एक ही है, वह अनेक कैसे हो सकता है। देखने की दृष्टियाँ भिन्न हो सकती हैं, पहुंचने के मार्ग अलग हो सकते हैं पर इससे वह अलग नहीं हो जाता है जिस तक कि पहुंचना है। महावीर के प्रति विश्व इस आत्यंतिक रूप से असंप्रदायिक और अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि दान के लिए सदा ऋणी रहेगा। उन्होंने कहा मताग्रह पाप है। मैं सही हूं और दूसरा गलत है, यह दृष्टि हिंसक और अहंकारी है। मैं भी सही हो सकता हूं, दूसरा भी सही हो सकता है। यह भी सही हो सकता है, वह भी सही हो सकता है। उनका यह ही के स्थान पर 'भी' पर जोर तत्व चिंतन के जगत में एक महान् क्रांति है। सत्याग्रह का साधक मताग्रही कैसे हो सकता है। सत्य अनेक विधि दीखेगा, निरूपण भी उसका अनेक रूप से होगा। एक मत का आग्रह, हर अनेक का अस्वीकार है, इसलिए अनजाने वह सत्य का तिरस्कार बनता है। इससे उन्होंने किसी का विरोध नहीं किया है, खंडन नहीं किया है, सत्य जैसा दीखा है उसका पक्षपात रहित ही निरूपण किया है। सत्य ही उन्हें महत्वपूर्ण था, सत्य के संबन्ध में प्रगट विचार नहीं। उन विचारों पर रुककर विरोध वैमनस्य होता है। विचार सीमित है, भाषा सीमित है, दृष्टि सीमित है, इसलिए निश्चय ही, असीम सत्य उनमें पूरा पूरा समाता नहीं है। अजात शत्रु से महावीर ने कहा था, "मनुष्य की दृष्टि परिमित और सीमित है— वह कथंचित् ही वस्तु को देख सकती है। वस्तु का सर्वांग ज्ञान उसे युगपत नहीं होता है और वह उसका विधान करने में असमर्थ है...वस्तु अनंत धर्मात्मक....वह परिवर्तन की रंग भूमि है, निरन्तर बहने वाला प्रवाह है... वह इन्द्रिय बोध, बुद्धि कल्पनाओं और वचन कलापों से बहुत अधिक है। वह वर्तमान में वर्तता हुआ भी, भूत–भविष्यत् दोनों को अपने गर्भ में समाये हुए है। वह केवल ज्ञान–गम्य है उसका अनंतवां भाग बुद्धिगम्य है उसका भी अनन्तवां भाग शब्द गोचर है।" इसमें शब्दों पर विवाद व्यर्थ है। विचारों पर मताग्रह व्यर्थ है। सत्य को बौद्धिक विश्लेषण से नहीं, आत्मिक अनुभूति से ही पाया जा सकता है।

यह अनेकांतवादी दृष्टिकोण महावीर के सर्व–समन्वयी दर्शन का आधार है। इस समन्वयवादी उदारता के कारण ही वे लोक पूज्य हुए थे। सब उन्हें स्वीकृत हैं, सबका आदर है, सबके प्रति अनंत करुणा है। उनका प्रभाव युग पर अभूतपूर्व था। जो निकट आया सो उनका हो गया। दूर दूर तक उनके जीवन को सुगंधि पहुंची। वे लोक के लिए जीवन के दुखों से पार ले जाने वाले तीर्थ बन गए। सर्व आत्म कल्याणकारी तीर्थ का प्रवर्तन उनके द्वारा हुआ। तीर्थ का अर्थ है, 'जिसके द्वारा तिरा जाये'। इससे ही वे तीर्थंकर कहलाये। आचार्य समन्तभद्र ने उन्हें 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है क्योंकि उनके हृदय के द्वार सबके लिए खुले थे। कोई जाति-पांति का भेद न था, स्त्री-पुरुष की भिन्नता न थी। सब आमन्त्रित थे सब उनकी करुणा के समान पात्र थे। उनकी छाप सब पर पड़ी जिसके चिन्ह आज भी एकदम मिट नहीं गये हैं हम जो आज हैं, हमारी संस्कृति जो आज है, वह उनके बिना ऐसी नहीं हो सकती थी। सोचता हूं कभी, क्यों था इतना अद्भुत उनका प्रभाव ? कहां से यह आलौकिक शक्ति उनमें आई थी ? उत्तर खोजने दूर नहीं जाना पड़ता है, महावीर की दिव्य प्रतिमा आंखों में खड़ी हो जाती है। आज भी वह शांति देती है, पवित्र करती है। उनके प्रभाव का कारण स्पष्ट हो जाता है, उन्होने वही कहा जो किया था। उनके विचार और आचार से अन्तराल न था। विचार और कर्म एक था। विचार अपने में मृत है, आचार में उतर कर ही वह जीवन्त बनता है। महावीर का अभूतपूर्व प्रभाव इसी तथ्य में निहित है। उपदेश नहीं, आदर्श–उदाहरण ही कार्यकारी होता है। वह जो अपने को तपाता है अपने को जीतता है, सत्य जिसे बौद्धिक ही नहीं, अनुभूतिगत होता है, निश्चय ही उसकी विचारधारा देश और काल में निस्सीम प्रभाव डालती है। इस अर्थ में महावीर दूर होकर भी हमसे दूर नहीं हैं। उनका प्रभाव आज भी जीवित है, उनकी प्रतिमा आज भी हमारे हृदयों में बैठी हुई है। ऐसा नहीं लगता है कि काल की अपेक्षा से वे हमसे दूर हो गये हैं, पर काश ! उनके प्रभाव को हम अपने जीवन में भी उतार पायें, उनके त्याग, उनकी अहिंसा, उनकी समन्वय साधना को, तो इतना निश्चित है कि वे आज भी उलझन, अन्धेरे और दुख से हमें बाहर ले जा सकते हैं। ●

Ram Chandra Jain
Hony. Director, Institute of Bharatalogical Research, Sriganganagar.

Fitth Vow of Vardhamana Mahavir : its Causes

It was the general sccial atmosphere of moral decadence that influenced the judgement of Mahavira to independently propound the vow of Brahmacharya.

Brahmacharya, according to Vardhamana, was not the study of Vedic or any other literature or the art of priesthood. It was a conduct of life. Brahmacharva is victory over attachment. It is complete abstinence from sexual intercourse. Nay, it is much more It is complete control over matter.
-- **Editor**

"The first (those under first Tirthankaras) Saints were simple but slow of understanding, the last saints prevaricating and slow of understanding, those between the two simple and wise, hence there are two forms of laws."[1]

Thus said Gautama to Kesi on his question, "The Law taught by the great sage Parsva, recognises but four vows, whilst that of Vardhamana enjoins five. Both laws pursuing the same end, what has caused this difference?"[2]

Gautama's answer may be a complete truth but this does not satisfy the modern scientific scholar. Scholars have accepted that Parsava was a great historical personage and Mahavira came 250 years after him. There must have been great socio-historical forces at work during this period that brought this revolutionary change converting the nature of simple and wise people into prevaricating and slow.

Aryo-Brahms had finally subjugated the western parts of Bharata after their victory in Dasrajna war Circa 1150 B.C. Thay had settled in the region of Saraswati and Drsadvati valleys which they renamed Brahmavarta. Eminent scholars maintain that the Aryo-Brahms, who later came to be known as Vedic people, were associated with great acts of violence in war and in peace which the original people of Bharata strenously opposed. The violence aspect of Vedic culture is rightly given prominence but its another aspect, the aspect of sex-relationship, has not even been given due recognition.

We find three strata of sex-relationship of the Vedic people in Rigveda and later Vedic literature. Firstly, unlicensed communal sex-relationship between man and woman during their nomadic semi-barbarous state continuing up to 1150 B.C., secondly unlicensed free sex-relationship after they adopted the settled patriarchal family state till Circa

1. Sacred Books of the East, Volume 45, 1895, Uttarudhyayana Sutra, 23 26 Page 122.
2. Op. Cit, Utt. Su. 23. 23-24 Page 122.

750 B.C.; and thirdly sex-freedom under regulated family State till circa 600 B.C.

When the Aryans and their successors, the Aryo-Europeans, the-Aryo-Asians, the Aryo-Hittites, the Aryo-Iranians and the Aryo-Brahms, were in the nomadic state; they developed the the patriarchal system as the son was of greater importance to daughter for winning wars and subjugating adversaries. The Aryan people from the very beginning had prejudices against the womanhood. The best utility of the woman was to produce children[1] and specially sons to strengthen their physical might. Vedic people always cherished the birth of a son and that was a great occasion for joy and festivity. They deprecated the birth of a daughter[2].

The Aryans in their earlier stages were organised in tribal collectives. They had a collective system of production which they called Yajna. Idea of relationship like father, mother, son, daughter etc. was absent and men and women had free sexual intercourse with one another in the presence of all. They took part in mass sexual intercourse in the presence of fire, invigorated by the quaffing of plenty of Soma juice or liqour[3]. Yajna seems to have meant in these remote times an orgy of promiscuous sexual intercourse by the side of the alter itself. Yajna means procreation, without any relationship of father and mother, in context of social sex-relationship.

They usually organised popular festivities called Samana. Yaska explains it as an epithet of Yosa (योषा) in the sense of 'Unanimous'[4]. He gives योषा the meaning of a young woman tracing it to √यु 'to mix' literally "mixing with a male"[5]. The sense here clearly is that all males and females met there together with one mind, with unanimity. There was no distinction of father and daughter, mother and son, brother and sister but there was only one distinction of man and woman but both having unanimity of plan and purpose. But Yaska appears to be wrong in taking the principal word as 'Samana'. This may as well be 'Samana'. This fits in well with the historical context. It may be that during the 7th centuries B. C. when Yaska flourished, people might have begun to deride the primitive Samana institution which might have forced him to play intellectualism with grammar. 'Samana' is a proper noun, not an epithit of योष

1. (1) Rigveda 1.91.20; 1.92.13; 3.1.23; 10.42.45; 10.85.25.
   (2) Atharvaveda 3.32.2; 5.35.11
2. Atharyaveda 6 11.3.
3. P. D. Karmakar, The Asvamedha. Its original signification, A. B. O. R. I. vol. 30 Page 341, 343.
4. Siddheswar Varma, Etymologies of Yaska, 1953, Page 66.
5. Op. Cit, Page 82.

signifying 'Communal Festival' where all partaking members of the community were of one mind. Young and old women rushed forth to Samana with joy and felicity to find lovers and to enjoy with their old lovers[1].

This state of sexual-relationship is very correctly reflected in the two epithits signifying this state of affairs. This relationship is summed up in the words Jara[2] and Jaya[3]. Jara means a male human being who is the lover of any woman in the society. This word does not carry the sinister meaning of a voluptuous unsocial element in this age. The sinister meaning was later on attached to this word. Jaya was not used in the sense of Patni or married wife. Any woman of society who bore children from her lover the Jara was called Jaya. This clearly establishes that men and women, without any distinction, could make merriment with each other with mutual consent without social disapproval or blasphemy. Love bears throughout the stamp of an undisguised natural sensuality[4].

Women in this communal context, were known as Yosas (योषा). More beautiful damsels amongst them were known as Usas. Usa in Rigveda is depicted as brilliant and attractive maiden dressed in variegated colours, ever joyful dancing with her breasts open, effulgent in pearless beauty, radiant with her lover, charming and resplendant[5]. They did not belong to the Hetaera class of society as suggested by Pischel and Geldner[6] but that was the general state of the social organisation. What came to be looked down in later times on the division of society into the Noble and the Hated was approbated and revered in the undivided state of society. Urvasis were best among Usas. They could not bind themselves to any one particular man. They belonged to the whole society or Gana. Urvasi, the Ganike was the mother of the illustrious Sage Vasistha[7] but his fatherhood is ambiguous and doubtful. Urvasis were also used to ensnare the effective enemy leaders as in the case of Non-Aryan Pururava. Sex-relationship of the Vedic people, in their earliest stage, was of the type of unrestrained and free communal sex enjoyment.

Aryo-Brahms after their conclusive victory in Dasrajna War had settled in the Saraswati-Drasadvati region. They had earlier come in contact with a

---

1. (1) Rigveda 2.36.1; 4.58.8; 6.75.4; 7.2.5.
   (2) Atharvaveda 2.36.1.
2. Rigveda 1.66.8; 1.117.18; 1.134.3; 1.152.4; 9.32.5.
3. (1) Rigveda 1.105.2; 1.124.7; 3.53.4; 4.3.2; 4.18.3; 9.82.4; 10.10.7; 10.17.1: 10.71.4
   (2) Atharvaveda 8.76.3-5; 19.42.2; 3.30.2; 6.60.1.
4. A Weber, The History of Indian Literature, 1261, Page 38.
5. Rigveda 1.22.10; 2.29.1, 1.92.4.
6. V. M. Apte, Vedic Age, 1957, Page 391.
7. (1) Rigveda 7.33.11.
   (2) S R. Shastri, Women in the Vedic Age, 1954, Page 63.

similar culture in Iran two centuries ago; but in the nomadic state, they did not assimilate much of that culture. The impact of the original Bharatiya culture was very effective on them after they took to settled life. Families on the patriarchal pattern were established. Aryo-Brahms or the Vedic people were in possession of a vast domain of land, prosperous in agriculture and industry with a very high state of culture and civilization. The wholesale massacre of the original people of Bharat on battle fields left numerous widows as prizes of war whom they took as their slaves and concubines. Indra led the process. He took to concubinage the widow of Puru Purukutsa, the leader of the Ten-Republics confederacy, Purukut sani Narmada who afterwards gave birth to a levirate son Trasadasyu from Indra[1].

The Vedic people were great intellectuals. They readily understood that their old tribal collective way of life and socio-economic institution of Yajna could not endure in their original form in the altered circumstances. Their first reaction to the influence of the spiritual Bharatiya culture was that they disintegrated their tribal life and took to family life. Communal production and procreation had also to be given up but they did not give up their basic concept of collectivity. Kingship was created and all families were made subject to it. Yajna was the highest and best duty of the King and hence socio-economic life of the people was subordinated to the institution of Yajana. Thus the direct social, economic and public life became ritualised.

The conquerers changed their institutions to suit the changed circumstances but the state of their sex-relationship continued to be the same, rather in an aggravated form. The existence of the widows of Aryo-Brahms adversaries accelerated the process. With the establishment of the institution of family, the institution of Marriage was also evolved. But the old tradition of communal sex-relationship could not die in one day. Polygamy[2] and Polyandry existed side by side. Women, widows or having their husbands living, bore levirate children as Trasadaysu and Upamasravas by Niyoga custom.[4] Unmarried maidens bore children[5] and had paramours.

---

1. Rigveda 4.42.8-9.
2. Rigveda 1.62.11; 1.71.1; 1.104.3; 105.8; 1.112.19; 1.186.7; 6.53.4; 7.18 2; 7.26 3 10.43.1; 10.101.11.
3. Rigveda 1.167.4 to 6; 8.29.8; 10.85.37-38.
4. (1) Rigveda 10.40.2; 4.42.8-9, 10.33.6-7.
   (2) Atharvaveda 10.18.8
   (3) R. C. Jain, Origin of Kuru Tribe, read before History Section of the Oriental Conference.
5. (1) Rigveda 2.15.5;
   (2) Atharvaveda 8.6.13.

Unmarried girls were immoral[10] and married women went astray[11]. The maidens and the married women had their lovers but they were not looked askance by society.[1]

Incestuous intercourse between father and daughter has been recorded in Rgveda (10.61.5-7) but that appears to be the memory of a faded ancient social event. But sexual intercoures between brother and sister[1] has not yet died out though it was in the state of fast decadence as is evidenced by Yama-Yami dialogue (Rigveda 1010).

Though the practice of promiscuous mass sexual intercourse in public was discontinued; its memory was still cherished in this period. After the slaying of Horse in Asvamedha; the chief queen had to lie down with the dead horse in a state of sexual intercourse. She was accompanied by three other queens and four hundred attendants including maidens (कुमारी), women discarded by their husbands (परित्यक्ता) and oversexed amazon type of women (बावाता)[2]. There may or may not have been mass sexual intercourse with them but at the least, this clearly establishes that the ancient practice was ritualised and still remembered with joy and felicity.

Women were fast losing their independance. They were reduced to the status of chattel and were owned and disposed of by man like chattel. They could be given away as sacrificial fees to the priests alongwith gold and cattle. Abhyarartin and Vasistha got two damsels each in Dana or gift[3]. Risi Sobhari got 500 Vadhus tn gift[4]. Word 'Vadhu' (वधू) has a significant pointer in this context. Vadhus are those women who are carried away by force or with consent and made wives or concubines. Vadhu in the sense of a married wife is a post-Mahavir growth. Anga gave 10,000 female-slaves to his priest Aitareya[5]. Rsi Aruni[6] possessed Dasis. Aswins presented fair-skinned women to black Kanva[7]. Rsis and others guests could get the daughter and the wife of the host for their temporary sexual use[8]. Women were getting to be the victims of the best of the men in power, the kings, the priests and their henchmen. The

---

1. Rigveda 1.124.7; 4.5.5; 8.35.3.
2. Rigveda 1.134.3; 9.32.5.
8. Rigveda 8.91.4; 2.29.1; 8.17.7;
4. Atharvaveda 8.6.7.
5. R D. Karamakar, op-Cit, Page 342.
6. Rigveda 6.27.7; 7.18.22-23
7. Rigveda 8.19.36.
8. Aitereya Brahmana 8 22
9. Brhadoranyaka Upanisad 6.2.7;
10. Rigveda 1.116.23; 1.117.7-8; 8.85.3-4; 8.50.10
11. J. J. Meyer, Sexual life in Ancient India, 1952, page 512 (507 to 518).

moral decadence had set in and women were degraded to a worse position than they enjoyed in the early primitive state of communal life. We find great confusion in sex-relationship in the age.

Rigvada was redacted Circa 1000 B.C. This age culminated in the redaction of later Samhitas, Tenth Mandal of Rigveda and Brahmanas. This happened Circa 750 B. C. The new culture had been established by violence and it was through violence that it solidified its power. Ritualisation of sacrifices symbolised the highest stage of violence. This violence brought in human degradation preparing field for the slavery of womanhood. Parsva came on the historical scene in this age in the foot-steps of Munis and Sisnadevas of the pre-Rigvedic and Rigvedic fame. He mainly directed all his spiritual energies against the forces of violence. He gave to humanity the call for the re-establishment of the order of non-violence. He was very much successful in reducing the quantity of violence in Vedic way of life. Vedic society reacted to this non-violent onslaught by adopting a further change in their way of life. They created three-fold Ashrama System; i. e. Brahmacharya, Grihastha and Vanaprastha. Sanyasa was added later on after the Mahavira age, This regulated family state is the lest but the most important period of sex-relationship circa 750-600 B.C.

Word Ahimsa or non-violence is not found in Samhitas, Brahmanas and Aranyakas. It is found only twice and only in one pre-Mahavira Upanisad; the Chhandojya Upanisad. They indicate that Vedic Risis had begun to appreciate Ahimsa. Vedic violence in sacrifices had become limited in scope and they began to be confined to specially ordained places and occasions[1]. Inhuman and ghastly violence to life had retraced back many of its steps.

But the forces of fast decaying sex-relationship could not be kept in check. Parsva had preached Chujjama Dhama which did not specifically mention a vow regarding sex-relationship. It was included in the fourth vow of Aparigraha; the connotation of the epithet Aparigraha being 'Attachment' (मुच्छा परिग्गाहो)[2] which includes attachment to property and sex both. But after the death of Parsva no outstanding personality of great eminence arose to fight aganist the evil of moral decadance. Yajnavalkya reflected the popular state of affairs in saying that no one cares whether a wife is unchaste or not[3].

A doubt may be raised that when there was so much moral decadence in the age of Parsva; why did he not fight this evil and give a specific vow of Brahmacharya ? His age was marked by the general prevalence of sacrifices in their fullest glory. Brahmavarta witnessed the scenes of great and

1. Chhandogpa Upanisad 3.17.4; 8.15 1
2. Dasvaikalika Sutra 6 21
3. Satapatha Brahmana 1.3.1.21

numerous Asvamedhas. Vedic people were perpetuating great violence to human beings and beasts in the name of culture. Yajna was their chief weapon. The whole atmosphere was surcharged with violence. The period was marked by mass animal sacrifices on large scale. Degeneration in sex-relationship was only a necessary corollary of the violent Yajnas. It was only a branch of a big tree. Parsva attacked the principal evil. He might have thought that the branch will fall with the fall of the tree as Mahatma Gandhi thought that the Princely State would fall with the fall of British India Empire. He was so successful in uprooting the violent Yajnas that they became a memory of the past and the priests of Brhadaranyaka Upanisad bemoaned the fading away of Asvamedhas performed by the Pariksitas of old[1]. It was befitting of a supreme leader that he did not fight on more than one front and channelised all his energies to principal and main front. It paved the way for Mahavira's success against this sex evil.

The old order of sex-relationship in practical and ritualised form continued as before. Vedic people had consolidated their power through Tri-Ashrama system. The institution of Brahmacharya evolved and glorified. It ordained a young boy to live with his master for a certain number of years and learn proficiency in the Art of priesthood. Brahmachari was a pupil, a religious student or student of sacred wisdom[2]. It is not without significance that the word Brahmacharya is not used in the kernel of Rigveda. The Vedic tribal collective was undivided in the earlier stages and there were neither Vernas nor Ashramas. It was only Brahma or Brahma or the tribal collective and everybody acted according to the injunctions of that Brahma. But when Brahma got disreputed, a class had to be created to safeguard the interests of priesthood aud hence we find students for Vedic studies, the art of priesthood.

The discipline of Brahmachari[3] does not include any rule regarding sex-relationship. But one curious rule is included there and it is this—"If a Brahmachari does not look at a naked woman, he obtains the beauty that is in

1. Brhadaranyaka Upanisad 3.3.1-2
2. (1) Rigveda 10.109.2 to 5
   (2) Atharvaveda 6.108.2; 19.19.8; 6.133.3 5.10.3 to 8 and 12 to 17; 5.19.7 and 12 to 15
   (3) Taittiriya Samhita 3.1.9 4, 6.3.10.5.
   (4) Chhandogy Upanisad 4.4.1 and 3; 4.10.1; 8.5.1 and 3; 8.7.3; 8.11.3
   (5) Brhadaranyaka Upanisad 5.2.1; 6. 2.4.
3. (1) Anharvaveda 11.5
   (2) Taithiriya Samhita 6.3.10.5
   (3) Satpath Brahmana 11.3.3.1
   (4) Gopatha Brahmana 1.2.1 to 9
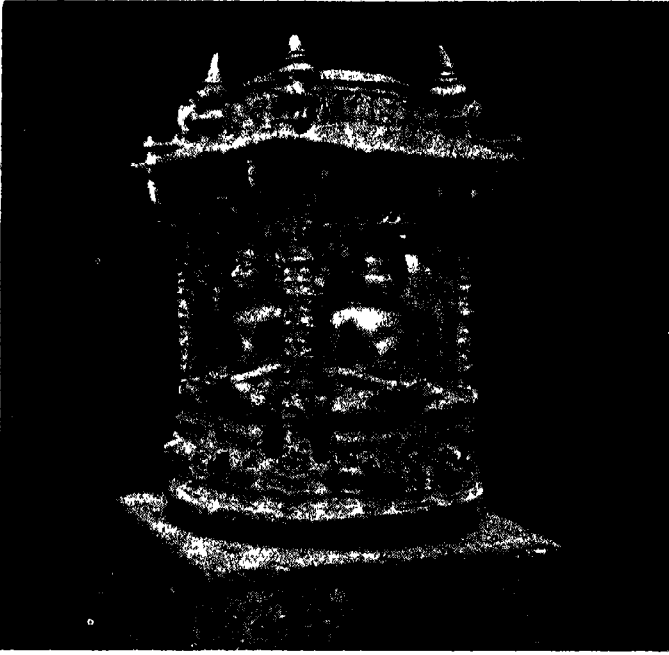
ऊंडा मन्दिर डूंगरपुर का समोसरण की चतुर्मुखी प्रतिमा
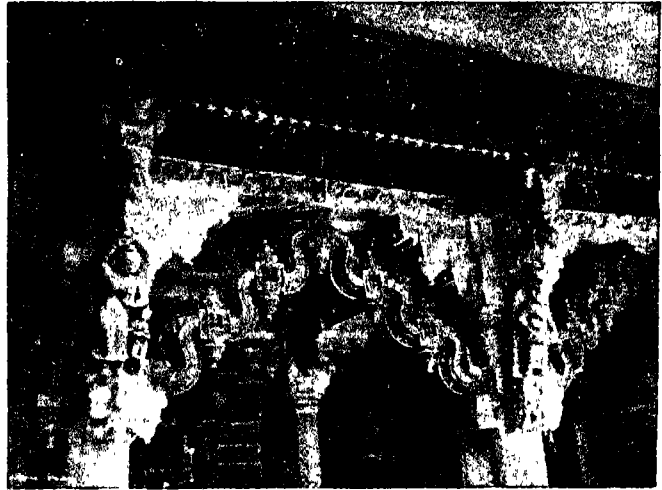
संघीजी का मंदिर सांगानेर

the medium"[1]. This is a rule purely for materialistic benefit. The beauty of a woman may help the Brahmachari in his further years to enjoy more and more carnal pleasures, otherwise the beauty of a maiden is not needed. This is no injunction against sexual intercourse. We find lapses of pupils with the wives of their masters and the sin was considered so trivial that it could be expiated by the recitation of a few mantras.[2] A sacrificial ritual presided over by such a priest required a pair to be united within the sacrificial ground.[3] It appears quite certain that strict celebacy was not a part of discipline of a Brahmachari.

When Vardhaman Mahavira appeared on the historical scene; he found sex-relationship completely shattered. What was more intolerable to him was the state of complete degeneration in the whole of Northern India brought by a foreign ideology of violence and exploitation. Woman who is equal partner of man was being exploited for the lust of man. She had been reduced to the status of slavery to this extent that she was also taken prisoner in war and publically auctioned like a Chattel. The case of Chandanabala is in point. She along with her mother was taken prisoner after her father Dadhivahana, King of Champa, was killed in battle. The conquerer Satanika, king of Vatsas wanted to rape the chastity of her mother who instantaneously committed suicide on the spot. Chandanabala was publicly auctioned.[4] After this event Mahavira attained purest knowledge.[5] His first sermon also included the fifth vow of Brahmacharya along with fourfold vows of Parsva, i. e. Non-Violence, Truth, Non-stealing and non-Attachment or Aparigraha. It was this historical and social setting that led Mahavira to specifically enunciate the vow of Brahmacharya to be followed by Chaturvidhasangha. Hermann Jacobi maintains that men of upright disposition and of quick understanding would not go astray by observing the four vows literally i. e. by not abstaining from sexual intercourse. There was decay of the morals of the monastic order.[5] Jacobi did not sufficiently pay heed to the censequences of the vows of non-violence and non-attachment. A monk strictly observing these two vows could not indulge in an act of violence and attachment which necessarily accompany the act of sexual intercourse. His argument is mechanistic and unreal. The influence of Vedic sex atmosphere had very likely brought in laxity in some saints and lay followers of Parsva and this state also as a part of historical back-

1. M. Bloomfield, Op. Cit, Page 111
2. ( ) Chhavdojya upanisad 5.10.9
   (2) Macdonell and Keith, Vedic Index, 1958, volvme 2 Page 76.
3. Taithiriya Samhita 7.5.9.2
4. Kalpa Sutra, Sutra 96.
5. H. C. Roy Chowdhery, Political History of Ancient India, 1950, Page 109.
6. Sacred Books of the East, volume 45, Page 122 FN3

ground might have influenced the judgement of Mahavira. If the laxity, as suggested by Jacobi, would have been the sole consideration, Mahavira could have set it right by rules of internal discipline alone. But it was the general social atmosphere of moral decadence that influenced the judgment of Mahavira to independently propound the vow of Brahmacharya.

Brahmacharya, according to Vardhaman was not the study of Vedic or any other literature or the art of priesthood. It was a conduct of life. Brahmcharya is victory over attachment. It is complete abstinence from sexual intercourse. Nay, it is much more. It is complete control over Matter.[1]

1. (1) Uttaradhayans Sutra 32 12; 16.10
   (2) Dasavaikelika Sutra 8.59. 8.60.
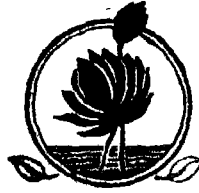
डा सुमतिचन्द

एम. ए (गणित) दर्शनशास्त्री, पी–एच. डी. अमरोहा

आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण

भारतीय दर्शनों में विवेचन की तुलनात्मक पद्धति का अच्छा स्थान है । भारतीय दार्शनिक विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान पर अधिक विश्वास करते थे । यही कारण है कि प्रत्येक भारतीय दार्शनिक अपने ही मन्तव्य का प्रतिपादन करता हुआ दृष्टिगत नहीं होता है, किन्तु अन्य दर्शनों की मान्यताओं की भी समीक्षा करता हुआ दिखाई देता है । आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी तुलनात्मक पद्धति के अनुसार अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा की है, और उनके गुण-दोषों का उद्भावन करते हुए स्वकीय मन्तव्य की स्थापना की है । आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म शास्त्रों का अध्ययन करते समय पाठकों की दृष्टि अनायास ही आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त की ओर आकृष्ट हो जाती है । दोनों ही आचार्यों ने अध्यात्म रूप परमतत्व के सम्बन्ध में प्रचलित विसंवादों को दूर करने का प्रयत्न किया है । दोनों ही आचार्यों की मूल कृतियों पर एक बड़ी संख्या में टीकाएं उपलब्ध होती हैं । आचार्य कुन्दकुन्द की प्रसिद्ध कृति समयसार की अंग्रेजी टीका की भूमिका में प्रोफेसर चक्रवर्ती लिखते है, समयसार के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र सूरि आचार्य शंकर के समकालीन थे । दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों की समानताएं तथा शारीरिक भाष्य में भाषा की समानताएं इस तथ्य को पुष्ट करती हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि और आचार्य शंकर एक दूसरे के विचारों से परिचित अवश्य थे । आचार्य शंकर एक स्थल पर स्वयं लिखते हैं कि उनका सम्पर्क एक द्रविड़ आचार्य से हुआ था । सम्भवतः वे द्रविड़ आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ही हैं ।

आचार्य शंकर परम ब्रह्म को एक मानते हुए विश्व की व्याख्या करने के लिए सत्ता की त्रिरूप कल्पना करते हैं । परमब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी और प्रपञ्चात्मक संसार की सत्ता व्यावहारिकी तथा प्रातिभासिकी कहलाती है । एकरूप पारमार्थिक सत्ता का व्यावहारिक रूप से या प्रातिभासिक रूप से प्रतिभासित होने का कारण माया है जो स्वयं असत् है और असत् को ही जन्म देती है । यहां तक कि पारमार्थिकी दृष्टि से ब्रह्म का सत्, चित् और आनन्द रूप कल्पना करना भी अयथार्थ है । आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मतत्व की व्याख्या के लिए केवल निश्चय और व्यवहार नयों का ही आश्रय नहीं लिया है, किन्तु पक्षातीत तत्व की भी कल्पना की है ।[1] निश्चय नय से साधारणतया उनका अभिप्राय शुद्ध नय से हैं । अशुद्ध निश्चयनय की कल्पना भी जैन दर्शन में पाई जाती हैं, किन्तु आचार्य ब्रह्मदेव अशुद्ध निश्चय नय को व्यवहार नय ही कहते हैं ।[2]

> * करता हो तथा चाहे कितना ही तप करता हो । शुद्धात्मा के लक्ष्य को सदैव दृष्टि के सामने रखना नैतिक या मोक्ष-मार्गीय चेतना का सर्वस्व है । इस दृष्टि का अभाव होते ही जीव मोक्षमार्ग के अपने चरम उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता है । निश्चय नय इसी चरम लक्ष्य के सापेक्ष वस्तु की व्याख्या करता है ।

१. समयसार, गाथा १४६.१५०, और १५१ ।

२. द्रव्य संग्रह वृत्ति. पृ० ८६ ।

शुद्ध नय आत्मा को पूर्णतया कर्मोपाधि से रहित शुद्ध रूप में ही देखता हैं। आत्मा का बाह्य वस्तुओं से, शरीर से, पौद्गलिक कर्मों से और उसकी क्रोधादि अशुद्ध पर्यायों से सम्बन्ध व्यवहार नय से स्थापित किया जाता है।[1] इस व्यवहार नय के भी अनेकों स्तर हैं जो स्थूलतम से सूक्ष्मतम व्यवहार की ओर बढ़ते हुए मालूम होते हैं। आत्मा में ज्ञान दर्शनादिक गुणों की कल्पना भी व्यवहार नय से है, निश्चय से अभेद रूप एक आत्म तत्व का ही ग्रहण होता हैं।[2] जब आचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार नय को अभूतार्थ, तथा शुद्धनय को भूतार्थ कहते हैं[3], तो उनका सिद्धान्त आचार्य शंकर की पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता के अत्यधिक समीप आ जाता है। ब्रह्म के स्थान पर मोहनीय कर्म को रख देने से दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता आ जाती है।

स्याद्वाद जैन दर्शन की ज्ञान मीमांसा का एक महत्व-पूर्ण अंग है। वस्तु को तादात्म्य सम्बन्ध से अनेक धर्मो का आधार मानकर विवक्षा के कारण अपेक्षावाद का जन्म होता है। अपेक्षावाद का प्रारम्भ सद्रूप धर्मों के आधार पर होता है। जब दृष्टि विशेष से किसी धर्म को अभिधेय बनाया जाता है तब शेष धर्मो का अभाव इष्ट नहीं होता किन्तु उनको गौण बना दिया जाता है। दृष्टिकोण बद-लते ही दूसरे धर्म प्रकट होते दिखाई देते हैं।[4] यही कारण है कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ सर्वथा एकात्मक मानना एक दोष पूर्ण प्रत्यय है। आचार्य सम-न्तभद्र कहते हैं कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते है।[5] नय अनियमित रूप से प्रवर्तित नहीं होते। नयों के विभाजन (divis-ions) अनियमित नहीं है, उनके पीछे विभाजन का सिद्धान्त (principal of division) अवश्य होता है। स्याद्वाद विभिन्न दृष्टियों से वस्तु का विवेचन करता है। चूंकि प्रत्येक विवेचन एक दृष्टि विशेष से शासित होता है, अतः वह वस्तु का पूर्ण विव-रण नहीं दे सकता। इन आंशिक विवरणों को केवल पूर्ण वस्तु स्वरूप के सापेक्ष मिथ्या कह सकते हैं। जहां तक सीमित दृष्टिकोण से सम्बन्ध है आंशिक विवरण असत्य नहीं कहे जा सकते। ऐसी स्थिति में पूर्णज्ञान के दृष्टिकोण से आंशिक सत्यों के प्रतिमध्यस्थ भाव ही संगत प्रतीत होता है। यह मध्यस्थ वृत्ति नय पक्षों के ऊपर वस्तु के पूर्णस्वरूप की ओर इशारा करती हैं, जिसके सापेक्ष सभी नय मिथ्या कहें जा सकते हैं। उपाध्याय यशोविजय लिखते हैं कि वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में मध्य-स्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि मध्यस्थ भाव पर बल देते हुए कहते हैं कि व्यवहार और निश्चय को जानकर जो शिष्य मध्यस्थ होता है वही उपदेश का पूर्णफल प्राप्त करता है।[6]

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य शंकर दोनों ही अपने व्यवहारवाद तथा मायावाद को असत् और मिथ्या कहते हैं। विचारणीय विषय यह है कि उनका असत् और मिथ्या से क्या अभिप्राय हैं। आचार्य शकर के लिए व्यावहारिकी सत्ता पारमार्थिकी सत्ता के सापेक्ष ही असत् हो सकती हैं। सत् और असत् के प्रत्यय परस्परा पेक्ष हैं। यदि व्यवहारिकी सत्ता स्वयमेव निरपेक्ष रूप से असत् हो तो विश्व की व्याख्या का प्रश्न ही समाप्त हो जाता

१. समयसार, गाथा ३२, ५५ से ६०।
२. समय सार, गाथा ७।
३. समय सार, गाथा १३।
४. पंचा ध्यायी अध्याय १, श्लोक ५०८।
५. आप्त मीमांसा, श्लोक १०८।
६. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, गाथा ८।

है। माया और माया जन्य प्रभावों को सर्वथा असत् कहने से उनकी सत्ता किसी भी स्तर पर सिद्ध न होगी। जब तीनों प्रकार की सत्ताओं में सत्ता—सामान्य हो तो मानना ही पड़ेगा, अन्यथा व्यावहारिकी और प्रातिभासिक सत्ताओं को सत्ता ही नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का व्यवहार नय सर्वथा असत् और मिथ्या नहीं हो सकता, उसका असद्भाव शुद्ध नय की सापेक्षता में निहित है। यदि आत्मा को एकान्ततः शुद्ध मान लिया जाय तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं सांख्यमत का प्रसङ्ग आने की आपत्ति उठाते हैं।[1] नय—प्रयोग से सर्वत्र आंशिक सत्य की ही उपलब्धि होती है तथा नय—प्रयोग निष्प्रयोजन और निराधार भी नहीं होता, अन्यथा नय—प्रयोग का कोई नियामक ही नहीं रहेगा और सुनय तथा कुनय का भेद मिट जावेगा। व्यवहार नय भी तो एक नय है। सभी नयों के समान उसकी स्थिति भी स्वीकार करनी चाहिए। यदि निश्चय नय के सापेक्ष व्यवहार नय असत् है तो व्यवहार नय के सापेक्ष निश्चय नय भी असत् होना चाहिए, नयों की सत्यता पारस्परिक सापेक्षता में है. निरपेक्ष नय मिथ्या हो जाते हैं।

डा० देवराज विट्ठलेशोपाध्याय के मन्तव्य का निर्देश करते हुए लिखते हैं कि शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त में माया का प्रसङ्ग इसलिए आता है कि मनुष्यों की आस्था संसार में कम हो जाय तथा उनमें वैराग्य-भावना का प्रादुर्भाव हो सके।[2] क्या आचार्य कुन्द-कुन्द भी संसारी जीवों पर करुणा करके वैराग्य-बुद्धि को अनुप्राणित करने के लिए व्यवहार को असत् और मिथ्या कहते हैं? व्यवहार नय के वाक्यों को असत् कहे जाने पर ऐसे प्रश्नों का उठाना आवश्यक प्रतीत होता है। हम क्रोधादि रूप जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अनुभव करते हैं वे किस प्रकार असत् और मिथ्या हो सकते हैं? यदि आत्मा अपनी विभाव पर्यायों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है तो वह पूर्णतया अविकृत है, अतः उसके लिए आचार शास्त्र (ethics) का उपदेश व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त ऐसा मानने पर हम वस्तु के सापेक्ष निरपेक्ष स्वरूप का निषेध करेंगे और केवल निरपेक्ष पक्ष का ही पक्षपात करेंगे। जिस प्रकार वस्तु नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, और एक अनेक रूप है, उसी प्रकार वह सापेक्ष-निरपेक्ष भी है।[3] आत्म तत्व में निहित विभावशक्ति की सार्थकता निमित्त स्वीकार करने में है। यदि निमित्त सर्वथा अकिञ्चित्कर सिद्ध होता है तो विभाव शक्ति की कल्पना व्यर्थ हो जावेगी। शुद्ध नय से आत्मा में विभाव शक्ति का दर्शन ही नहीं हो सकता, अतः केवल शुद्ध नय से निमित्त का अकिञ्चित्करत्व सिद्ध होता है। शुद्ध नय केवल एक है और इसलिए वह केवल आंशिक सत्य का निरुपण करता है। वस्तुतः स्वरूप शुद्ध नय के भी परे है। वास्तव में जब द्रव्य सक्रमण या गुण संक्रमण सम्भव नहीं है,[4] तो कार्यकारण सम्बन्ध में पारस्परिक निमित्तता ही सार्थक प्रतीत होती है। अन्ततोगत्वा कार्यकारण के सिद्धान्त का सही रूप निमित्त कारण ही है। यदि इस सम्बन्ध का निषेध कर दिया तो सभी अर्थ परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न हो जावेंगे और निरपेक्षता रूप ही पक्ष का ग्रहण करने से एकान्त का दोष आ जावेगा।[5] विभाव शक्ति और निमित्त कारण के सम्बन्ध में पं० राजमल्ल लिखते हैं कि उन गुणों में स्वयं वैभाविकी शक्ति है। वह जीव की संसार अवस्था में अपने कारणों से विकृत हो जाती है।[6] यदि गुण-शक्तियों की कल्पना व्यावहारिकी है तो विभाव शक्ति की कल्पना भी व्यावहारिकी है और इसीलिए गुण-शक्तियों की पारमार्थिक एकता में सद्रूप

---

१. समय सार, गाथा १२३।
२. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० १७८।
३. आप्त मीमांसा, श्लोक ३७, ४१, २८, ३३,।
४. समय सार, गाथा ३८५।
५. आप्तमीमांसा, श्लोक ७३।
६. पंचाध्यायी द्वितीय भाग, श्लोक ६४६।

वैभाविकी शक्ति भी सम्मिलित है। गुण-शक्तियों की कल्पना सर्वथा मिथ्या नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा करने से अभेदैकान्त सिद्ध हो जावेगा। जीव और पुद्गल परस्पर निमित्त को स्वीकार करते हुए स्वयमेव परिणमन करते हैं।[1] उनके स्वकीय परिणमन में पारस्परिक निमित्तत्व अभि प्रेत है, अन्यथा पारस्परिक निमित्तत्व की चर्चा भी नहीं उठनी चाहिए थी। दृष्टि विशेष से निमित्त सम्बन्ध का निषेध कर लिया जाता है, किन्तु यह केवल आंशिक सत्य है।

आचार्य कुन्द-कुन्द के नय विभाजन के पीछे उनका एक विशेष दृष्टिकोण है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ समय सार आचार शास्त्र या नीति शास्त्र (ethics) की एक अद्वितीय रचना है जिसमें नीति शास्त्र के गूढ़तम रहस्यों का उद्भावन हुआ है। सम्पूर्ण कृति आत्मकल्याण की तीव्र भावना से ओत प्रोत है। समयसार का प्रत्येक वाक्य आत्मकल्याण के उद्देश्य को सम्मुख रखकर लिखा गया है। इसका अर्थ यह होता है कि आचार्य कुन्द कुन्द के नय-विभाजन के पीछे आत्मकल्याण का उद्देश्य विभाजन सिद्धान्त (principle of diversion) के रूप में स्वीकृत है, अतः आचार्य कुन्द कुन्द के नयों और दृष्टि-कोण को नीति शास्त्रीय (ethical) कहा जा सकता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय अथवा आचार्य उमास्वामी के सप्तनय तत्वशास्त्रीय नये (metaphysical) नय हैं। उनका विधान 'यथावद्वस्तु निर्णीति: सम्यग्ज्ञानम्' का लक्ष्य सामने रखकर किया गया है। आत्मकल्याण की सापेक्षता में वे वस्तु का कथन नहीं करते, किन्तु यथावस्थित वस्तु का आंशिक विवरण देते हैं। नय, चाहे वे तत्व शास्त्रीय हों या नीति शास्त्रीय परमार्थ का आंशिकज्ञान ही दे सकते हैं, अतः सभी नयों के परे एक परमार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। आचार्य कुन्दकुन्द का व्यवहार नय और आचार्य उमास्वामी के तत्वार्थ सूत्र में वर्णित व्यवहार नय एक नहीं है। आचार्य विद्यानन्द स्पष्ट लिखते हैं कि तत्वार्थ सूत्र का व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय है,[2] उसका तादात्म्य आचार्य कुन्दकुन्द के व्यवहार नय से नहीं हो सकता। अशुद्ध निश्चय नय आचार शास्त्रीय आदर्श (ethical ideal) को अपना लक्ष्य नहीं बनाता है, अतः उसका व्यवहार कोटि मे आ जाना आवश्यक है। इस प्रकार आचार्य कुन्द कुन्द अपने व्यवहार नय से जिन बातों का कथन करते हैं और उन्हें असत् या मिथ्या बतलाते हैं, वे सम्भवतः आचार्य उमास्वामी के व्यवहार नय से मिथ्या और असत् नहीं हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के नयों को आचार शास्त्रीय या या नीति शास्त्रीय कहने का अर्थ यह होता है कि उनका विधान जीव-कल्याण का लक्ष्य सामने रखते हुए हुआ है। नैतिक चेतना (moral consciousness) का अर्थ इस आदर्श को सदैव अपने सामने रखना है। यह आत्म-दृष्टि ही नहीं, बल्कि शुद्धात्म दृष्टि है। यही आचार्य कुन्दकुन्द का भूतार्थ है, यही निश्चय नय है। जो मुनि निश्चयनय में लीन होते हैं वे मोक्ष पाते हैं।[3] अपनी आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्यक, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त समझना शुद्ध नय है।[4] जो जीव अपनी आत्मा को शुद्ध समझता है वह शुद्धात्म का लाभ करता है, और जो अशुद्ध समझता है उसे अशुद्धात्मा का लाभ होता है।[5] प्रत्येक प्राणी के जीवन का लक्ष्य शुद्धात्म तत्व की प्राप्ति है, अतः जो इस लक्ष्य के प्रति सदैव सजग रहता है उसे अवश्य ही इष्ट सिद्धि होनी चाहिए। जो व्यक्ति इस सर्वोच्च लक्ष्य के सम्बन्ध में विपरीत या भ्रमपूर्ण दृष्टि रखता है उसे शुद्धात्मा का लाभ कभी भी नहीं हो सकता, चाहे वह

---

१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, गाथा १२, १३।
२. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, १, ३३, ३।
३. समय सार, गाथा २६०।
४. समय सार, गाथा १६।
५. समय सार, गाथा १७६।

कितने ही व्रत, नियम और शील को धारण करता हो तथा चाहे कितना ही तप करता हो।[1] शुद्धात्मा के लक्ष्य को सदैव दृष्टि के सामने रखना नैतिक या मोक्ष-मार्गीय चेतना का सर्वस्व है। इस दृष्टि का अभाव होते ही जीव मोक्षमार्ग के अपने चरम उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता है। निश्चय नय इसी चरम लक्ष्य के सापेक्ष वस्तु की व्याख्या करता है। लक्ष्य का महत्त्व जीव के लिए ही है, पुद्गलादिक अजीव द्रव्यों का कोई लक्ष्य नहीं हुआ करता, अतः नीति शास्त्र का मुख्य विवेच्य नैतिक लक्ष्य के सापेक्ष आत्म द्रव्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द की कल्याणमयी वचनावली इसी लक्ष्य को समक्ष रखकर प्रवर्तित होती है। व्यवहार नय की इतनी उपादेयता तो वे स्वयं स्वीकार करते है कि बिना व्यवहार के निश्चय दृष्टि की उपलब्धि नहीं हो सकती।[2] व्यवहार नय के कथन मोक्ष मार्ग में अनुपकारी होने से अप्रयोजनीय सिद्ध होते हैं अतः उनको असत् या मिथ्या कह दिया जाता है। यह भी एक दृष्टि विशेष है। जीव का नैतिक लक्ष्य शुद्धात्मा नहीं, बल्कि अपनी ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। उसे किसी दूसरी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करना है, पर-आत्माओं के शुद्ध स्वरूप को तो वह प्राप्त कर ही नहीं सकता। उसका शुद्ध स्वरूप शक्ति रूप से उसकी ही आत्मा में अन्तर्निहित है, अतः उसकी ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप उसके लिए चरम लक्ष्य बन जाता है। लक्ष्य निर्देश उसी के लिए हो सकता है जो लक्ष्य को प्राप्त न हुआ हो। इस प्रकार नीति-शास्त्रीय दृष्टिकोण में दो घटकों का समावेश होता है—जीव की वर्तमान अशुद्ध अवस्था और उसी की शुद्ध अवस्थारूप चरम लक्ष्य। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्येक जीव अपनी आत्मा के स्वरूप को लक्ष्य बनाकर, न कि अपनी आत्मा की वर्तमान स्थिति के बारे में भ्रम में पड़कर, आत्मलाभ के लिए प्रयत्नशील हो। नैतिक चेतना के उपरोक्त दो घटकों में से केवल प्रथम का आश्रय लेने से सांख्य समय की सिद्धि हो जाती है।[3] और केवल द्वितीय का आश्रय लेने से जीवन में उद्देश्य हीनता का दोष आता है। यही कारण है कि उपयोगिता की दृष्टि से नयों का आश्रय लेते हुए परमार्थ-सिद्धि का आदेश दिया गया है। हीन स्थान में अवस्थित जीवों को प्रतिक्षण लक्ष्य की ओर चेतन और सजग रखने के लिए उसके शुद्ध-स्वरूप का ध्यान अनेकों बार दिलाया गया है और हीनस्थानों को मिथ्या तथा अनुपादेय बताया गया है। तत्त्व शास्त्रीय दृष्टि से संसार की प्रक्रिया में न केवल दो द्रव्यों का बल्कि पूरे छह द्रव्यों का उपयोग अपेक्षणीय है, अन्यथा शेष द्रव्यों की कल्पना में वैयर्थ्य दोष आ जावेगा। यदि द्रव्यों में परस्पर द्रव्य-संक्रमण या गुण-संक्रमण नहीं होता, तो उनमें पूर्ण असम्बद्धता भी नहीं है। संसार-प्रक्रिया को सम्भव बनाने के लिए सभी द्रव्यों में एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जिसे निमित्त सम्बन्ध कहा गया है। विश्व की रचना में अन्ततः केवल इसी प्रकार का ही सम्बन्ध सम्भव है। नित्यानित्य, भेदाभेद, और एकानेक रूप वस्तु सापेक्ष-निरपेक्ष भी है। यदि एक दृष्टि से वस्तु निरपेक्ष दिखाई देती हैं तो दूसरी दृष्टि से सापेक्ष। वह सर्वथा सापेक्ष या निरपेक्ष नहीं है, और न सर्वथा सापेक्षता और निरपेक्षता से शून्य हैं। जिस प्रकार वस्तु में नित्य, अनित्य, भेद, अभेद, एक, अनेक आदि धर्मों का समन्वय होता है, उसी प्रकार उसमें सापेक्ष और निरपेक्ष धर्मों का भी समन्वय होता है।

सभी जीवों का चरम लक्ष्य शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति है। हमारी क्रियाओं और कर्मोंका माप दण्ड का यही चरम लक्ष्य हैं। हम अपने कर्मों के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व का निर्णय इसी चरम लक्ष्य के सापेक्ष कर सकते हैं। शुद्धात्मा भी अनेकान्त-स्थिति का उल्लंघन करने में असमर्थ है। शुद्धात्मा में भी नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद सामान्य-विशेष आदि धर्मों की सदवस्था हैं। यदि शुद्ध तत्त्व को केवल नित्य, एक, अभेद और सामान्य

१. समय सार, गाथा १६३।

२. समय सार, गाथा ८।

३. समय सार, गाथा १२३।

रूप ही मान लिया जाय तो वह एकान्त दृष्टि होगी और अद्वैत वेदान्त के एकाङ्गी ब्रह्म स्वरूप से उसका भेद करना दुष्कर होगा। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव उसकी शुद्ध अशुद्ध आदि सभी अवस्थाओं का सामान्य धर्म है। उसकी उपलब्धि सभी जीवों को स्वत: सिद्ध है। आत्मा के शुद्ध रूप की संरचना केवल सामान्य तत्व से नहीं होती किन्तु वह अन्य अर्थों के समान सामान्य विशेषात्मक ही है। शुद्धात्मा का भी व्यावहारिक (आचार्य उमास्वामी के दृष्टिकोण से) ज्ञान होता है और वह शुद्धात्म लाभ के मार्ग में बाधक नहीं हो सकता, उससे तो हमें शुद्धात्मा का ही विशेष बोध होता है। इसके विपरीत शुद्धात्मा को केवल नित्य, एक, अभेद और सामान्य रूप समझना उसके एकांश को ग्रहण करना है। इस प्रकार के आंशिक ज्ञान का आधार शास्त्रीय (ethical) दृष्टि से महत्व का हो सकता है, किन्तु तत्वशास्त्रीय दृष्टि से उसे अपूर्ण ही कहना पड़ेगा।

निश्चय और व्यवहार नयों से आत्मा के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों की व्याख्या करता है। ये धर्म चरम लक्ष्य के ही अंग हैं और हमारे समय आदर्श के रूप में में आते हैं। दूसरे शब्दों में हमें अपनी आत्मा में इन धर्मों की वैसी सिद्धि करनी है जैसी कि शुद्धात्मा में मिलती है। पुग्दल या कर्मों के आश्रय मे होने वाली इन धर्मों की सिद्धि हमारे लिए उपादेय नहीं है, अत: उसके मोक्षमार्ग में अप्रयोजनी भूत होने से उसको मिथ्या या असत् कह दिया जाता है।[1] उपरोक्त दृष्टिकोण हमें अपनी व्यवहार क्रियाओं को समझने का एक नया मार्ग देता है। हीन स्थान में अवस्थित जीवों को किसी न किसी प्रकार की व्यवहार क्रिया का आश्रय लेना ही पड़ता है। इन्हीं व्यवहार क्रियाओं के मध्य से गुजरता हुआ जीव अपने शुद्धात्मतत्व की ओर अभिमुख होता है। जो क्रियाएं उसकी इस अभिमुखता में सहायक सिद्ध होती हैं उनको उपादेय कहना ही चाहिए। व्यवहार–क्रियाओं की उपादेयता तभी सिद्ध हो सकती है जब कि उनका प्रचलन शुद्धात्म रूप चरम लक्ष्य से प्रेरित हुआ हो। वे क्रियाएं जिनके प्रचलन के पीछे चरम लक्ष्य की प्रेरणा का अभाव है, नैतिक दृष्टि से हीन क्रियाएं हैं तथा अनुपादेय, त्याज्य और मिथ्या है। निश्चय नय व्यवहार क्रियाओं का सर्वथा लोप करता हुआ दिखाई नहीं देता, किन्तु वह इस बात पर बल देता है कि उन क्रियाओं के पीछे चरम लक्ष्य की चेतना अवश्य विद्यमान हो। ऐसी क्रियाओं पर नैतिक निर्णय शुभ और अशुभ न होकर शुद्ध ही होता है अथवा उन क्रियाओं में आंशिकरूप से शुद्धि आ जाती है। इसी कारण कहा गया है कि जिस अंश से जीव सुदृष्टि होता है उस अंश से उसे बन्ध नहीं हुआ करता।[2] इस शुद्धि को दृष्टिगत करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं कि जिस प्रकार अरतिभाव से मद्य पीने वाले व्यक्ति पर मादक प्रभाव नहीं होता है उसी प्रकार द्रव्योपभोगों को भोगने वाले ज्ञानी को बन्ध नहीं होता है।[3]

शुद्ध दृष्टि से हमारी आत्मा का स्वरूप वही है जो हमारे चरम लक्ष्य का स्वरूप है। चरम लक्ष्य का प्रत्यय नीतिशास्त्र या आचार शास्त्र का प्रमुख अंग है, बिना लक्ष्य-निर्देश के किसी भी प्रकार का नीतिशास्त्र सम्भव नहीं है। चरम लक्ष्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर सङ्केत करता है, उसे वर्तमान स्थिति की अपेक्षा नहीं है। चरम लक्ष्य का निर्देश आदर्श का निर्देश है, आदर्श वर्तमान स्थिति से भिन्न होना ही चाहिए। यह नैतिक दृष्टि (ethical point of view) से आत्मस्वरूप का विवेचन है। तत्वशास्त्रीय दृष्टि नैतिक दृष्टि से भिन्न है, यह तथ्य वाचक है और यथावद्वस्तु का निर्णय करती है। इस दृष्टि से सभी सुनयों को समान स्थान मिलता है। नीति मीमांसा और तत्वमीमांसा दोनों ही नय पक्षों के परे वस्तु स्थिति को अनेकान्त स्वरूप मानती है। इस अनेकान्त तत्व की व्याख्या नयों द्वारा आंशिक रूप में होती है, नय पक्ष अनेकान्त वस्तु में से

१. समय सार, गाथा १३।
२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, गाथा २१२।
३. समय सार, गाथा २०८।

ही उत्पन्न होते है। नय ज्ञान इसी अनेकान्त वस्तु का आंशिक ज्ञान है, इसमें पूर्ण वस्तु की व्याख्या न करने से अपूर्ण होने का दोष आता है। दृष्टि विशेष या अपेक्षा का प्रयोग करने पर नयज्ञान में असंगति नहीं आती है। नय विभाजन के अनेकों प्रयोजन हैं जिनमें से दो प्रयोजन नीतिशास्त्रीय (metaphysical) और तत्व शास्त्रीय हैं। आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम प्रयोजन को अपनाते हैं और आचार्य समन्तभद्र दूसरे प्रयोजन को। दृष्टिकोणों के इस मौलिक भेद को अधिगत करने पर हमें एक विशेष प्रकार का समन्वय प्राप्त होता है।

राग कान्हरौ

मानस जनमु वृथा तैं खोयो ।। टेक ।।
करम करम करि आइ मिल्यौ हो
निंद्य करम करि करि सु विगोयो ।। मानस० ।।१।।
भाग विसेस सुधा रस पायो
सो लै चरननि कौ मल धोयो।
चिंतामनि फैंक्यो वायस को
कुंजर भरि भरि ईंधन ढोयो ।। मानस० ।।२।।
धन की तृषा प्रीति वनिता की
भूलि रह्यौ वृष तैं मुख गोयो ।।
सुख के हेत विषय—रस सेये
घिरत कैं कारन सलिल विलोयो ।। मानस० ।।३।।
माति रह्यो प्रमाद मद मदिरा
अरु कंदर्प सर्प्प विष भोयो।
'रूपचंद' चेत्यो न चितायो
मोह नींद निश्चल ह्वै सोयो ।। मानस० ।।४।।

सोमेश्वर सिंह
उदय प्रताप कालेज वाराणसी

रामकथाकार कवि स्वयंभू और उनका 'पउम चरिउ'

स्वयंभू ने इस काव्य में मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभूति पूर्ण चित्रण किया है। राम को उन्होंने तुलसीदास की भांति देवत्व के गुणों से युक्त न करके मानव के रूप में ही रखा है, अतः मानवीय गुणों और निर्बलताओं के चित्रण का उन्हें पर्याप्त अवसर मिला है।

राम की जीवन-कथाओं ने समूचे भारतीय साहित्य को अनुप्राणित किया है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के रचयिताओं ने परम्परागत रूप से राम के चरित पर आधारित पुराण, काव्य, आख्यान, नाटक, आख्यायिका, चम्पू आदि की रचना की है, तमिल, तेलगू, मलयालम, तथा अनेक विदेशी भाषाओं के कविमनीषियों को इस चरित की मोहकता ने आकर्षित किया। हिन्दू, बौद्ध, जैन सबने राम के जीवन को अपने अपने ढग से अपनाया। इन राम कथाकार कवियों में बाल्मीकि, विमलसूरि, स्वयंभू और तुलसीदास युग प्रवर्तक मनीषियों के रूप में सर्वदा स्मरण किये जाएँगे, जिनके विशाल व्यक्तित्व के आगे उनके सम सामयिक ही नहीं, दो चार शताब्दियों बाद तक आनेवाले परवर्ती राम साहित्यकार कवियों का व्यक्तित्व नगण्य सा दीखता है।

कुछ दिनों पूर्व तक तुलसी के 'रामचरित मानस' का अध्ययन करते हुए विद्वानों की दृष्टि सीधे बाल्मीकि की 'रामायण' पर ही जाकर टिकती थी। बाल्मीकि और तुलसीदास का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए कुछ लोगों ने यह भी कह दिया था कि तुलसीदास बाल्मीकि के ही अवतार थे।[1] इधर, बीसवीं शदी के द्वितीय दशक से ही अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने जैन-भण्डारों से प्राचीन साहित्य की खोज प्रारम्भ कर दी और आज प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हो गए हैं जिनके अध्ययन से साहित्य का इतिहास ही नहीं, आलोचना का माप-दण्ड भी बदला दिखाई दे रहा है। इन्हीं अन्वेषणों के फलस्वरूप विमल सूरि कृत 'पउम चरिउ' (प्राकृत) और स्वयंभू कृत 'पउम-चरिउ' (अपभ्रंश) दो ऐसे महाकाव्य मिले हैं जिन्होंने राम-साहित्य के अध्ययन की दिशा ही बदल दी है।

'पउमचरिउ' का अवलोकन करने के बाद महापंडित राहुल सांकृत्यान ने अत्यन्त उच्छ्वसित होकर उसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य और स्वयंभू को हिन्दी का सबसे बड़ा महाकवि घोषित कर दिया।[2] अन्य अनेक विद्वानों ने भी राहुल जी की इस घोषणा का समर्थन किया।[3] 'पुरानी हिन्दी' के क्षेत्र-विस्तार के मोह में

१. कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीकि तुलसी भयो।
२. काव्यधारा—अवतरणिका पृ० ५०
३. श्री कामताप्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ३ ८

अपभ्रंश की रचनाओं को भी समेट लिया गया। 'देशी भाषा' के प्रयोगों को देखकर ही भ्रमवश अपभ्रंश और हिन्दी को सर्वथा एक समझ लिया गया। अपभ्रंश का भाषा और साहित्य के रूप में पृथक अस्तित्व ही नहीं माना गया। राहुल जी ने संस्कृत, पाली और प्राकृत को सुबन्तों और तिङन्तों की दृष्टि से एक बताते हुए अपभ्रंश भाषा में असाधारण परिवर्तन की सूचना दी। उन्होंने कहा कि "यहां आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया। इसका ढांचा ही बिल्कुल बदल गया, उसने नये सुबन्तों तिङन्तों की सृष्टि की, और ऐसी सृष्टि की है, जिससे वह हिन्दी से अभिन्न हो गई है और संस्कृत-पाली प्राकृत से अत्यन्त भिन्न।"।[1] राहुल जी का यह ऐतिहासिक उद्घोष तथा अन्य अनेक विद्वानों के प्रारम्भिक प्रयत्न श्लाघ्य हैं जिनके प्रकाश में पंडितों ने अपभ्रंश भाषा में सुबन्तों और तिङन्तों के इस असाधारण परिवर्तन के सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं भाषा वैज्ञानिक कारणों का पता लगा लिया है और अपभ्रंश और हिन्दी को पृथक भाषाओं के रूप में घोषित कर दिया है। इस प्रकार की भाषा-गत पृथकता से महाकवि स्वयंभू की महानता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। महान रचनायें चाहे किसी भी भाषा में हों, वे सर्वदा रचयिता की महानता का उद्घोष करती रहेंगी, अस्तु, महाकवि स्वयंभू अपभ्रंश भाषा के प्रथम महाकाव्यकार कवि के रूप में सर्वदा प्रख्यात रहेंगे। उनको प्राप्त रचनाओं के आधार पर मर्मज्ञ विद्वानों को यह घोषित करना ही पड़ा कि स्वयंभू अपभ्रंश भाषा के महाकवि और आचार्य थे[2]।

राहुल जी ने यह भी अनुमान लगाया कि तुलसी बाबा ने स्वयंभू रामायण को जरूर देखा होगा। उनकी समझ में "तुलसीबाबा ने क्वचिदन्यतोऽपि,[3] से स्वयंभू रामायण की ओर ही संकेत किया है"[4]। राहुल जी के कथन का इतना प्रभाव अवश्य हुआ कि तुलसीदास के 'मानस' का अध्ययन करने वाले विद्वान सीधे वाल्मीकि की ओर न देखकर स्वयंभू के 'पउम चरिउ' की ओर भी देखने लगे। 'मानस' के अध्ययन के लिए पंडितों को संस्कृत 'रामायण' की अपेक्षा अपभ्रंश की इस रचना में, भाषा, भाव, काव्य रूप, कथानक रूढ़ि और अभिप्राय (motifs) आदि की दृष्टि से अधिक निकटता का अनुभव हुआ। इस निकटता के कारण ही राहुलजी ने यह अनुमान लगाया कि तुलसीदास ने स्वयंभू-रामायण को अवश्य देखा होगा। पर, इस कथन की प्रामाणिकता के लिए कुछ विद्वान अतिरिक्त उत्साह-वश यह भी सिद्ध करने लगे कि तुलसीदास ने प्राकृत- अपभ्रंश भाषा के राम-काव्यों को अवश्य ही देखा था अन्यथा वे प्राकृत (अपभ्रंश ?) भाषा के कवियों का स्तवन क्यों करते ? अपनी उक्ति के समर्थन में उन्होंने 'मानस' की निम्न-लिखित चौपाई उद्धृत की है—

जे प्राकृत कवि परम सयाने।
भासा जिन हरि-चरित बखाने।
भये, अहहिं, होइहइं आगे।
प्रनवउं सबहिं कपट सब त्यागे।[5]

यहां यह विचारणीय है कि तुलसीदास ने 'प्राकृत कबि' से सीधे प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं के हरिचरित गायक कवि विमल सूरि, स्वयंभू आदि की ओर संकेत

---

१. काव्यधारा—अवतरणिका पृ० ६
२. पं. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास (द्वितीय संस्करण) पृ० १९६
३. 'मानस' के प्रारम्भ में ही तुलसीदास ने लिखा है कि—'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निवद्धमतिमञ्जुलमातनोति।।'
४. काव्यधारा—अवतरणिका पृ० ५२।
५. रामचरित मानस, बालकांड।

किया है या इसका कुछ अन्यथा भाव है। तुलसीदास के पूर्व होने वाले प्राकृत और अपभ्रंश के अबतक ज्ञात हरिचरित गायक कवियों में विमलसूरि (पउम चरिउ) स्वयंभू (पउम चरिउ) पुष्पदन्त (महापुराण) और रइधू (बलहद्द चरिउ) ही अधिक प्रसिद्ध हैं। तुलसीदास ने 'मानस' में व्यास और वाल्मीकि आदि देवभाषा के हरि चरित गायक कवियों को 'कविपुंगव' और 'कवि कोविद' कहकर उनका सादर नमन किया है।[1] किन्तु अपभ्रंश और प्राकृत के उपर्युक्त कवियों का उन्होंने कहीं नाम नहीं लिया है। व्यास, वाल्मीकि आदि देवभाषा के कवि थे। इनको तुलसीदास ने कलियुग के पूर्व का कवि कहा है, इनकी वंदना करने के बाद उन्होंने उन कलियुगी कवियों को भी प्रणाम किया है, जिन्होंने भाषा में हरिचरित का बखान किया है—

कलि के कविन करउं परनामा।
जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।

तुलसीदास के पूर्व अथवा बाद में होने वाले कलियुगी कवि कौन हैं, इसी का संकेत प्राकृत कवि के रूप में किया गया है। 'प्राकृत' कवि शब्द का विशेषण है। यहां इसका प्रयोग तुलसीदास ने साधारणत्व का बोध कराने और कवि पुंगव, कवि कोविद व्यास वाल्मीकि आदि से विभेद प्रदर्शित करने के लिए ही किया है। इस विभेद-प्रदर्शन में तुलसीदास का अपना कोई आग्रह नहीं है, वरन् तत्कालीन पुरातनवादी पंडितों की 'भाषा कवियों' के प्रति अवहेलना मूलक विचारधारा की ओर ही उन्होंने यहां संकेत किया है। यदि 'प्राकृत' से भाषा विशेष का भाव ग्रहण किया जाय तो 'मानस' में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त प्राकृत जन[2] प्रकृत महिपाल[3] आदि शब्दों से किस अर्थ का बोध होगा? तुलसीदास स्वयं कलियुगी कवि हैं। वे नम्रता ज्ञापन करते हुए अपने को बालकवि से अधिक नहीं करना चाहते। क्योंकि काव्य प्रबंध का सम्मान विद्वन्मंडली में न हो सके, वैसे बालकवि है, ऐसे कवि का सारा श्रम व्यर्थ है। बालकवि और प्राकृत कवि समानार्थक ज्ञात होते हैं, इनका 'समानापन' केवल मात्र इसी बात में है कि अपनी 'भदेस भणिति' को भी राम के कीर्तिगान के अलंकृत कर सकें।

यद्यपि 'प्राकृत कवि' कहकर तुलसीदास ने सीधे प्राकृत भाषा के कवियों की ओर संकेत नहीं किया है तथापि देवभाषा से इतर 'भाषा कवि' होने के नाते प्रकारान्तर से वे भी 'प्राकृत कवि' के क्षेत्र में आ ही जाते हैं। सम्भवत: 'देवभाषा' के अतिरिक्त 'भाखा' में पवित्र रामचरित का वर्णन तत्कालीन पुरातनतावादी पंडितों को ग्राह्य न था। इसी कारण तुलसीदास का भी बहुत विरोध हुआ और सम्भवत: प्राकृत-अपभ्रंश के राम काव्यों के अधिक प्रचारित न होने का भी यह एक मुख्य कारण था। प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी आदि भाषाओं को प्रारम्भिक अवस्था में, भाखा, सामान्य भाषा, ग्रामीण या देशभाषा आदि नामों से ही अभिहित किया गया है। तुलसीदास ने इन भाषा कवियों को ही प्राकृत कवि के रूप में देखा है। उन्होंने अपनी 'भाषा' पर संस्कृत की छौंक देकर 'मानस' को तत्कालीन पंडितों की अहृमन्यता का शिकार होने से बचा लिया, किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश राम काव्यों को—जो सर्वथा जैन रचनाएं हैं—सम्प्रदाय-गत विरोध होने के कारण उन पंडितों ने समाज के विस्तृत-क्षेत्र में आने से रोका। यह दूसरी बात है कि जैन धर्म के मानने वाले प्राचीन विद्वानों को, अपनी

१. 'व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि चरित बखाना।
चरन कमल बंदउं तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे।'
'बंदउ मुनि पद कंजु, रामायन जेहि निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषण सहित॥'
रामचरित मानस, बालकांड।

२. कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

३. यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसल राऊ।

कृतियों के अजैन सम्प्रदायों के हाथों में न पड़ने देने की कट्टरता भी उनके सामाजिक प्रसार में पर्याप्त बाधक रही। सनातनधर्मी पंडितों के विरोध के कारण ही महाकवि पुष्पदंत ने खीझकर व्यास और बाल्मीकि के प्रति अपना रोष भाव व्यक्त किया है [1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के कारण महाकवि स्वयंभू का 'पउम चरिउ' भी समाज के विस्तृत क्षेत्र में न आ सका। तुलसीदास ने उसे देखा हो या न देखा हो, इससे स्वयंभू और तुलसीदास की प्रतिष्ठा में कोई अन्तर नहीं आता।

काल क्रमानुसार रामकथा का आदि काव्यग्रन्थ बाल्मीकि कृत 'रामायण' ही है। डा० बेबर, दिनेशचन्द्र सेन और डा० ग्रियर्सन आदि ने बौद्ध धम्मपद की टीका और सुत्तनिपात टीका में वर्णित शाक्यों और कोलियों की उत्पत्ति और विमाता के द्वेष आदि कथाओं के आधार पर निर्मित 'जात कट्ठवण्णना' के 'दशरथ जातक' को ही राम कथा का मूल माना है। डा० हरमन याकोबी और एम० विंटरनित्स आदि ने इन बातों का खंडन-मंडन किया है। डा० कामिल बुल्के इन तथ्यों पर विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना के पूर्व त्रिपिटिक के रचनाकाल में रामकथा सम्बन्धी स्फुट आख्यान काव्य प्रचलित हो चुका था [2] किन्तु रामायण पर परोक्ष प्रभाव के सम्बन्ध में उतना निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

विमल सूरि ने अपने 'पउमचरिउ' में कहा है कि मैं उस पद्मचरित (रामचरित) को कहने जा रहा हूँ, जो नामावली निबद्ध था और आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा है।' [3] गणितानुयोग के ग्रन्थ 'तिलोय पणत्ति' में त्रिशष्ठि शलाका महापुरुषों की नामावली तो दी ही गई है, पद्मचरित सम्बन्धी पात्रों की नामावली भी उसमें मिल जाती है। 'तिलोय पणति' से विमलसूरि को राम कथा से सम्बद्ध पात्रों की नामावली मिली, और इन पात्रों की कथायें आचार्य परम्परा से मिली, [4]क्या यह सम्भव नहीं है कि विमलसूरि ने जिस आचार्य-परम्परा की ओर संकेत किया है, उसने बाल्मीकि कृत रामायण की कथा को भी आत्मसात कर लिया हो। लोक प्रचलित आख्यानों के रूप में भी बिखरी हुई रामकथायें उन्हें मिली होंगी। पुष्पदन्त के निकट व्यास बाल्मीकि आदि पूर्णतया परिचित थे। रामायण के पात्रों के सम्बन्ध में गलत धारणाओं के प्रचार का दोष उनके सिर मढ़ कर ही पुष्पदन्त ने रामकथा का उद्धार करने का प्रयास किया। डा० पी० एल० वैद्य के अनुसार व्यास और बाल्मीकि सारे रामकथाकार जैन कवियों के लिए परिचित थे। उन्होंने राम-लक्ष्मण के जीवन पर नवीन प्रकाश डालने के लिए ही रामचरित काव्यों की रचना की [5]।

विमलसूरि और स्वयंभू आदि की रामकथाओं पर बाल्मीकि कृत रामायण की कथा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि इन कवियों ने अपने सम्प्रदाय गत सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए बहुत कुछ परिवर्तन भी किया है। 'रामायण' को आदि काव्य के रूप में स्वीकार

---

१. 'वम्मीय वासु वयणिंहि णडिउ अण्णाणु कुम्मग्गकूवि पडिउ।' पुष्पदंत-महापुराण, द्वितीय भाग, [१० ६ ३ ११] पृ० ३६६

२. राम कथा, पृ६६

३. नामावलिय निबद्ध आयरियपरंपरागयं सव्वं।
वोच्छामि पउमचरियं अहाणु पुव्वि समासेण॥ (पउम चरिय १-८)

४. पं० नाथूराम प्रेमी-जैन साहित्य और इतिहास पृ० ६६

5. It is clear from this statment that jain poets, one and all, who tried their hands on the story of Ramayan, have been acquainted with the Versions of व्यास and बाल्मीकि, and think that they gave an altogather new interpretation on the lives of राम and लक्ष्मण
पुष्पदंत का महापुराण, भाग २, टिप्पणी प० ५४६

करते हुए हमें यह सोचने का अवसर मिल जाता है कि इस काव्य की रचना के पूर्व भी अवश्य ही कहीं नामावली निबद्ध रूप रहा होगा और यदि आचार्य-परम्परा से नहीं तो कम से कम लोक परम्परा से ही सही, अवश्य ही राम की कथायें विभिन्न रूपों मे बिखरी मिली होंगी। विशाल वैदिक साहित्य में इतस्ततः बिखरे राम-कथा सम्बन्धी पात्रों के असम्बद्ध उल्लेख 'नामावली निबद्धता' की ही सीमा में आते हैं। वाल्मीकि ने सम्भवतः इन्हीं नामों को आधार बनाकर सर्व प्रथम लोक परम्परा चरित इतिवृतों को परस्पर सम्बद्ध और काव्य बद्ध किया था। महाकवि स्वयंभू ने अपने 'पउम चरिउ' में रविषेणाचार्य्य का उल्लेख किया है[१], उन्होंने रविषेण के पद्मचरित का अध्ययन अवश्य किया होगा। रविषेण का पद्मचरित बिमलसूरि के पउम चरिउ का संस्कृत छायानुवाद है[२]। पउम चरिउ की कथा वाल्मीकि की रामायण पर आधारित ज्ञात होती है। इस प्रकार स्वयंभू के पउम चरिउ की कथा का आदि स्रोत भी आदि काव्य 'रामायण' ही कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य की यह एक चिराचरित परम्परा सी ज्ञात होती है कि कवि या लेखक आत्मश्लाघा एवं आत्म विज्ञापन से दूर रहने के लिए अपने सम्बन्ध में कुछ भी लिखने में संकोच करते हैं। यदि प्रसंग-वश कुछ कहते भी हैं तो शील की अधिकता के कारण अपने को अत्यन्त हीन, दरिद्र, कुरूप, कुकवि, अज्ञानी आदि के रूप में ही प्रदर्शित करते हैं। यह लघुत्व-प्रदर्शन वास्तव में उनकी महानता का ही अभि-व्यंजक होता है। जब कालिदास अपनी रचना के पूर्व अपने को अत्यन्त लघु वामन के समान—कहते हैं, तो उससे उनकी महत्ता और शील की ही व्यंजना होती है। विमलसूरि और स्वयंभू अपने को अज्ञानी, अबुध, छंद आदि से सर्वथा अपरिचित कह कर अपनी विस्तृत ज्ञान-गरिमा की ओर संकेत कर जाते हैं। इसी प्रकार जब गोस्वामी तुलसीदास रामभक्ति में लीन होकर अपने दरिद्रय और हीन-भाव का प्रदर्शन करते हैं, तो हम उन्हें शक्ति का सागर कहने में संकोच नहीं करते। ऐसी आत्माभिव्यक्ति को जब कोई आलोचक कवि का वास्तविक जीवन परिचय मान लेता है तो वह उसके साथ मानों घोर अन्याय करता है। इसके विपरीत एक अन्य बात भी देखी जाती है। कभी कभी कुछ गुणग्राही विद्वान किसी कवि या लेखक की प्रशंसा में अत्यन्त भावुकता-पूर्ण उद्‌गीर उद्गीरित कर देते हैं। ऐसे उद्‌गारों को भी कवि का वास्तविक जीवन-परिचय मान लेने मे भी खतरा ही है। इन दोनों अतिशयोक्तियों के मध्य से ही कवि के सम्बन्ध में प्राप्त अन्तसाक्ष्यों और वहिसाक्ष्यों का विवेचन करना उचित होता है।

महाकवि स्वयभू अपनी रचनाओं में अपने व्यक्तिगत जीवन, समय, स्थान आदि के सम्बन्ध में प्रायः मौन ही दिखाई देते है। यत्र–तत्र जो कुछ संकेत मिलते हैं वे प्रायः नगण्य हैं। उनकी रचनाओं में प्राप्त संकेतों-त्रिभुवन स्वयंभू के उद्धरणों तथा परवर्ती जैन विद्वानों के यत्किंचित उल्लेखो से इस बात की परिपुष्टि अवश्य ही होती है कि उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में कालक्रमानुसार वे ही प्रथम महाकवि और आचार्य थे। छंद चूड़ामणि, विजय शेषित या जप परिशेष और कविराज धवल आदि उनके विरुद्ध थे।[३] कुछ दिनों तक चतुर्मुख और स्वयंभू को अभिन्न माना जाता था। किन्तु अब दोनों का भिन्नत्व पूर्णतया प्रतिपादित हो चुका है[४]।

१. पुणु रविसेणायरिय पसाएं। वुद्धिएं अवगाहिय। कइराएं (पढमो संधि २–६ पृ० ४)
२. पं० नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० सं०) पृ० ८६
३. वही पृ० १९६
४. सर्वप्रथम मधुसूदन मोदी ने चतुर्मुख स्वयंभू को अभिन्न बताने का प्रयास किया (भारतीय विद्या अंक २–३) परन्तु पं० नाथूराम प्रेमी (जैन सा० और इ०, द्वितीय सं० पृ० १९६), वेलणकर (स्वयंभू छंदस की भूमिका, पृ० ७१–७४) और डॉ० हीरालाल जैन (नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल्स, दिसम्बर १९३५) ने चतुर्मुख और स्वयंभू को सप्रमाण पृथक कवियों के रूप में घोषित किया है। परवर्ती कवि हरिषेण, पुष्पदंत और कनकामर आदि ने भी इन दोनों कवियों को अलग २ स्मरण किया है। स्वयं स्वयंभू ने भी चतुर्मुख का उल्लेख किया है।

चतुर्मुख को अनेक रचनाओं का भी उल्लेख मिलने लगा है। सम्भव है वही अपभ्रंश के प्रथम महाकवि सिद्ध हो, किन्तु अभीतक उनकी समस्त रचनायें ही अनुपलब्ध हैं।

प्राप्त विवरणों[1] के अनुसार स्वयंभू (या स्वयंभू देव) के पिता का नाम मारुतदेव और माता का नाम पद्मिनी था[2]। मारुतदेव स्वयं कवि थे। गाथा सप्तशती की कुछ गाथायें उन्हीं की बनाई हुई कही गई हैं। स्वयंभू छंदस में स्वयंभू ने उनका एक दोहा[3] उद्धृत किया है। स्वयंभू के छोटे पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू भी कवि थे। इस तरह इस परिवार की तीन-तीन पीढ़ियों को सरस्वती-पुत्र होने का श्रेय प्राप्त था। स्वयंभू की दो पत्नियों के नाम पउम चरिउ में आए हैं। विद्याधर कांड की अंतिम पुष्पिका या प्रशस्ति में एक पत्नी अमृताम्बा का नाम आया है, जिसकी प्रेरणा से यह काण्ड लिखा गया।[4] इसी प्रकार उज्झाकंडं (अयोध्याकांड) की अन्तिम पुष्पिका के अनुसार यह कांड उनकी दूसरी पत्नी आदित्याम्बा की प्रेरणा से लिखा गया[5]। पं० नाथूराम प्रेमी ने एक दोहे[6] के आधार पर अनुमान लगाया है कि स्वयंभू की तीसरी पत्नी भी थी, जिसका नाम सुअम्बा था। यही सम्भवतः त्रिभुवन स्वयंभू की माता थी। त्रिभुवन के अतिरिक्त स्वयंभू के अन्य कई पुत्र थे। इस तरह उनकी गृहस्थी पूर्णतया भरी पूरी थी।

स्वयंभू ने अपने को बहुत दुबला-पतला, चपटी नाक और विरल दांत वाला[7] कहा है। ऐसा उन्होंने सम्भवतः अत्यधिक शील-वश लघुत्व-ज्ञापन के लिए ही लिखा है।

अपने धर्म, जाति, गोत्र आदि के सम्बन्ध में भी स्वयंभू ने कुछ नहीं लिखा है। पुष्पदन्त के महापुराण टिप्पणी में 'स्वयंभू पद्धड़ीबद्ध रामायण कर्ता आप श्री संघीय' (महापुराण, प्र० भाग पृ ६) कहा गया है, जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर के अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसे गोप्य संघ, आपुली संघ या यापनीय संघ कहते थे। इस सम्प्रदाय की बहुत सी बातें दिगम्बर

---

१. स्वयभू के जीवन और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में प्राप्त विवरणों के आधार पर श्री मधुसूदन मोदी ने अपभ्रंश पाठावली (सन् १९३५) की टिप्पणियों में, डॉ० हीरालाल जैन ने नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल (दिसम्बर १९३५) के Svayambhu and his two poems in Apabhramsa शीर्षक निबंध में, वेलणकर ने स्वयंभू छदस (१९३५) की भूमिका में, पं० नाथूराम प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास (१९४२) के स्वयंभू विषयक निबंध में, पं० राहुल सांकृत्यायन ने काव्यधारा (२९४५) की अवतरणिका और पाद टिप्पणों में तथा डॉ० मायाणी ने पउम चरिउ प्रथम भाग (१९५३) की भूमिका में पर्याप्त विचार किया है। पं० नाथूराम प्रेमी और डॉ० भायाणी ने उन सारी सामग्रियों का तर्क-सम्मत विवेचन किया है, जो उस समय तक उपलब्ध थीं। प्रस्तुत लेख में इन्हीं विद्वानों की सम्मतियों का सहारा लिया गया है।

२. पउमिणि-जणणि-गब्भ संभूएं। मारुयएव-रूव-अणुराएं। (पउम चरिउ, पढमोसंधि, २—९, पृ० ४)

३. लद्धउ मित्त भमंतेण रअणाअर चंदेण। सो सिज्जन्ते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण।

४. णामेण साऽमिअव्वा, सयम्भु-घरिणी महासत्ता। (पउम चरिउ, पृ० १६८)

५. आइच्चुएवि-पडिमोवमाएँ, आइच्चम्बिमाए। बीअम उज्झा-कण्डं, सयम्भु घरिणीएँ लेहवियं॥ (प० च० भाग २, पृ० १७२)

६. सव्वे वि सुआ पंजर सुअव्व पढ़ि अक्खराइं सिक्खन्ति। कइराअस्स सुओ पुणु सुअव्व सुइ-गब्भ संभूओ॥

७. अइ तणु एण पईहर गत्तें। छिव्वर-णासें पविरल दंतें। (प० च० प्र० भाग

और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मिलती-जुलती थीं। आगे चलकर इस सम्प्रदाय की मान्यताओं और स्थापनाओं को उक्त दोनों सम्प्रदायों ने आत्मसात कर लिया। यही कारण है कि आज न तो यापनीयों का साहित्य ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है न उनके मन्दिर, शिल्प, कला आदि से सम्बद्ध विवरण ही मिलते हैं। यह संघ सहिष्णुता, समन्वय, सदाचार और सदाशयता का पोषक था। स्वयंभू में नम्रता, उदारता, और साम्प्रदायिक तटस्थता का जो भाव दिखाई देता है, वह बहुत कुछ इसी सम्प्रदाय की विशेषताओं के कारण।

स्वयंभू की उपलब्ध रचनाओं में कहीं भी उनके रचनाकाल का निश्चित उल्लेख नहीं किया गया है। न तो इन्होंने अपने काल के किसी ऐसे प्रसिद्ध शासक का नाम दिया है और न ऐसी ऐतिहासिक घटना का ही उल्लेख किया है जिससे उनके रचना-काल और स्थान का निश्चित पता लग सके। 'पउम चरिउ' की अनेक संधियों के अन्त में उन्हें धनञ्जय का आश्रित कहा गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार पउम चरिउ के प्रारम्भ में ही स्वयंभू ने कहा है कि मैं रयडा के कहने से इस काव्य की रचना कर रहा हूं।[1] राहुलजी ने 'रयडा' को धनंजय का विशेषण मान कर स्वयंभू को रयडा (राजश्रेष्ठी ?) धनञ्जय का आश्रित कहा है।[2] फिर रामायण (पउम चरिउ) के विज्जाहर कांड के अन्त में बीसमों संधि की पुष्पिका में 'धुवरायराय[3]' पाठ का आधार लेकर उन्होंने राष्ट्रकूट राजा ध्रुव धारा वर्ष (सन् ७८० से ७९४) का अनुमान लगाया है और यह बताने का प्रयास किया है कि रयडा धनञ्जय इसी राष्ट्रकूट राजा के अमात्य थे।

पाण्डुलिपियों के जिन पाठों के आधार पर राहुलजी ने उपर्युक्त विचार प्रकट किए हैं, डा० भयाणी उन्हें नहीं मानते। उन्होंने 'रयडा वुत्तु' और 'धुवराय राय' के स्थान पर क्रमश: 'रड्डावद्ध[4]' और 'धुवरायधत[5]' पाठों को ही शुद्ध माना है। 'रड्डावद्ध' शब्द रड्डा छंदोवद्ध काव्य रूप की ओर संकेत करता है और 'धुवरायधत' या 'धुवरायधोव' से ध्रुवराज का बोध नहीं हो पाता।

'रिट्ठणेमि चरिउ' की पुष्पिकाओं में स्वयंभू को धवलइया का और त्रिभुवन स्वयंभू को वन्दइया का आश्रित कहा गया है। इन आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में इतिहासों से कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता। पुष्पदन्त के महापुराण में भी ऐसे ही ध्वनि-साम्य-मूलक नाम अम्मैया डंगैया, सन्तैया आदि आए हैं। इसी प्रकार 'अम्बा' या 'अव्वा' युक्त स्त्रीवाचक नामों का भी उल्लेख है। इन नामों के आधार पर डा० भयाणी ने यह अनुमान लगाया है कि स्वयंभू ने भी उसी भूभाग में रहकर अपनी रचना की होगी जहां पुष्पदन्त ने अपना महापुराण लिखा था। पुष्पदन्त का सम्बन्ध मान्यखेट से बताया जाता है। स्वयंभू का सम्बन्ध भी इसी कन्नड़-भाषी क्षेत्र से रहा होगा। डा० भयाणी का यह भी अनुमान है कि स्वयंभू और उनके आश्रयदाता किसी उत्तरीक्षेत्र–सम्भवत: बरार से इस क्षेत्र में आए होंगे ७ वीं शती में कर्नाटक और

पढमो संधि २-११ पृ० ४)

१. वेवेसाउ तो, वि णाउ परिहरमि। वरि रयडा वुत्तु कव्वु करमि। (हिन्दी काव्यधारा पृ० २२)

२. वही, पाद—टिप्पणी, पृ० २३।

३. धुवराय राय व तइय भुअप्पणत्तिणत्तीसु याणु पायेण। (वही, पृ० २३)

४. ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डावद्ध कव्वु करमि। (पउम चरिउ, प्र० भाग, पृ० ५)

५ इस पाठ के सम्बन्ध में डॉ० भायाणी स्वयं संदिग्ध स्थिति में हैं। पुस्तक के अंत में तो उन्होंने 'धुवरायधत इयलु अप्पणत्तिणत्ती सुयाणु पाढेण' पाठ दिया है किन्तु भूमिका भाग के परिशिष्ठ १ में 'धुअराय धोव तइलुअ पणत्ति णत्ती सुयाणु पाढेण ?' पाठ दिया है।
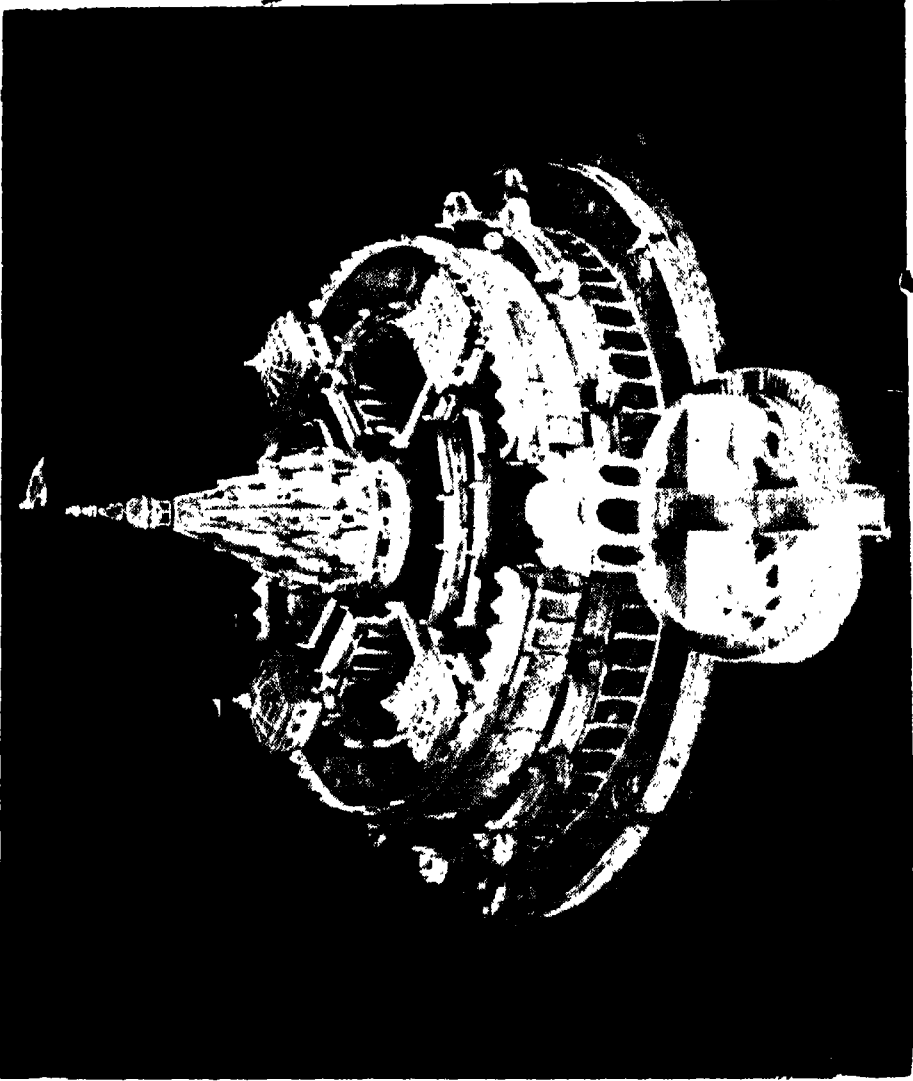
पदमपुरा (बाड़ा) में निर्मित होने वाले भव्य एवं कलापूर्ण जैन मंदिर का नमूना

बरार के राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों और राष्ट्रकूट राजाओं के इतिहास के आधार पर डा० भायाणी ने अपने मत की पुष्टि की है,[१] पं० राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू का देश कोशल (मध्यदेश ?) माना है। उनका कहना है कि 'राष्ट्रकूट राजा ध्रुव धारावर्ष सेना के साथ कन्नौज आया था। जान पड़ता है कि उसी के अमात्य रयड्डा के साथ स्वयंभू दक्षिण गए[२]।' इसी आधार पर उन्होंने स्वयंभू के समय का अनुमान भी ७६० ई० या उसके आसपास लगाया है[३]।

'पउम चरिउ' और 'रिट्ठणेमि चरिउ' की पांडुलिपियों में कहीं कहीं कुछ तिथियां अंकित हैं। 'पउमचरिउ' में युद्ध कांड ७७वीं सन्धि में समाप्त हो जाता है। ७८वीं सन्धि से उत्तर कांड प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु ७८वीं संधि के अन्त में युद्ध कांड की समाप्ति के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि युद्ध कांड ज्येष्ठ मास में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा दिन सोमवार को पूर्ण हुआ।[४] इसी प्रकार 'रिट्ठणेमिचरिउ' का युद्ध कांड ९२वीं सन्धि में समाप्त होता है। यहीं इसकी समाप्ति की तिथि दी गई है कि 'यह फाल्गुन नक्षत्र के तृतीय दिन मंगलवार को समाप्त हुआ।[५] उत्तर कांड के प्रारम्भ की सूचना भी दी गई है कि 'यह मूल नक्षत्र के दसवें दिन' रविवार को प्रारम्भ हुआ।[६] यहीं यह सूचना भी दी गई है कि 'रिट्ठणेमिचरिउ' की ९२ संधियों को लिखने में कवि को ६ वर्ष तीन माह और ग्यारह दिन का समय लगा।[७]

इन तिथियों के साथ सन् या सम्वत्सर का उल्लेख कहीं नहीं है। डा० भयाणी ने सन् ७०० और सन् ८५० ई० के मध्य की उन तिथियों को एकत्र करके कुछ विचार किया है जिनके साथ उपर्युक्त तिथियों और दिनों का मेल बैठ जाता है। किन्तु स्वयं डा० भयाणी की दृष्टि में ही उक्त प्रयास का कोई उपयुक्त फल नहीं मिला है। इन तिथियों के सम्बन्ध में कुछ बातें अवश्य ही विचारणीय हैं।

पहली बात तो यह कि 'पउमचरिउ' में केवल एक स्थान पर केवल युद्ध कांड की समाप्ति पर तिथि का उल्लेख है। अन्य कांडों की समाप्ति की तिथियों का उल्लेख नहीं है। दूसरे, जब ७७वीं संधि से ही युद्ध कांड की समाप्ति हो जाती है तो ७८वीं संधि के अन्त में युद्ध कांड की समाप्ति का उल्लेख क्यों किया गया? 'रिट्ठणेमि चरिउ' में ९२वीं संधि के अंत में युद्ध कांड की समाप्ति और उत्तर कांड के प्रारम्भ की तिथियां दी गई हैं। यहीं ९२ संधियों के लिखने में लगने वाले समय का उल्लेख भी किया गया है। अन्यत्र किसी कांड की परिसमाप्ति के साथ कोई तिथि नहीं मिलती। प्रश्न यह है कि उन दोनों पुस्तकों में केवल एक एक स्थान पर ही तिथियों का उल्लेख क्यों किया गया है ? हमें तो ऐसा लगता है कि ये तिथियां लिपिकारों द्वारा लिपिकाल के सम्बन्ध में दी गई हैं, यद्यपि लिपिकाल के सम्बन्ध में भी ये अधूरी ही हैं।

ये तिथियां पुष्पिकाओं के रूप में उल्लिखित हैं। डा० भयाणी ने इन्हें त्रिभुवन स्वयंभू का लिखा हुआ कहा

६. पउम चरिउ, प्र० भाग की भूमिका, पृ० ११—१२।
७. हिन्दी काव्यधारा, पृ० २२—२३।
८. वही, पृ० २२।
१. जुज्झं कंडं समत्तं। ज्येष्ठ वदि १ सोमे।
२. सोमे सुयस्स य वारे तइया–दिय हम्मि फग्गुणे रिक्खे।
सिउ–णामेण य जोए समाणियं जुज्झ कंड व। (?)
३. दियहाहिवस्स वारे दसमी दियहम्मि मूलणक्खत्ते।
एयारसम्मि चन्दे उत्तर कण्डं समाढत्तं।
४. छव्वरिसाइं तिमासा एयारस वासरा सयम्भुस्स।
बाणवइ संधिकरणे वोलीणों इत्तिओ कालो।

है ।[1] किन्तु पुष्पिकाओं में पाई जाने वाली अनेक बातें ऐसी है जिनके आधार पर उन्हें स्वयंभू का लिखा तो कहा ही नहीं जा सकता, त्रिभुवन स्वयंभू का लिखा होने में भी सन्देह है ।

अपभ्रंश काव्यों में संधि, कांड या सर्ग की समाप्ति पर पुष्पिकाओं या प्रशस्तियों के अंकन की परम्परा सी ज्ञात होती हैं। महाकवि रइधू के 'बलहद्द चरिउ' की प्राप्त पांडुलिपि में भी प्रत्येक संधि के अंत में प्रशस्ति दी गई है । ये प्रशस्तियां प्रतिलिपिकार द्वारा अपनी ओर से लिखी ज्ञात होती हैं । 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' की पुष्पिकाओं के प्रति सदेह करने के कई कारण मिल जाते हैं । हो सकता है कि कुछ पुष्पिकाओं के रचियिता त्रिभुवन स्वयंभू ही हों, किन्तु अधिकांश में जैसी अनियमितताएं दिखाई देती हैं, वैसी स्वयंभू या त्रिभुवन स्वयंभू जैसे जागरूक कलाकार से सम्भावित नहीं हैं । इन पुष्पिकाओं में संधियों के लिए कहीं पर्व, कहीं आश्वासक कहीं सर्ग आदि शब्दों का प्रयोग किया गया हैं । अयो-ध्या कांड के लिये सर्वत्र 'उज्झाकंडं' शब्द का प्रयोग हुआ है । किन्तु इस कांड के अन्त में 'अउज्झा कंडं' पुष्पिका में अंकित है । अवश्य ही यह लिपिकार का प्रमाद है । विद्याधर कांड और अयोध्या कांड के अन्त में अमृताम्बा और आदित्याम्बा की प्रेरणा से उक्त कांडों के लिखने की जो बात आई है, उससे हमें ऐसा लगता है कि इनकी प्रेरणा से इन कांडों की रचना नहीं वरन् इन रचनाओं की प्रतिलिपियां हुई होंगी । इन बातों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि पुष्पिकाओं के रूप में अधिकांश प्रक्षिप्त है । उपरि लिखित तिथियों के सम्बन्ध में भी हमारा यही अनुमान है ।

इसी स्थान पर 'पउम चरिउ' के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'कइराएं'[2] शब्द के सम्बन्ध में भी हम एक आशंका व्यक्त करना चाहते है । 'कविराज' शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने स्वयंभू के लिए कहा है । अर्थात् स्वयंभू ने इस विशे-षण का प्रयोग अपने लिए किया है । डा० भयाणी के विचार से भी यह स्वयंभू का ही विशेषण हैं ।[3] स्वयं अपने लिए प्रयुक्त 'कविराज' शब्द में जिस अहं भाव का प्रत्यक्षीकरण हम करते हैं उसकी अव्यावहारिका का ज्ञापन उसके बाद की पंक्तियों में ही हो जाता है । स्वयंभू ने नम्रता ज्ञापन के लिए अपने को चिपटीनाक और विरल दांत वाला तो कहा ही है, अपने को महान कुकवि कहने में भी उन्हें संकोच नहीं होता । "बुहयण सयम्भु पइं विण्णवइ, मइं सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ ।" कहने वाला अति विनम्र कवि प्रारम्भ में अपने को कविराज घोषित कर देगा, यह बात कुछ अनुपयुक्त सी लगती हैं । सम्भव हैं कि 'कइराएं' शब्द का प्रयोग कवि ने रविषेण के लिए किया हो ।

महाकवि स्वयंभू के समय का निश्चित ज्ञान न होने के कारण उनके काव्यों में उल्लिखित पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों की प्रामाणिक तिथियों के आधार पर कुछ अनुमान किया जाता है । स्वयंभूछंदस में आने वाले जैन-अजैन ५६ कवियों की सूची[4] प्रेमीजी ने दी हैं । इनमें से अधिकांश का समय ज्ञात नहीं है । 'पउम चरिउ' और 'रिट्ठणेमि चरिउ' में प्रसंगवश पांचमहाकाव्य (रघुवंश, कुमार संभव, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय और भट्टि-काव्य) और पिंगल, भरत, दंडी, भामह, व्यास, ईशान कवि, श्रीहर्ष, और रविषेणाचार्य आदि कवियों और आचार्यों के नाम आए हैं । इनमें आचार्य रविषेण सबसे बाद में आते हैं । उन्होंने अपने पद्मचरित की रचना वि० सं० ७३४ में की थी । पंडितों का विश्वास है कि स्वयंभू वि० सं० ७३४ के पश्चात् किसी समय हुए होंगे ।

महाकवि पुष्पदंत ने अपने महापुराण में स्वयंभू का

---

१. पउम चरिउ, प्र० भाग, भूमिका पृ० ६ ।

२. पुणु रविषेणायरिय—पसाएं–बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं । (प० च०, प्र० भाग, पढमो संधि, २–६ पृ० ४)

३. पउम चरिउ, प्र० भाग, भूमिका, पृ० २८-२९

४. जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० सं०) पृ० २०८

नामोल्लेख किया है। महापुराण की रचना वि० सं० १०१६ में हुई थी। इस तरह स्वयंभू वि० सं ७३४ से सं० १०१६ के मध्य में कभी पैदा हुए होंगे। प्रेमीजी का कहना है कि स्वयंभू रविषेणाचार्य से बहुत बाद में नहीं हुए होंगे। उनका अनुमान है कि वे हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन से कुछ पहले ही पैदा हुए होंगे। यदि वे जिनसेन के बाद पैदा हुए होते, तो रविषेण की भांति उनका नाम स्मरण भी उन्होंने अवश्य किया होता। जिनसेन के हरिवंश पुराण की रचना वि० सं० ८४० में हुई थी। अतः प्रेमीजी के अनुसार स्वयंभू का समय वि० सं० ७३४ से वि० सं० ८४० के मध्य माना जाना चाहिए।[1]

कहना नहीं होगा कि प्रेमीजी का यह अनुमान भी केवल मात्र अनुमान ही है, अभी यह प्रमाण-सिद्ध नहीं हैं। तथापि इन अनुमानों के आधार पर ही यह माना जाने लगा हैं कि स्वयंभू आठवीं शताब्दी में पैदा हुए थे।

परवर्ती अपभ्रंश-कवियों ने काव्य एवं काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में स्वयंभू को प्रकाश-स्तम्भ के रूप में स्वीकार किया है। पुष्पदंत सेलेकर १६वीं शती तक के महाकाव्यकार कवियों को स्वयंभू के महाकाव्यों ने प्रभावित किया है। 'स्वयंभू छंदस' ने हेमचन्द को प्राकृत एवं अपभ्रंश छंदों की व्याख्या में सहायता दी। यही कारण है कि स्वयंभू के बाद आने वाले पुष्पदंत, हरिषेण (९८७ ई०) कनकामर, हेमचन्द, नयनन्दी, वीर, श्रीचन्द्र, धनपाल, रइधू आदि समस्त प्रमुख काव्यकारों एवं काव्य-शास्त्रकार आचार्यों ने अनेक प्रकार से स्वयंभू का नाम स्मरण किया है।

'पउम चरिउ', रिट्ठणेमि चरिउ और स्वयंभू छंदस् के अतिरिक्त 'पंचमी चरिउ' और 'स्वयंभू व्याकरण' भी स्वयंभू के लिखे कहे जाते है। अंतिम दोनों ग्रंथ अभी तक अप्राप्य है। यों तो 'रिट्ठणेमि चरिउ' और 'स्वयंभू-छंदस्' का भी विशेष महत्व है किन्तु महाकवि के रूप में स्वयंभू की ख्याति का मुख्य आधार उनका 'पउमचरिउ' ही है। इसी पुस्तक के आधार पर वे अपभ्रंश के वाल्मीकि कहे जाते है।

९० संधियों का यह महाकाव्य पांच कांडों में विभक्त है। १-विद्याधर कांड (२० संधि), २-अयोध्याकांड (२२ संधि), ३-सुन्दर कांड (१४ संधि), ४-युद्ध कांड (२१ संधि) और ५-उत्तर कांड (१३ संधि)[2]। इनमें प्रथम ८३ संधियां स्वयंभू की लिखी कही जाती हैं।

'पउम चरिउ' को रामायण और पुराण भी कहा गया है। पुस्तक की अन्तिम प्रशस्ति में इसे 'रामायण पुराण' नाम दिया गया है। 'जिनरत्नकोश' में भी इसे 'रामायण पुराण' ही कहा गया है। इस ग्रंथ की कुछ पुष्पिकाओं में इसे 'पद्मपुराण' के नाम से भी अभिहित किया गया है। १८वीं और ८४वीं संधि की पुष्पिकाओं में इसे 'रामदेव चरित' और ८६वीं संधि की पुष्पिका में 'रामचरित' भी कहा गया है। स्वयंभू ने स्वयं इसे रामायण काव्य[3], रामायण[4] और राघवचरित[5] कहा है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० सं०) पृ० २१-११.

२. पउम चरिउ की अंतिम प्रशस्ति में त्रिभुवन-स्वयंभू ने कांडों और संधियों का परिगणन किया है—

सिरि विज्जाहर कंडे संधीयो हुंति बीस परिमाणं।
उज्झा कंडमि तहा वावीस मुणेण गणणाए।
चउदह सुंदरकंडे एक्काहिय बीस जुज्झ कंडेय।
उत्तरकंडे तेरह संधीयो णवइ सव्वाउ॥

३. 'पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कावें।' प० चरिउ, १-१-१८।

४. 'रावण-रामहुं जुज्झु तं णिसुणहु रामायणु।' वही, २३-१

५. जं सयले वि तिहुयणे वित्थारेउ,
आरम्भिउ पुणु राहवचरिउ। वही, २३-१-९।

विषय के आधार पर उन्होंने इसे रामकथा[1] भी कहा है।

इन विभिन्न नामों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि 'पउमचरिउ' एक ओर तो चरित काव्य' है और दूसरी ओर 'कथा' और 'पुराण' भी। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में श्रोता-वक्ता के तीन तीन जोड़े देखकर कुछ विद्वानों ने इसे पुराण भी कह डाला है। इस कथन से पंडितों में रोष की परिव्याप्ति भी हुई है। 'मानस' को पारिभाषिक रूप में पुराण तो नहीं कह सकते किन्तु उसकी शैली पर पौराणिक शैली का प्रभाव अवश्य है। इसे पौराणिक शैली में लिखा हुआ महाकाव्य कह सकते हैं। स्वयंभू के पउमचरिउ को तो कथा काव्य और पुराण सब कुछ कहा गया है।

पुराणों का विशिष्ठ स्थान

भारतीय धर्म-व्यवस्था में पुराणों का विशिष्ठ स्थान है। यहां लगभग समस्त प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों के अपने अलग अलग पुराण हैं। पुराणों के माध्यम से जनता की बौद्धिक जिज्ञासाओं की शांति के साथ ही उनके हृदय में अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रति आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्प्रदायगत धार्मिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए पुराण बड़े ही प्रभावशाली माध्यम रहे होंगे। श्रीमद्भागवत पुराण और गरुड़ पुराण आज भी जनता के बीच श्रद्धा की दृष्टि से देखे और पूजे जाते हैं। अपभ्रंश काल में ही अनेक पुराणों की रचना हुई। अपभ्रंश काव्यों के रचयिता जैन विद्वानों से पुराणों की प्रभावोत्पादकता अलक्षित नहीं रही होगी। यह भी निर्विवाद है कि जैन साहित्य धर्म-भावना-निरपेक्ष नहीं है। धार्मिक भावना का निरुपण इनका मुख्य विषय है। इन काव्यों के माध्यम से वे अपने धार्मिक सिद्धान्तों के साथ जनता के बीच पहुंचना चाहते थे। 'सामान्य-भाषा' का प्रयोग भी उन्होंने इसी उद्देश्य से किया। ऐसा ज्ञात होता है कि इन धार्मिक सिद्धान्तों को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रसारित करने के लिए ही जैन काव्यों, और कथाओं को भी पुराण कह दिया गया। यों, पउमचरिउ में पुराणों की भांति श्रोता और वक्ता के रूप में 'श्रेणिक' और गौतम को भी माना जा सकता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि श्रोता वक्ता के रूप में जिन काव्य ग्रन्थों का प्रणयन हो वे सब पुराण ही मान लिये जाय। श्रोता और वक्ता के रूप में अनेक काव्यों की रचना हुई हैं। कहीं शुक-शुकी संवाद के रूप में कोई रास या चरित काव्य लिखा गया है तो कहीं कवि और कवि पत्नी के वार्तालाप के रूप में कोई कथा काव्य। गुरु-शिष्य, शंकर-पार्वती या मृग-मृगी सम्वादों के रूप में लिखे जाने वाले काव्य वास्तव में काव्य ही हैं। वास्तविक बात यह है कि श्रोता-वक्ता के माध्यम से काव्य रचना काव्य जगत की एक चिर-चरित रूढ़ि हैं। प्रचार और प्रसार के धार्मिक आग्रहों के कारण ही स्वयंभू का 'पउम चरिउ' भी पुराण बन गया, अन्यथा है यह काव्य-ग्रंथ ही।

इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि 'पउम चरिउ' के लिए 'पद्मपुराण' या 'रामायण पुराण' नामों का प्रयोग अधिकांशतः ग्रंथ की पुष्पिकाओं में ही हुआ है, जिनके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि कुछ तो त्रिभुवन-स्वयभू की लिखी होंगी और कुछ लिपिकारों के द्वारा जोड़ी गई हैं। स्वयंभू ने स्वयं इसे पुराण नहीं कहा है। पुष्पिकाओं या अन्य जैन-ग्रंथों में 'पउम चरिउ' के लिए 'पुराण' नाम की स्वीकृति भी प्रचारात्मक विचार की ही द्योतिका है।

अपभ्रंश साहित्य में रास, चरित, कथा आदि की भांति 'पुराण' का प्रयोग भी काव्य-विशेष रूप से चरित काव्य के लिए ही किया गया है। प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग भले ही प्रचारात्मकता की दृष्टि से पौराणिक प्रभावोत्पादन के लिए हुआ हो, किन्तु आगे चलकर इसे चरित काव्यों के नामकरण की एक पद्धति के रूप में ग्रहण कर लिया गया। पद्मपुराण, पार्श्वनाथ पुराण, पांडव पुराण आदि काव्य ग्रंथ ही हैं। इसी प्रकार 'कथा' शब्द

१. वद्धमाण मुह-कुहर विणिग्गय,
राम कहा—णइ एह कमागय। वही, १-२-१।

से भी अविसयत्तकहा, विलासवतीकहा, जैसे काव्य ग्रंथों का ही बोध होता है। इस दृष्टि से 'पउमचरिउ' को चाहे पुराण कहा जाय, चाहे, कथा, यह एक चरित काव्य है जिसमें पद्म अर्थात् राम के चरित का वर्णन किया गया है।

आठवीं और नवीं शताब्दियों में संस्कृत के उत्तरकालीन साहित्य की ह्रासोन्मुखता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे। प्राण शक्ति के अभाव और रुढ़ियों, कवि समयों, अभिप्रायों और परम्परा-विहित परिपाटियों के प्रयोग मात्र के कारण साहित्य अत्यन्त नीरस और आकर्षण-हीन होता जा रहा था। किन्तु इसी काल में लिखे जाने वाले अपभ्रंश साहित्य में नवीन चेतना और जीवंत शक्ति के दर्शन होते हैं। लोकरस से सिंचित यह साहित्य एक ऊर्ज्जस्वल प्राणवत्ता के साथ प्रस्तुत होता है। स्वयंभू के के 'पउमचरिउ' में भी इस प्राण शक्ति के दर्शन होते हैं।

स्वयंभू ने इस काव्य में मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभूति पूर्ण चित्रण किया है। राम को उन्होंने तुलसीदास की भांति देवत्व के गुणों से युक्त न करके मानव के रूप में ही रखा है, अतः मानवीय गुणों और निर्बलता के चित्रण का उन्हें पर्याप्त अवसर मिला है। कारुणिक दृश्यों के चित्रण में तो वे बेजोड़ हैं। उत्साह, प्रेम, निर्वेद आदि के चित्रण में भी उनकी नवीन सूझों के दर्शन होते हैं। इतना होने पर भी वे कथानक रुढ़ियों, अभिप्रायों और परम्परागत परिपाटियों के ग्रहण से वे सर्वथा अछूते नहीं हैं। परवर्ती अपभ्रंश साहित्य में तथा हिन्दी के चन्दवरदाई, जायसी, तुलसीदास और सूरदास आदि महान् कवियों की रचनाओं में भी हम उनका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। 'मानस' के प्रारम्भ में जिस प्रकार तुलसीदास ने देवस्तुति, सज्जन प्रशंसा, खल निन्दा आत्मनिवेदन आदि किया है, इसी प्रकार स्वयंभू ने भी 'पउमचरिउ' के प्रारम्भ में किया है। जैन धर्मानुयायी होने के कारण स्वयंभू ने प्रारम्भ में ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों का स्तवन किया है और स्मार्त वैष्णव होने के कारण तुलसीदास ने गणेश, सरस्वती शंकर आदि देवताओं की प्रार्थना की है। आत्मनिवेदन में दोनों कवियों ने अपनी नम्रता की हद कर दी है। तुलसीदास अपनी 'भणिति' को 'भदेस' कहते हुए अपने को कवित्त-विवेक से सर्वथा रहित कहते हैं। वे कहते हैं कि 'न तो मैं कवि हूँ न मेरे वचनों में वैदग्ध्य है। सारी कलाओं और विद्याओं से मैं हीन हूं। काव्य विवेक के लिए अक्षरों और अर्थों का अलंकरण, छंद-प्रबन्ध-विधान, भाव, रस, भेद, काव्यगुण आदि का ज्ञान आवश्यक है। ये सब मुझ में नहीं हैं[1]।' ठीक इसी प्रकार का आत्म-निवेदन स्वयंभू का भी है। पंडितों से निवेदन करके वे अपने को महान् कुकवि घोषित करते हैं। व्याकरण का उन्हें कतई ज्ञान नहीं, वृत्ति-सूत्र का वे व्याख्यान भी नहीं कर सकते, प्रत्याहार और संधियों में उनकी बुद्धि लगती ही नहीं, विभक्ति, समास, कारक, अलंकार, प्रत्यय, उपसर्ग का ज्ञान भी उन्हें नहीं है। न तो उन्होंने पांचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल प्रस्तार तथा भामह दंडी के अलंकार शास्त्रों से ही वे परिचित है। फिर भी काव्य रचना का व्यवसाय वे नहीं छोड़ सकते—

बुहयण संयम्भु पइं विण्णवइ,
मइं सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ।
वायरणु कयावि ण जाणियउ,
णउ वित्ति सुत्त वक्खाणियउ।
+ + +
णउ णिसुणउ पञ्च महायकव्वु,
णउ भरहु गेउ लक्खणिविसव्व।

---

१. कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागज कोरे।
(रामचरित मानस, बालकांड)

णउ बुज्झिअउ पिंगल पत्थारू,
णउ भम्मह्—दण्डि—अलंकारू
ववसांउ तोवि णउ णउ परिहरमि।
वरि रड्डाबद्धु कव्वु करमि।
पउम चरिउ (१–३–१ से ६ तक)

यह नम्रता ज्ञापन की रूढ़ि अत्यन्त प्रचलित ज्ञात होती है। लगभग समस्त प्रबंधकार कवियों ने नियमित रूप से इसका प्रयोग किया है। सज्जन प्रशंसा और खल निन्दा तो और भी अधिक प्रचलित काव्यरूढ़ि है। सज्जनों के सम्मुख अपना अज्ञात प्रकट करने में स्वयं को कोई संकोच नहीं है क्योंकि सज्जन सदा परोपकारी और सद्मार्ग के प्रदर्शक होते हैं। किन्तु यदि कोई दुष्टता पर उतर आवे तो ऐसे खल को 'हत्थुत्थिल्लउ' लेने के अतिरिक्त स्वयंभू ऐसे नम्र और उदार व्यक्ति के लिए भी कोई अन्य मार्ग नहीं है। क्योंकि वे जानते हैं कि अभ्यर्थना करने से भी दुष्टों का स्वभाव नहीं बदल सकता।

सठु सज्जन लोयहों किउ विणउ
जं अवुहु पदरिसिउ अप्पणउ।
जइ एम विरूसइ कोवि खलु,
तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु।
पिसुणें किं अब्भत्थिएण जसु को वि ण रुच्चइ।
किं छण चन्दु महागहेण कम्पन्तुवि मुच्चइ।
(१०१–३–१४)

नम्रता प्रदर्शन के साथ साथ यह स्वाभाविक अहं कितना गौरवास्पद है।

तुलसीदास ने सज्जनों की भूरि भूरि प्रशंसा तो की ही, असज्जनों की भी उन्होंने पूर्ण अभ्यर्थना की है। सज्जन तो सर्वगुण सम्पन्न हैं ही, उन्हें जगत का 'जंगम तीर्थराज' कहने में तुलसीदास ने संकोच नहीं किया।[1] साथ ही बिना काज दाहिने बाएं चलने वाले खलों को भी उन्होंने सद्भाव के साथ स्मरण किया,[2] यद्यपि उन्हें यह ज्ञात है कि अत्यन्त अनुराग के साथ पाला हुआ काग भी निरामिष नहीं हो सकता।[3]

जन हिताय

'राम चरित मानस' की रचना तुलसीदास ने स्वान्तः सुखाय की किन्तु यह रचना सर्वथा जनहिताय सिद्ध हुई। स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' की रचना जन साधारण के लिए ही की। इसीलिए वे पांडित्य प्रदर्शन के के लिए 'आगम–युक्ति' गढ़ने के चक्कर में न पड़कर सामान्य भाषा में रचना करना चाहते हैं। सामान्य भाषा को वे छोड़ ही नहीं सकते, क्योंकि इसके परित्याग से उनके वचन सुभाषित नहीं होंगे[4] जन साधारण के लिए लिखे गए, इस रामायण काव्य में स्वयंभू अपना सारा अपनापन–अपना सारा व्यक्तित्व–उड़ेल देना चाहते हैं।[5]

गोस्वामी तुलसीदास और स्वम्भू में समान रूप से पाई जाने वाली इन काव्य रूढ़ियों को देखकर हमें कदापि यह नहीं सोचना चाहिए कि तुलसीदास ने स्वयंभू का अनुकरण किया होगा। इन काव्य–रूढ़ियों का प्रयोग अपभ्रंश और हिन्दी के समस्त प्रबंधकार कवियों ने किया है। पुष्पदंत, अब्दुर्रहमान, रइधू, चन्दवरदाई, जायसी आदि की रचनाओं में इन्हें किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है।

'पउमचरिउ' के विभिन्न वर्णनों में भी इन काव्य

१. सुजन समाज सकल गुन खानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी।
मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।
२. बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं।
३. यद्यपि पलिहहिं अति अनुरागा। कबहुं निरामिस होहिं कि कागा।
४. सामण्ण भास छुडु सावडउ छुडु आगम–जुत्ति कावि घडउ।
छुडु होन्तु सुहासिय वयणाइं गामिल्ल भास परिहरणाइं॥ (प० च०, १–३–१० ११)
५. पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कावें (वही, १–१–१६)

रूढ़ियों और अभिप्रायों को ढूंढा जा सकता है। सीता (३८-३) और मंदोदरी (१०-२-३) के रूप चित्रणों में उन्होंने कविसिद्ध उपमानों और अभिप्रायों का पूर्णतया प्रयोग किया है। अयोध्या और लंका के रनिवासों के वर्णन में सामंती व्यवस्था का सुन्दर चित्रण हुआ है। पावस (२८-१ से ३) बसंत (२६-५), संध्या (७२-३) समुद्र (२७-५), नदी (३१-३), वन (३६-१) आदि प्रकृति चित्रणों में भी इन रूढ़िगत प्रयोगों को देखा जा सकता है, जिनका प्रयोग परवर्ती कवियों ने बहुत अधिक किया है।

स्वयंभू में इन रूढ़िगत प्रयोगों का बाहुल्य है, किन्तु उनकी महानता की कसौटी ये प्रयोग नहीं, वरन् उनके सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित उनकी भाव प्रवीणता है जिसका विस्तार 'पउम चरिउ' के प्रत्येक कांड में देखा जा सकता है, 'सीता' के सौंदर्य का चित्रण वे रूढ़िगत उपमानों के आधार पर ही करते हैं, पर उसी में उनके निरीक्षण की सूक्ष्मता यत्र-तत्र झलक जाती है-

थिर कलहंस गमण गइ मंथर ।
किस मज्झारे णिपवे सुवित्थर ।
रोमावलि मयरहरु णिग्गजी ।
णं पिंपिलि-रिंछोलि विलिस्णी ।

यहां सीता के लिए कलहंस गमना, कृषमध्या, विशाल नितम्बा आदि विशेषणों का परम्परायुक्त प्रयोग करते हुए भी रोमावलि को पिपीलिका पंक्ति के समान कहकर कवि ने अपने निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करदी है। इसी प्रकार पावस ऋतु में मेघों के प्रसार का वर्णन करते हुए स्वयंभू ने परम्परागत रुढ़ियों का पालन तो किया ही है, किन्तु जब वे मेघ प्रसार के लिए सादृश्य मूलक भावों को उपस्थित करने लगते हैं तो उनके सूक्ष्म निरीक्षण और भाव प्रसार की सराहना करते नहीं बनती।

स्वयंभू के राम इसी पृथ्वी के यथार्थ मानव हैं। वे अलौकिकता से सर्वथा निरावृत हैं। उनमें विपत्तियों से सामना करने के लिए शक्ति तो है ही, आपदाओं से आहत हो जाने पर संसार को करुणा विचलित कर देने वाली दुर्बलता भी है। राम और सीता के रूप में पुरुष और नारी का बड़ा ही रम्य और स्वाभाविक चित्र स्वयंभू ने उपस्थित किया है। पुरुष और नारी के सम्बन्धों का जैसा यथातथ्य और उदात्त चित्र अग्नि परीक्षा के समय उपस्थित होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कारुणिक स्थलों पर तो स्वयंभू की लेखनी अबाध करुणा स्रोत का सृजन कर देती है। सारा जन समाज करुणा प्लावित हो उठता है। वन गमन के समय राम के लिए माता का विलाप लोकगीतों का सहज सम्भाव्य रस उड़ेल देता है। रावण की मृत्यु पर विभीषण और मंदोदरी के विलाप, अञ्जना सुन्दरी के लिए पवनञ्जय का विलाप, और लक्ष्मण के आहत हो जाने पर भरत और राम का विलाप सारे संसार को विचलित कर देने वाला है। तुलसी के राम की ही भांति स्वयंभू के राम भी भरत-वियोग में शोक विह्वल हो सारी मर्यादायें भूल जाते हैं—

वरि दंति दंते मुस लग्गेहिं,
सिरि मिन्दाविउ अप्पणउ।
वरि णरय दुक्खु आयमिउ,
णउ विऊउ भाइहि तणउ।
(प० च० ६७।४)

युद्ध कांड में दर्प से पूर्ण वीरता का भव्य स्वरूप देखा जा सकता है। शान्त रस तो जैन धर्म के सैद्धान्तिक निरूपण का प्रधान तत्व ही है। समस्त घटनाओं का पर्यवसान, संसार की क्षणभंगुरता के उपदेश के साथ विरक्ति और निर्वेद में ही होता है और सारे प्रभावशाली पात्र जिन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।

'पउम चरिउ' का सर्वांगपूर्ण अध्ययन अभी नहीं हो पाया है। इसके भाव पक्ष और कला पक्ष का समुचित विवेचन हिन्दी साहित्य के अध्ययन में पूर्ण सहायक होगा। इस पद्धड़िया बद्ध काव्य के अध्ययन से भाव, भाषा, काव्यरूप, कथानक रुढ़ि, अभिप्राय आदि के अध्ययन में पूरी सहायता मिलेगी।

———

पं. भगवानदास जैन, जयपुर

वास्तुस्थापत्य-मूर्त्ति निर्माण

> मूर्ति के अंगोपांग शास्त्र के नियमानुसार होने चाहिये। आज कल मूर्तियों का निर्माण प्राय: मन: कल्पित होता है। जिससे मूर्ति सदोष हो जाती है। इस प्रकार मूर्ति निर्माण की संक्षिप्त अवतरणिका इस लेख में शास्त्रानुसार लिखी गई है।

मूर्तियों की आकृति पूजकवर्ग की रुचि के अनुसार अनेक प्रकार की हैं, उनमें से जैन मूर्तियों की आकृति प्राय: दो प्रकार की मुख्य हैं एक तो खड्गासन वाली अर्थात् खड़ी कायोत्सर्ग वाली ध्यानस्थ मूर्ति है और दूसरी पद्मासन लगाकर बैठी हुई ध्यानस्थ मूर्ति है।

मूर्ति के निर्माण सम्बन्ध के जैनाचार्यों एवं अन्य आचार्यों द्वारा अनेक वास्तुशास्त्र ग्रंथ रचे हुए मौजूद हैं। इनमें मूर्ति निर्माण करने का सारांश इस प्रकार लिखा गया है—

जिस मनुष्य को मूर्ति बनाने की अभिलाषा हो वह मूर्ति बनाने वाले शिल्पी को साथ लेकर शुभ दिन और शुभ शकुन देख कर पाषाण की खानों में जावे वहां शिल्पी शिला की परीक्षा करे कि—शिला पुल्लिग है या स्त्रीलिंग या नपुंसक लिंग है, जो देव की मूर्ति बनाने की होवे तो पुल्लिग शिला और देवी की मूर्ति बनाने की होवे तो स्त्रीलिंग शिला उपयोग में लेवे। नपुंसक शिला कोई भी देव देवी की मूर्ति के लिये लेना नहीं चाहिये किन्तु देवालय, देवपीठ आदि के लिये काम में लाना चाहिये, इस प्रकार शिला की प्रथम बार परीक्षा होने के बाद उसके ऊपर वास्तु शास्त्रों में कथित औषधियों का लेप करना चाहिये, जिसे शिला के भीतर कोई दाग आदि हो तो ऊपर दीख जाता है, यदि दाग देखने में आवे तो वह शिला मूर्ति निर्माण में काम नहीं लेना चाहिये। बिना दाग की प्रशस्त शिला देखने में आवे तो पीछे देखना चाहिये कि शिला का माथा मुख, पद और पैर किस दिशा में रही है, उस पर चिन्ह कर लेना चाहिये, जिससे मूर्ति बनाते समय शिला के माथा के स्थान पर मूर्ति का माथा और पैर के स्थान पर पैर बना सके। यदि चिन्ह करना भूल जाय तो फिर खान से बाहर निकालने बाद उस समय शिला की यह परीक्षा नहीं हो सकती। यदि शिला के पैर के स्थान पर मूर्ति का माथा बन जाय तो वह मूर्ति फलदायक नहीं होती है।

इस प्रकार शिला परीक्षा करने के बाद उसको आमंत्रित किया जाता है कि—'अमुक कार्य के लिये अमुक शुभ समय में निकाली जायगी।', पीछे सुवर्ण या चांदी के हाथी या वृषभ बना कर के उसके दांत अथवा श्रृंग से उस शिला का विदारण (निमित्तमात्र) किया जाता है। बाद शस्त्रों से विदारण करना चाहिये।

जब शिला निकल जाय, तब अच्छे (शुभ) समय में मंत्रोच्चारण पूर्वक शिला को रथ में रखकर बाजे गाजे के साथ बड़े महोत्सव पूर्वक शहर में प्रवेश करावे। उसको शिल्पी मन के शुद्ध परिणाम पूर्वक प्रसन्न चित्त से मूर्ति बनावे। मूर्ति बनाते समय शिल्पी का मनोभाव जैसा होगा वैसा ही मूर्ति पर असर होता है। इसलिए वास्तु-शास्त्रों में कहा है कि—'अन्याय द्रव्य निष्पन्ना मूर्ति रोरकरी भवेत्।' अर्थात् अन्यायोपार्जित द्रव्य से बनवाई मूर्ति दुष्काल करने वाली है। मूर्ति बनाने का शिल्पी को वेतन कोई निश्चित नहीं किया जाता है मगर जब मूर्ति
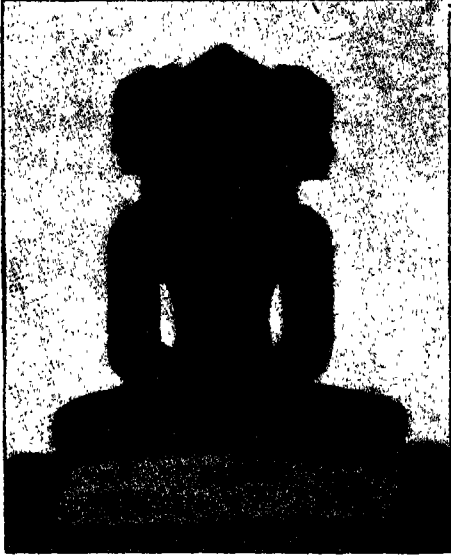
गगा पुरातत्वांक में चतुर्मुख जिनमूर्ति लिखा
है परन्तु आठ मुख मालुम होते हैं।
(लन्दन म्युजियम में)
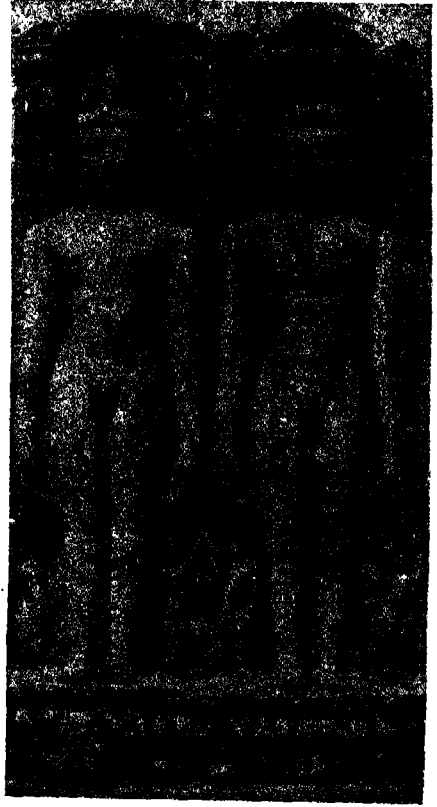
कामोत्सर्ग एवं दिगम्बर जिनमूर्ति
(लन्दन म्युजियम में)

तैयार कर के मालिक को सौंप देवे तब शिल्पि को धन-धान्य से संतोषित करना चाहिये, तब शिल्पि आशीर्वाद देवे कि 'यह मूर्ति आपको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फल को देने वाली होवे'।

इस प्रकार मूर्ति निर्माण का वर्णन वास्तु शास्त्र में लिखा है। मगर इस शास्त्र का प्रचार न होने से उक्त विधि का परिज्ञान नही है। जो शिल्पि जैसी भी मूर्ति बनाकर देवे वही लेली जाती है। इतना ही नहीं किन्तु मूर्ति का मूल्य भी न्यूनाधिक करना पड़ता है, यह अपमान-जनक ही है, क्योंकि जिस मूर्ति को साक्षात् परमात्मा देव मान कर उपासना करते हैं और जिसके सामने नतमस्तक होते हैं उसका मूल्य आंकना कैसे ठीक हो सकता है, मंडन सूत्रधार ने अपने देवता मूर्ति प्रकरण में लिखा है कि—

''शालिग्रामशिलाया यो मूल्यमुद्घाटयेन्नरः।
विक्रेता चानुमान्ता च यः परीक्ष्यानुमोदयेत्॥
सर्वे ते नरकं यान्ति यावदाभूत सम्प्लवम्॥६२॥
अध्याय ५

अर्थात् जो शालिग्राम शिला के मूल्य का उद्घाटन करें, बेचे, बेचने की अनुमति दें और इसकी परीक्षा का अनुमोदन करें, वे सब मनुष्य नरकगामी होते हैं। यदि मूर्ति को ईश्वर तुल्य मानते हैं तो सम्मानपूर्वक बनाना चाहिये; लेकिन शाक भाजी की तरह मूल्य करना कहां तक ठीक हो सकता है जिसके लिए हजारों रुपये खर्च करके देवालय (मंदिर) बनाते हैं और जिसकी प्रतिष्ठा में हजारों रुपये व्यय करते हैं तथा मिष्ठान भोजन करते हैं ऐसे तो मूर्ति के लिए कृपणता करना किसी भी तरह उचित नहीं है।

पद्मासन (बैठी) मूर्ति समचतुरस्र संस्थान वाली श्रेष्ठ मानी गई है। मूर्ति का विस्तार याने एक जानु से दूसरे जानुतक जो माप होवे, यही माप दाहिने स्कंध से बांयी जानु तक और दाहिनी जानु से बांये स्कंध तक तथा आसन से केशान्त तक होनी चाहिये यही सम-चतुरस्र संस्थान कहलाता है। एवं मूर्ति अधोमुख वाली, ऊर्ध्व मुख वाली और तिर्यक मुख वाली भी नहीं होनी चाहिये।

मूर्ति के पाषाण में श्याम आदि कोई रेखा या दाग नहीं होना चाहिये, होवे तो वर्ण सकंरता मानी जाती है।

मूर्ति के अंगोपांग शास्त्र के नियमानुसार होने चाहिये। आज कल मूर्तियों का निर्माण प्रायः मनः कल्पित होता है। जिससे मूर्ति सदोष हो जाती है। इस प्रकार मूर्ति निर्माण की संक्षिप्त दो अवतरणिका शास्त्रानुसार लिखी गई है।

———

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
संसद् सदस्य, दिल्ली

अहिंसाके पुजारी एल्बर्ट स्वाइटजर

"सुबह हम दोनों स्टेशन की ओर रवाना हुए। रास्ते में मैंने उनकी अहिंसा का प्रत्यक्ष उदाहरण देखा। हम दोनों मिलकर उनका एक भारी बंडल और एक छड़ी लिये हुए थे। बंडल के एक-एक सिरा दोनों जने पकड़े थे। बर्फ की वजह से सड़क बहुत फिसलनी हो रही थी। हम दोनों झपटते हुए चले जा रहे थे। एकाएक वे रुक गये। झटके की वजह से मैं प्राय: गिर-सा पड़ा। उन्होंने इसके लिए मुझसे माफी मांगी, और सड़क से एक कीड़े को उठाया। कीड़ा सर्दी और बर्फ से अधमरा हो रहा था। उन्होने उसे उठाकर सड़क के किनारे, एक झाड़ी के नीचे, सूखी भूमि में रख दिया, और बोले यहां हिफाजत से रहेगा। सड़क पर पड़ा रहेगा; तो मर जायगा।"

उपर्युक्त घटना सन् १६२३ में घटी थी और यह दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रूज द्वारा अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटजर के विषय में लिखी गई है। स्वाइटजर का जन्म १४ जनवरी सन् १८७५ को हुआ था और इस समय वह ८७ वर्ष के युवक हैं। भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञाता होने के कारण उनकी गणना संसार के अद्भुत महापुरुषों में की जाती है। जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स बड़े भारी सेनाध्यक्ष और फौजी विज्ञान के आचार्य थे, और साथ ही साथ बड़े राजनीतिज्ञ और दार्शनिक भी, और जिस तरह आयरलैण्ड के जार्ज रसल (ए० ई०) उत्कृष्ट कवि होने के साथ-साथ बड़े अच्छे चित्रकार और समाज-सेवक भी थे, उसी प्रकार एल्बर्ट स्वाइटजर भी प्यानो बजाने में दुनियां के सर्वश्रेष्ठ कलाकार होने के साथ ही साथ अतिउच्चकोटि के समाज-

> मैंने उन्हें महात्माजी के आश्चर्य-जनक अस्त्र अहिंसा की बातें बताईं। स्वाइटजर के वैज्ञानिक भाव जाग्रत हो गये, और उन्होंने जैन-धर्म और अहिंसा शब्द के वास्तविक अर्थ आदि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने यह भी पूछा कि भारत के धार्मिक जीवन में इस सिद्धान्त का प्रभाव कितना है।

लेवक और धर्म शास्त्र के विश्वविख्यात आचार्य भी हैं।

जब एल्बर्ट स्वाइटजर पांच बरस के थे तभी से उनके पिता जी ने उनको गान विद्या की शिक्षा देना शुरू कर दिया था। आठ बरस की उम्र में वे प्यानो बजाने लगे थे। १८९३ में उन्होंने स्कूल लीविंग परीक्षा पास कर ली। १८९८ में उन्होने धर्म विज्ञान की परीक्षा पास की और १८९९ में उन्होंने दर्शन शास्त्र की डिग्री ली। इस प्रकार धर्म विज्ञान और दर्शन शास्त्र में उन्होंने ऊंची से ऊंची परीक्षाएं पास कर लीं।

उनकी बाल्यावस्था की कई मधुर घटनाएं प्रसिद्ध हैं। एक बार उनकी माताजी ने उनके लिए ओवर कोट सिलवा दिया, जो उनके पिताजी के पुराने ओवर कोट से बनाया गया था और उनसे कहा—"देखो एल्बर्ट, मैंने तुम्हारे लिए एक ओवर कोट बनाया है और वह बिल्कुल नया मालूम होता है।" एल्बर्ट के गाल लाल हो गए और उन्होंने कहा— "माताजी, आज तो ज्यादा

सर्दी नहीं है, मुझे ओवर कोट की जरूरत नहीं।" माताजी ने कहा— "देखो काफी कोहरा पड़ा हुआ है, तुम इसे पहन लो।" एल्बर्ट ने कहा—"माताजी, और किसी बच्चे के पास तो ओवर कोट है ही नहीं, फिर भला अकेला मैं उसे क्यों पहनूं ?" माताजी ने कहा— "अच्छा, इसकी चर्चा कल फिर करेंगे।" दूसरे दिन इसी सवाल पर अपने पादरी पिता जी से उनका झगड़ा हो गया। पिताजी ने उन्हें काफी डाट बताई और कहा— "तुम जिद क्यों करते हो ? देखो तुम्हारी माताजी कितना परिश्रम करके तुम्हारे लिए कपड़े तैयार कराती है, और तुम्हारा फर्ज है कि उन्हें खुश करने के लिए कम से कम पहन तो लो।" पर एल्बर्ट इस बात से राजी नहीं हुए, क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि वे ऐसी चीज पहने, जो दूसरे विद्यार्थियों को मुयस्सर नहीं। दूसरे दिन उनके पिताजी ने उन्हें धक्का देकर घर से निकाल दिया और कहा— 'जाओ, बाहर जाओ और जब तक तुम अपनी यह जिद नहीं छोड़ते, बाहर रहो।" एल्बर्ट घर के बाहर बैठे हुए अपने घुटनों पर हाथ रख कर रोते रहे। यह घटना उनके समस्त जीवन पर प्रकाश डालती है।

अहिंसा के समर्थक

एल्बर्ट स्वाइटजर अहिंसा के समर्थक के नाम से मशहूर हैं। सत्याग्रह सिद्धान्त की खूबी उन्हें कैसे ज्ञात हुई, वह भी सुन लीजिए। एक दिन उन्होंने देखा कि सड़क पर एक अपमानित यहूदी जा रहा था। गांव के लड़के उसके पीछे पीछे उस पर आवाजें कसते हुए और तंग करते हुए आ रहे थे, मगर वह उनके तानों के उत्तर में मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की उदारता और शराफत के भाव थे।

स्वाइटजर ने अपने संस्मरणों में लिखा है—"उसकी इस मुस्कराहट ने मुझे वश में कर लिया। मैने उसी यहूदी से पहले-पहल यह बात सीखी कि दूसरों के उत्पीड़न को किस तरह शान्तिपूर्वक बर्दाश्त किया जाता है। वह यहूदी ही मेरा सबसे बड़ा गुरु है।"

उनकी अहिंसा का एक उदाहरण और भी सुन लीजिए। एक बार बसन्त ऋतु में वे अपने एक साथी विद्यार्थी हेनरी के साथ वन-यात्रा के लिए गए हुए थे। वहां एक पेड़ पर बहुत सी चिड़ियां उन्होंने देखीं। हेनरी ने कहा—"देखो कैसी सुन्दर चिड़ियां इस वृक्ष पर हैं, जिनकी चोटी लाल है, पर पीले। देखो एक चिड़िया को तो मैं अभी अभी गिरा सकता हूं।"

ज्यों ही हेनरी ने अपने गुलेल के लिए एक पत्थर उठाया और एल्बर्ट से कहा कि तुम भी एक पत्थर उठाओ। उसी समय गिरजा-घर के घण्टे बजने लगे। एल्बर्ट के दिमाग में बिजली की तरह एक विचार कौंध गया। बाइबिल में लिखा है। "तुम किसी की हत्या मत करो।" बस तुरन्त ही बड़े जोर से चिल्लाए और हाथ से तालियाँ भी बजाई। इस शोर-गुल को सुनते ही तमाम चिड़ियां पेड़ पर से उड़ गई और उनका साथी हेनरी भौचक्का-सा रह गया। हेनरी ने उसे बहुत फटकारा पर एल्बर्ट ने उसका कोई भी जवाब नहीं दिया। उस दिन से एल्बर्ट ने यह सबक सीख लिया कि चाहे कोई कुछ भी कहता रहे, मैं उसकी परवाह न करके अपनी बात पर दृढ़ रहूंगा उस दिन के बाद वे किसी भी मछली पकड़ने या शिकार करने की पार्टी में शामिल नही हुए और न किसी ऐसे खेल में, जिसमें किसी जीव की हिंसा हो।

धर्म विज्ञान और दर्शन शास्त्र में ऊंची से ऊंची डिग्री पाने पर भी उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं डाक्टर बनकर अफ्रिका के नीग्रो लोगों के बीच में काम करूंगा, और उन्होंने एक मेडिकल कालेज में शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। उनके साथी-संगियों ने बहुत कुछ मना किया और जब मेडिकल कालेज में दाखिल होने के लिए गए तो वहां के आचार्य ने उनकी इस बात पर यकीन ही नहीं किया कि उनके विश्व-विद्यालय का एक महान शिक्षक मामूली विद्यार्थियों के साथ डाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल होने आ रहा है। उन्होंने समझा कि स्वाइटजर विक्षिप्त हो गए हैं और उन्होंने स्वाइटजर साहब से कहा—मालूम होता है कि आप बहुत काम करते रहे हैं. आप छुट्टी क्यों नहीं ले लेते ?

अगर आप चाहें तो इस बारे में मनोवैज्ञानिक डाक्टर से कुछ बातचीत कर लें।" यह सुनकर स्वाइटजर साहब बड़े जोर के साथ हंसे और बोले—नहीं, नहीं, मैं कोई पागल थोड़ा ही हो गया हूं। मैं सचमुच डाक्टरी पढ़ना चाहता हूं। और तीस बरस की उम्र में वे डाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल हो गए। और छः बरस तक वह घोर परिश्रम करते रहे और इस प्रकार उन्होंने डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उसके बाद वे साल भर तक अस्पतालों में व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। सन् १९१३ में वे अफ्रीका के लिए रवाना हो गये और तब से लेकर अब तक ४६ वर्ष तक वहीं निरन्तर काम करते रहे हैं। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज ने उनके बारे में लिखा है।

"इस प्रकार तीस वर्ष तक की अवस्था में इस व्यक्ति के पैरों पर सारा संसार दिखाई देता था, परन्तु उसी समय स्वाइटजर ने एकाएक यह निर्णय किया कि वे समस्त ख्याति और ऐश्वर्य को त्याग कर, अफ्रीका की जंगली जातियों में रह कर, उनका इलाज करके उनकी सेवा करेंगे, और अपना सारा जीवन उनकी सहायता करने और उन्हें आराम पहुंचाने में लगायेंगे। गत सत्ताईस वर्षों से वे अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए कांगो नदी के तट पर रहते है, और जंगली जातियों की सेवा में निरत हैं। उनकी वीर और विदुषी पत्नी उनके इस कार्य में उनकी सहायता करती हैं। उन्होने सब प्रकार की विपत्तियां झेली हैं, और अनेक बार उनका स्वास्थ्य भंग हुआ है। उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का भी कुछ कम सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि उन्होने यह ठान रखी है कि सरकार या किसी सोसायटी से पैसा नहीं लेंगे, बल्कि स्वयं अपने परिश्रम पर निर्भर रहेंगे। उन्होंने अफ्रिका की दो-तीन आदिम जातियों के सम्बन्ध में किताबें लिखी हैं, जिसमें उन्होंने अफ्रिका के जंगलों में अपने जीवन की कथा सुनाई है। ये पुस्तकें मानव-प्रकृति और विज्ञान के गम्भीर रहस्यों से परिपूर्ण हैं। इन पुस्तकों की बिक्री से, तथा जब कभी—बहुत दिनों बाद—वे यूरोप आते हैं, तब वहां संगीत का कन्सर्ट बजाकर जो पैसा कमाते हैं, उससे अपना, अपने परिवार का तथा अस्पताल का खर्च चलाते हैं।"

प्रथम महायुद्ध के दिनों में बन्दी बना लिए गए थे।

सर्व जीव दया का सिद्धान्त

१९१५ की बसन्त ऋतु में वे एक छोटे-से स्टीमर द्वारा नदी की यात्रा कर रहे थे। आस-पास वन का दृश्य था और उन्होंने देखा कि प्रकृति में चारों ओर संघर्ष चल रहा है। पेड़-पौधे तथा जंगल के जीवन अपने जीवन को कायम रखने के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। उसी समय एक विचार आया "क्या हम लोग एक दूसरे का विनाश करके जीवित रह सकते है ?" उस समय उनके हृदय में बड़ी दुविधा उत्पन्न हो गई। वे इस प्रश्न को हल नहीं कर पा रहे थे। दो दिन तक उनका स्टीमर चलता रहा और उनका दिमाग भी चक्कर काटता रहा। तीसरे दिन शाम को जबकि सूर्यास्त का बड़ा सुन्दर दृश्य उनके सामने उपस्थित था, एक साथ उनके मस्तिष्क में एक उज्ज्वल विचार उत्पन्न हुआ-सर्व जीव दया (Reverence of life) मानों उन्हें जीवन दर्शन की कुंजी ही मिल गई। तब से वे समस्त संसार में अपने सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त का गम्भीर मनन किया है और निश्चित परिणामों पर भी पहुंचे हैं। उनके सिद्धान्त का सार यह है "प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है और उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।" पर क्या हम हिंसा से पूर्णतया बच सकते है ? एल्बर्ट स्वाइटजर का मत है" कभी कभी हिंसा हमें करनी ही पड़ती है। अपने मरीजों को बचाने के लिए हमें कीटाणुओं को नष्ट करना पड़ता है। लेकिन बिना किसी कारण के हमें यह अनाचार हरगिज नहीं करना चाहिए। दुनियां में कोई चीज इतनी छोटी नहीं है, कि जो हमारी प्रेम की पात्र न बन सके। सच्चा अहिंसावादी किसी पेड़ की पत्तियों को भी नहीं काटेगा। मार्ग में चलते हुए वह कीड़ों-मकोड़ों को अपने पैर के नीचे आने से बचावेगा, यहां तक कि वह रात को खिड़कियां बन्द करके लैम्प की रोशनी में काम करना पसन्द करेगा, बजाय इसके कि खिड़की खोलकर परवानों को लैम्प पर आकर जलने दे।" एक बार एक पालतू हिरन ने उनके वर्षों के परिश्रम से लिखित एक ग्रन्थ को ही चबा डाला, पर

स्वाइटजर साहब उस पर बिल्कुल नाराज नहीं हुए। सिर्फ इतना ही कहा—"अरे भले मानस, तू नहीं जानता कि तूने यह क्या कर डाला है।"

दीनबन्धु ऐराड्रूज ने अपने एक लेख में लिखा है—"जब मुझ से स्वाइटजर से भेंट हुई, तो उन्होंने फौरन ही मेरे समस्त हृदय पर अधिकार कर लिया। मैंने कभी उनके समान बच्चों की–सी स्वाभाविक सरलता का आदमी नहीं देखा। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि वे अंगरेजी नहीं जानते हैं, और मेरा जर्मन अथवा फ्रेंच का ज्ञान बहुत अल्प है। खैर, किसी तरह हम लोगों ने इस मुश्किल को हल किया। हम लोगों की बातचीत शुरू से आखिर तक गांधीजी के सम्बन्ध में ही थी।

भारत की परिस्थिति ने उन पर गहरा प्रभाव डाला था। उन्होंने मुझ से कहा—"आपका और मेरा देश बहुत कुछ–एक-सा है। हम दोनों के देशों को पराजय उठानी पड़ी हैं, और दोनों ही के देश आजकल पीड़ित हैं।"

मैने उन्हें महात्माजी के आश्चर्यजनक अस्त्र अहिंसा की बातें बताईं। स्वाइटजर के वैज्ञानिक भाव जाग्रत हो गये, और उन्होंने जैन–धर्म और अहिंसा शब्द के वास्त–विक अर्थ आदि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने यह भी पूछा कि भारत के धार्मिक जीवन में इस सिद्धान्त का प्रभाव कितना है।

मगर थोड़ी ही देर बाद हम लोग घूम–फिर कर पुनः महात्माजी के विषय पर पहुंच गये। सवाल पूछते–पूछते उनकी तबियत ही नहीं भरती थी। वे बराबर प्रश्न–पर–प्रश्न करते जाते थे। हमारे दुभाषिया महाशय को मेरी बात उन्हें समझाने में विशेष कठिनाई होती थी। स्वाइटजर को इस बात की बड़ी खुशी थी कि मैं महात्मा के साथ रह चुका हूं, और उनके निजी मित्र की हैसियत से उनकी बातें बता सकता हूं। बार–बार वे यही कहते थे—"आप बड़े भाग्यवान हैं।"

हम लोग बड़ी रात तक बैठे हुए अहिंसा की बातें करते रहें। उन्होंने मुझसे कहा कि उनके जीवन का भी सबसे गम्भीरतम सिद्धान्त यही रहा है, और महात्मा ने भारत के राष्ट्रीय संग्राम का इसे मूल सिद्धान्त बनाकर बहुत ही अच्छा किया।

कुछ दिन हुए स्वाइटजर साहब को शान्ति पुरस्कार मिला था।

जैसा कि हम कह चुके हैं, वे ४९ बरस से अफरीकन लोगों की सेवा कर रहे है। सहस्रों ही आपरेशन उन्होंने इस बीच में किये है और शायद कई लाख रोगियों का इलाज किया है, और सबसे बड़ी खूबी की बात यह है कि यह कर्तव्य उन्होंने किसी परोपकार की भावना से नहीं किया, बल्कि वे समझते हैं कि गोरे लोगों ने काले आदमियों पर जो महान् अत्याचार किये है, उनके प्राय–श्चित स्वरूप ही मैं उनकी कुछ सेवा कर रहा हूं।

कुछ वर्ष पहले मैने पढ़ा था कि संसार में प्रभु ईसा मसीह के तीन अनुयायी सबसे महान् माने जा सकते हैं—एल्बर्ट स्वाइटजर, दीनबन्धु ऐराड्रूज और कागावा। इनमें से दीनबन्धु ऐराड्रूज के साथ वर्षों तक काम करने का मौका मुझे मिला था और जापान के कागावा के दर्शन भी मैंने किये थे। मेरे मन में अभी एक लालसा बाकी है यानी कभी अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटजर के चरण-स्पर्श करने की।

———

डा० सत्यदेव चौधरी

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,

जैन-काव्य में कल्पना-सौन्दर्य

'जैन काव्य' शब्द से तात्पर्य है, जैन-कवियों द्वारा अर्ध-मागधी तथा अन्य प्राकृतों में प्रणीत महाकाव्य और मुक्तक रचनाएं। इन कवियों में कालक्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम स्वयम्भू का नाम उल्लेखनीय है और इनके उपरान्त प्रख्यात कवियों में पुष्पदन्त, धनपाल धक्कड़, नयनन्दी, कनकामर, यशःकीर्ति, हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि आदि का। इनके प्रबन्ध-काव्यों में कथा-विकास, प्रबन्ध काव्यत्व, जैन सिद्धान्तों की अनुस्यूति आदि का निर्वहण किस प्रकार हुआ है, अथवा उनके मुक्तकों में धार्मिक एवं लौकिक चर्चाओं को किस रूप में स्थान मिला है, प्रस्तुत निबन्ध में इन सब का उल्लेख न कर केवल कल्पना सौन्दर्य पर ही प्रकाश डाला जाएगा, जिसके अभाव में कोई रचना केवल पद्यात्मक बन कर रह जाती है और जिसके सद्भाव पर ही कवि-कर्म प्रमुखतः आधारित है। इसका ही अपर नाम भामह-सम्मत 'वक्रोक्ति' है जिसे वह लोकवार्ता से विभिन्न मानता है, और जिसे दण्डी स्वभावोक्ति से पृथक मानता है। यही कल्पना ही ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य तथा रस का आधारभूत तत्त्व है।

(१)

कल्पना सौन्दर्य

जैन-काव्यों में कल्पना-सौन्दर्य अधिकांशतः संस्कृत के गद्यात्मक एवं पद्यात्मक काव्यों में प्रचलित अलंकारों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो मूलतः बाह्य चमत्कार पर आश्रित है, जैसे-अपन्हुति, परिसंख्या, विरोधाभास, सहोक्ति आदि। कतिपय उदाहरण लीजिये-अयोध्या के अन्तःपुर की नारियों के अंगों का वर्णन करते हुए स्वयम्भू कहते हैं-"क्या यह उनका मुख है, ! नहीं, नहीं, यह तो चन्द्र बिम्ब है, क्या ये उनके अधर हैं ? नहीं, नहीं, यह तो पक्व बिम्बफल हैं।

> जैन-कवियों ने मूलतः धर्मप्रधान काव्यों की रचना करते हुए भी उन्हें कोरा धर्मोपदेशक ग्रन्थ नहीं बना दिया।
>
> काव्यधर्म के प्रमुख तत्व कल्पना की सुरक्षा करते हुए इन्हें वाग्वैदग्धय के बल पर चमत्कृत किया है-यह अलग प्रश्न है कि इनमें स्थलों से ये अनुस्यूत नहीं हैं। वस्तुतः यह समुचित भी हुआ है अन्यथा मूल विषय के प्रति अन्याय होने का भय रहता।

कि आणणु, णं णं चंदबिम्ब।
कि अहरउ णं णं पक्क-बिंधु॥

पउमचरिउ ६६।२१

'भविसयत्त-कहा' की एक नारी पात्रा का रूप चित्रण करते हुए धनपाल धक्कड़ बाणभट्ट की शैली में विरोधाभास के आधार पर उस सद्गुण सम्पन्ना को भी सदोषा बताते चले जा रहे हैं—

असिरिव सिरिवत्त सजल वरंग वरंगणवि।
मुद्धवि सवियार रंजणसोह णिरंजणवि॥

भ० क० ११-६-१२

'असिरि' (अश्री अर्थात् निर्धन होते हुए भी वह सिरिवत्त अर्थात् श्रीमती थी। 'वारांगना' (वेश्या, पक्षे-श्रेष्ठ स्त्री) होते हुए भी वह सजल वरांग थी अर्थात् उसके सुन्दर अंग स्वेद-समुज्ज्वल थे। वह मुग्धा (मूर्खा) होते हुए भी सुविचारतशीला मुग्धा नायिका थी। निरंजन होते हुए भी रंजन शोभा-युक्ता थी अर्थात् उसने आंखों में

अंजन नहीं लगाया हुआ था, तो भी वह मनमोहक सौन्दर्य शालिनी थी। इसी प्रकार परिसंख्या अलंकार के निर्वाह में भी कवि को शैलीगत विशेषता की ही शरण में जाना पड़ता है—करकंड का हाथ घणु (धन) देने के लिये फैलता है, न कि प्राणिवधार्थ धनुष द्वारा बाण चलाने के लिये—

घणु देवएं पसरइ जासु कर णउ पाणि हैव्वइं धरइ सरु।
करकंड चरिउ १।५।५

इसी प्रसंग में बाणभट्ट की ही एक अन्य शैली का अवलोकन कीजिये। पुष्पदन्त किसी वियोगिनी की हृदय-दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'उस वियोगिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान लगता था, भूषण सन के बन्धन के समान प्रतीत होते थे, × × × वसन को वह व्यसन समझती थी और चन्दन उसके लिये विरहाग्नि के ईंधन के समान था।[1]

इसी प्रकार सहोक्ति अलंकार के चमत्कार में भी कवि को कल्पना की अपेक्षा शब्द चयन की आवश्यकता अधिक रहती है। युद्धभूमि का यह दृश्य देखिये-इधर रणभूमि में सूरों (शूरवीरों) का अस्त हुआ और उधर सूर्य का। इधर गजों का काला मद फैला और उधर अन्धकार। इधर गजों के गण्डस्थलों से मोती विकीर्ण हुए और उधर नक्षत्र उदित हुए। इधर विजयी राजा का धवल यश बढ़ा और उधर शुभ्रचन्द्र।[2]

इन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि इन अलंकारों का सौन्दर्य अधिकांशतः शब्दचयन पर निर्भर है और कल्पना-तत्व इसी सघन शब्दजाल के नीचे दब कर रह जाता है, किन्तु जितना भी वह इस जाल से बाहर फूटता सा अभिव्यक्त होता है, वह एक ओर कवि की कल्पना-शक्ति का परिचायक होता है और दूसरी ओर इस प्रकार की शैलियों द्वारा चमत्कृत होने वाले पाठकों की सुविज्ञता का।

(२)

इन अलंकारों के उपरान्त दूसरी कोटि में वे अलंकार आने चाहिएं जिनमें उक्त अलंकारों की तुलना में शब्द चयन की अपेक्षा इतनी नहीं रहती, जितनी कवि-कल्पना की। यद्यपि ऐसे प्रयोगों में भी कवि को खींचतान करनी पड़ती है किन्तु वह स्थूल कम होती है और आन्तरिक अधिक। भ्रान्तिमान् और रूपक अलंकारों के निम्न निदर्शनों से इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। चन्द्रमा छिटका हुआ है किन्तु सघन वृक्षों के तले घना अन्धकार है। वृक्षों के छिद्रों में से फिर भी चन्द्रकिरणें फूटी पड़ रही हैं और उस भू-भाग को श्वेत बना रही है। पुष्पदन्त 'भ्रान्तिमान्' अलंकार का आधार लेते हुए कल्पना करते है कि इसी श्वेतता को एक ओर बिल्ली दूध समझकर पीना चाहती है और दूसरी ओर मयूर इसे श्वेत सर्प समझ कर कई बार झड़प कर पकड़ना चाहता है।[3]

इसी प्रकार रूपक अलंकार के आधार पर स्वयम्भू नर्मदा नदी को वस्त्राभूषणसज्जिता नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते है कि इसका सनाद जल-प्रवाह नूपुर-झंकार के सदृश है, इसका स्खलित और उच्छलित जल रशनादाम की भ्रान्ति उत्पन्न करता है, इसके आवर्त शरीर की त्रिवलि के समान हैं और इसका आन्दोलित फेनपुंज लहराते हुए हार के समान प्रतीत होता है।[4]

सांग रूपक की तो प्रायः यही स्थिति होती ही है कि इसमें कवि को अधिक खींचतान करनी पड़ती है, कभी-कभी उपमा अलंकार के निर्वहण में भी, जिसमें इस खींचतान का अवकाश कम रहता है, स्थिति उत्पन्न

---

१. तिसट्ठि महापुरिसगुणालंकार २२।१
२. वही— २८।३४।१-५
३. रंधायारु थियउ अंधारइ दुद्धसंक पयणइ मज्जारई।
मोरें पंडुर सप्पु वियाप्पिवि मुद्धें कह व ण गहिउ झडप्पिवि। वही १६।२४।६।१२
तुलनार्थ—काव्यप्रकाश (मम्मट) १०।५५२
४. पउम चरिउ १४।३

हो जाती है और वह रचना सामान्यतः अधिक हृदयहारी नहीं बन पाती—

एयस्स वयण-पंकय पलोयणं मोतु मह इमा दिट्ठी।
पंक-निवुड्डा दुब्बल गाइव्य न सक्कए गंतुं ।।
सरसुन्दरीचरिय (धनेश्वर)

अर्थात् जिस प्रकार कीचड़ में फंसी हुई कोई दुर्बल गाय अपने स्थान से हटने के लिए असमर्थ होती है, उसी प्रकार इसके मुख कमल पर गड़ी हुई मेरी दृष्टि वापिस नहीं लौटती।

(३)

कुछ अलंकार ऐसे भी होते हैं जिनका काव्य-सौन्दर्य कवि की कल्पना की ही अपेक्षा रखता है, उसे विशिष्ट शब्दावली पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। कवि की कल्पना जितनी उर्वरा होगी, उनका सौन्दर्य उतना अधिक होगा। उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकार इनमें से हैं। गंगा का वर्णन करते हुए कवि कनकामर कल्पना करता है कि शुभ्र-सलिला तथा कुटिल-गामिनी गंगा दूर से ऐसी दिखाई देती है मानों शेष नाग की स्त्री चली जा रही हो। × × ×

× × दोनों कूलों पर लोग स्नान करते समय आदित्य को अर्घ्य दे रहे हैं, मानों स्वयं गंगा नदी दोनों हाथ ऊपर उठाए करकंड से प्रार्थना कर रही है कि मुझ पर क्रोध न करना।[1]

पुष्पदन्त सीता के सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहता है कि उसकी शुभ्र दन्त पंक्ति की दीप्ति से मोती पराम्त हो गये और तिरस्कृत हो गये, अन्यथा वे क्यों बींधे जाते। उसकी मुखचन्द्र चन्द्रिका से दिशाएं धवलित हो गई अन्यथा शशि क्यों क्षीण होता है—

दिय दित्तिह जितइं धत्तियाइ,
इयरह कह विद्धइं मोत्तियाइं।
मुह ससि जोएहइ दिस धवल थाइ,
इयरह कह ससि झिज्जंतु जाइ ।।
ति० महापुरिसगुणालंकार ७०, ११

किन्तु जब इस प्रकार की कल्पनाओं में भी सीमा की अतिशयता हो जाती है तो रंग इतने गहरे हो जाते हैं कि इनसे व्याममोह-सा होने लगता है।

रेवा नदी में सहस्रार्जुन की रानियां द्वारा जल-क्रीड़ा करते समय उन्होंने कहीं तो अपने चन्द्र एवं कुन्द सम धवल हारों को जल से धवलित कर दिया और कहीं अपने समुज्ज्वल कुण्डलों से उसे समुज्ज्वल बना दिया, कहीं सरस ताम्बूल से उसे रक्तिम कर दिया तो कहीं धुले हुए कज्जल से उसे काला कर दिया और कहीं अपने कुंकुम से उसे पिञ्जरित कर दिया[2]

कभी इस प्रकार की कल्पनाएं उपहासास्पद भी बन जाती हैं—नागकुमार जब कश्मीर पहुंचे तो पुरनारियों की दर्शनोत्कण्ठा इतनी अधिक बढ़ी थी कि एक नारी न केवल घर में आये अपने जामाता के पैरों पर जा पड़ी, अपितु उसके पैर जल के स्थान पर घी से धोने लगी। × × × इक नारी (दही के स्थान पर) पानी को ही मथने, × × × और दूसरी सूत्र के बिना ही माला गूंथने लगी। × × × एक अन्य की घबराहट तो यहां तक बढ़ी कि अपने बच्चे की चिन्ता में वह बिल्ली के बच्चे को ही साथ लेकर चल पड़ी—

पाए पडइ मूढ़ जामायहो धोयइ पाय घए घरू आयहो।
अइ अएण मए डिंभु चिंतेप्पिणु,
गय मज्जायर पिल्लउ लेप्पिणु ।।
घूवइ खीरू कावि जलु मंथइ कावि
अमुत्तउ मालउ गुंथइ ।।
—णायकुमारचरिउ[1] ५६।

इस उपहास्यता का एक मात्र कारण है—अस्वाभाविकता। वस्तुतः कल्पना का उदय अनायास होता है, स्वाभाविक रूप से होता है, ऐसी कल्पना स्वीकार्य, मनस्तोषक एवं मनोहारी होती है। कल्पना न सूझने पर जब इसके लिए आयास किया जाता है, दूसरे शब्दों में, उसे कृत्रिम उपाय से ग्रहण किया जाता है तो निस्सदेह वह मनोहारी तो नहीं हो पाती, प्रायः अस्वीकार्य तथा उपहासास्पद भी बन जाती है। और ठीक इसी प्रकार

१. करकंड चरिउ ३।१२।५-१०
२. पउमचरिउ १।६

अब उपमानों की झड़ी स्वाभाविक कल्पना पर आधारित न रह कर व्यावहारिक एवं नैतिक उपदेश देने लगती है तो एक ओर न तो वह उपमेय का सौन्दर्य-बोध करा सकने में सक्षम होती है, न सहृदय के मन को आकृष्ट कर सकती है और न कवि-कल्पना के प्रति पाठक के मन में समादर जगा पाती है। मेघजाल आकाश में सहसा फैल गया, इसी को स्वयम्भू ने उपमानों द्वारा सुन्दर रूप देना चाहा, किन्तु वह प्रकारान्तर से उपदेश देने में तो सफल हो गया पर उपमेय के प्रति न्याय न कर सका—जैसे सुकवि का काव्य, अज्ञानी का अन्धकार, पापिष्ठ का पाप, धनहीन की चिन्ता, वन में दावाग्नि सहसा फैल जाती है, उसी प्रकार मेघजाल आकाश में सहसफैल गया।[1]

(४)

आइए, अब कुछ स्वाभाविक एवं मनोरम कल्पनाओं की मृदु-कोमल चटक निहारें।

वन गमन की बेला में सीता ने राम-लक्ष्मण का का साथ दिया। उस समय वह अपने मन्दिर (भवन-कक्ष) से ऐसे निकली मानों हिमालय से गंगा निकल पड़ी हो, छन्दस् से गायत्री निकली हो और शब्द से विभक्ति—

णिय मन्दिर हो विणिग्गय जाणइ।
ण हिमवन्तहो गंग महाणइ।!
णं छन्दहो णिग्गय गायत्ती।
णं सद्दहो णीसरिय विहत्ती॥

पउमचरिउ २,२३,६

सीता अग्नि-परीक्षा के उपरान्त अयोध्या लौटी, उनका भव्य स्वागत हुआ, और इतने लम्बे व्यवधान के उपरान्त हलधर (राम) ने सीता की ओर निहारा, उनका यह प्रथम दर्शन मानो ऐसे था जैसे सागर शुक्ल पक्ष की प्रथम चन्द्रलेखा को देखे—

परमेसरी पढम-समागमे झति णिहालिय हलहरेण।
सिय-पक्खहो दिवसे पहिल्लए चद-लेह णं सायरेण॥

—पउमचरिउ

भविष्य दत्त धनधान्य-परिपूर्ण किन्तु जनशून्य तिलक द्वीप में अकेला घूम रहा है, वह सकल ऐश्वर्य-सामग्री को देखता चला जाता है। आगे वह देखता है कि गवाक्ष आधा खुला पड़ा है। कवि कल्पना करता है मानो वे किसी नव वधू की अध खुली आँखें हैं। आगे फलक पर उसे गुह्य अन्तर्देश दिखायी देता है, मानों वे वनिताओं के खुले उरु प्रदेश हों—

पिक्खइ मंदिराइं फल-अद्ध्रघाडिय-जाल-गवक्खइं।
अद्ध-पलोइराइं णं णव-वहु-पायणा-कडक्खइं॥
अह फलहंतरेण दरिसिय-गुज्झंतर-देसइं।
अद्ध पयडिआइं विलयाण व उरु-पएसइं

—भविस्सयत्त कहा

नायिका से सखी ने नायक की लम्पटता की चर्चा करनी चाही तो वह बोल उठी—सखी! जो कुछ तुझे मेरे प्रिय की सदोषता के सम्बन्ध में कहना हो वह निस्संकोच कहो, किन्तु धीरे से कहो। इतना धीरे कि मेरा मन भी न जान पाए। क्योंकि वह तो उसी का पक्षपाती है—

भण सहि, निहुअउं तेवं मइं, जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जवं न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥

—प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र)

मिलनोत्सुका नायिका मन ही मन नये संकल्प घड़ रही है। अब की बार जब मिलन होगा तो एक अभूतपूर्व क्रीड़ा करूंगी—जैसे मिट्टी के नर्म बर्तन में पानी उसके कण-कण में समा जाता है, वैसे में भी उसके सर्वाङ्ग में प्रवेश कर जाऊंगी—

जइ केवइं पावीसु पिउ आकिया कुडु करिसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवं सव्वंगें पइसीसु॥

—प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र)

नायक अनेक लालसाएं लेकर (चांदनीरात में) नव वधु के मुखदर्शन के लिए गया; उसने घूंघट हटाया ही था) कि गौरी के मुख-मण्डल की दीप्ति से निर्जित चन्द्रमा बदली के पीछे जा छिपा, और इस बेचारे का मनोरथ धरा-का-धरा रह गया—इस अन्धकार में वह, दर्शन करता भी तो कैसे:

---

१. पउमचरिउ २८।१

नव-बहु-दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ ।
ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियुंकु ॥

प्रा० व्य० (हेम०) ८,४,४०१

इस प्रकार जैन-कवियों ने मूलत: धर्मप्रधान काव्यों की रचना करते हुए भी उन्हें कोरा धर्मोपदेशक ग्रन्थ नहीं बना दिया।

काव्यधर्म के प्रमुख तत्व कल्पना की सुरक्षा करते हुए इन्हें वाग्वैदग्ध्य के बल पर चमत्कृत किया है—यह अलग प्रश्न है कि ऐसे स्थलों से ये अनुस्यूत नहीं है। वस्तुत: यह समुचित भी हुआ है, अन्यथा मूल विषय के प्रति अन्याय होने का भय रहता। बाणभट्ट आधुनिक आलोचक की दृष्टि में इसी दोष का ही भागी है। जैन काव्य में अलंकार बहुलता को स्थान न देने अथवा न मिल पाने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से एक यह कि जैन-कवियों ने धार्मिक सिद्धान्तों के सरल—प्रतिपादनार्थ लौकिक गाथाओं का वर्णन करने के लिए, अथवा यों कहिए; लौकिक गाथाओं को धार्मिक रंग में रंग कर प्रस्तुत करने के लिये लेखनी उठायी, तो उनका कवि हृदय यत्र-तत्र मचल उठा और अनेक स्थल कल्पना-स्पर्श पाकर–मुकुलित हो गये। कारण जो भी हो, ये कल्पना-रंजित हृदयग्राही हैं। इनमें संस्कृत-काव्यों की परम्परागत शैली का चमत्कार भी मिलता है और स्वच्छ कवि हृदय से निसृत मर्मस्पर्शी उक्तियां भी।

राग मांद

अब आतम अनुभव आवै
तब और कछु ना सुहावै ॥टेक॥
रस नीरस हो जात ततक्षण
अक्ष विषय नहीं भावे ॥१॥
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटै
पुद्गल प्रीति नशावे ॥
राग द्वेष जुग चपल पक्षयुत
मन पक्षी मर जावै ॥२॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै
घट अन्तर न समावै ॥
'भागचन्द' ऐसे अनुभव को
हाथ जोरि शिर नावै ॥३॥

मुनिश्री नगराजजी

अर्हत अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ : एक ऐतिहासिक अवलोकन

> * काका कालेलकर का अभिमत है पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म महावीर के पंच महाव्रतों में परिणत हुआ है। यही धर्म बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में और पातंजल योग के यमनियमों में प्रकट हुआ है। गांधीजी के आश्रम धर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम धर्म दृष्टिगोचर होता है। इस विषय पर विद्वान मुनिजी ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है।

आगमिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक काल-चक्रार्ध में २४ तीर्थंकर होते हैं। इस चक्रार्ध में आदि तीर्थंकर ऋषभ और अन्तिम तीर्थंकर महावीर थे। त्रिपिटकों के अनुसार बुद्ध परम्परा शाश्वत है। बोधिसत्व अनेकानेक बार यहां जन्म ले चुके हैं। महायानी धारणा के अनुसार आगे भी वे बुद्ध रूप में अवतरित होते रहेंगे। इतिहास इस विषय में अब तक मूक रहा है। बौद्ध धर्म के विषय में तो आज भी उसे बुद्ध से पूर्व वर्तमान होने की सम्भवता नहीं लगती। एक भी आसार इस सम्भवता को उभारने वाला अब तक नहीं मिला है। जैन धर्म के पद-चिन्ह अतीत की धूमिल छाया में भी सर्वत्र चमकते दिखलाई पड़ रहे हैं। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—"जैन परम्परा के अनुसार जैन-धर्म का प्रारम्भ ऋषभदेव से होता है, जो सदियों पहले हो चुके थे। ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो बताते हैं कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक ऋषभदेव की उपासना करनेवाले लोग थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन-धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ के पहले भी विद्यमान था।" [१]

वेद और अन्य वैदिक साहित्य में ऋषभ, अजित अरिष्टनेमि आदि तीर्थंकरों के उल्लेख मिलते हैं। इससे तीर्थंकरों के ऐतिहासिक होने के आसार प्रकट होते है। अर्हत् अरिष्ट नेमि पर इतिहासकारो का ध्यान टिकने लगा है। छांदोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस ऋषि को कृष्ण का गुरु बताया गया है। जैन आगमों के अनुसार उसके धर्म गुरु अर्हत् अरिष्टनेमि थे। धर्मानन्द कोशाम्बी के अनुसार इन दोनों के एक होने की सम्भावना है। [२] इसका कारण यह है कि घोर आंगिरस ने कृष्ण को आत्म यज्ञ की शिक्षा दी, तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य को उस यज्ञ की दक्षिणा रूप बताया। [3]

1. Indian Philosophy Vol. I p 2:7. "Jain Tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far back the first century B. C., there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthnkara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman or Parsvanath.

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ५७

३. अथ: यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।

—छान्दोग्य उपनिषद् ३. १७. ४.

तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ पूर्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं। डा० बास्म लिखते हैं—"चूंकि वर्धमान महावीर का उल्लेख बौद्ध-पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में मिलता है, अत: उनकी ऐतिहासिकता सन्देह से परे है। प्रारम्भ में वे उस श्रमण संघ, जिसे कि निर्ग्रन्थ संघ के नाम से पुकारा जाता था और जो उनके करीब २०० वर्ष पूर्व पार्श्व द्वारा स्थापित किया गया था, की मान्यता के अनुयायी थे। बाद में यह 'निर्ग्रन्थ' शब्द महावीर द्वारा स्थापित संघ के श्रमणों के लिए प्रयुक्त होने लगा। और पार्श्व जैनों के २४ तीर्थंकरों में से २३ वें तीर्थंकर के रूप में स्मरण किये जाने लगे।[१]"

अर्हत् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुषों की कोटि में लाने का श्रेय जर्मन के सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० हर्मन जैकोबी है। उन्होंने पार्श्व विषयक जैन आगमों के उल्लेखों को और बौद्ध पिटकों में मिलने वाले पार्श्व परम्परा के संकेतों को संजोकर असंदिग्ध रूप से कहा—कम से कम पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक पुरुष हैं ही।[२] इस स्थापना के पश्चात् क्रमश: अब तो पार्श्वनाथ जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा के उद्गम के रूप में शोध खोज के विषय बन गये हैं। उनकी परम्परा के पद-चिन्ह भी महावीर और बुद्ध के युग तक पहुंचते हैं। बौद्ध धर्म के अधिकारी विद्वान् श्री कोशाम्बी लिखते हैं-त्रिपिटक ग्रन्थों में जैनों के सम्बन्ध में और जैनों के आगमों में पार्श्व के सम्बन्ध में जो जानकारी मिलती है उससे वह निष्कर्ष निकलता है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे।

त्रिपिटक निर्ग्रन्थों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। उससे ऐसा दिखाई देता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्ध से बरसों पहले मौजूद था। अंगुत्तर निकाय में यह उल्लेख पाया जाता है[३] कि वप्प नाम का शाक्य निर्ग्रन्थों का श्रावक था। उस सुत्त की अट्ठकथा में यह कहा गया है कि यह वप्प बुद्ध का चाचा था।[४] अर्थात् यह कहना पड़ता है कि गोतम बुद्ध के जन्म से पहले या उनकी छोटी उम्र में ही निर्ग्रन्थों का धर्म शाक्य देश में पहुंच गया था। महावीरस्वामी बुद्ध के समकालीन थे।

---

१. The wonder that was India (B. A. L. Basham, B. A., Ph. D., F. R. A. S): reprinted 1956 ph. 237—88: ...."As he (Vardhamana Mahavira) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha's Chief opponents, his historicity is beyond doubt. ....At first he followed the practices of an ascetic group called the Nirgranthas ("Free from Bonds"), which had been founded some 200 years earlier by a certain Parsva. The term Nirgrantha was later used for the members of the order which Mahavir founded, ane Parsva was remembered as the twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthankaras ("ford-makers") of the Jaina faith.

२. डा० याकोबी: "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable
Sacred Book of theEast vol XIV Introduction P. P. XXI-XXXIII

३. एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं।
अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठ सावको ह ॥

—अंगुत्तर, चतुक्कनिपात, चतुत्थपण्णासक, पांचवां वग्ग

४. वप्पोति दसबलस्स चुल्लपिता। —अंगुत्तर अट्ठकथा; सयाम संस्करण २।५५४.

अतः यह मानना उचित होगा कि यह धर्म—प्रचार उन्होंने नहीं बल्कि उनसे पहले के निर्ग्रन्थों ने किया था।

पं० सुखलालजी इसी तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार उपस्थित करते हैं—बप्प बुद्ध का समकालीन कपिलवस्तु का निवासी शाक्य था। कपिलवस्तु नेपाल की तराई में है। नीचे की ओर रावती नदी–जो बौद्ध ग्रंथों में अचिरावती नाम से प्रसिद्ध है, जो इरावती भी कहलाती है—उसके तट पर श्रावस्ती नामक प्रसिद्ध शहर था, जो आजकल सहटमहट [१] कहलाता है। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ की परम्परा का निर्ग्रन्थ केशी था जो महावीर के मुख्य शिष्य गौतम से मिला था। [२] उसी केशी ने पएसी नामक राजा को और उसके सारथि को धर्म प्राप्त कराया था। [३] जैन आगमगत सेयविया [४] ही बौद्ध पिटकों की सेतव्या जान पड़ती है, जो श्रावस्ती से दूर नहीं है। वैशाली, जो मुजफ्फरपुर जिले का आजकल का बसाढ [५] है, और क्षत्रियकुण्ड जो वासुकुण्ड [६] कहलाता है तथा वाणिज्यग्राम, [७] जो बनिया कहलाता है, उसमें भी पार्श्वपत्यिक लोग मौजूद थे, जबकि महावीर का जीवनकाल आता है। महावीर के माता–पिता भी पार्श्वपत्यिक कहे गये है। [८] उनके नाना चेटक तथा बड़े भाई नन्दीवर्धन आदि पार्श्वपत्यिक रहे हों तो आश्चर्य नहीं है। गंगा के दक्षिण में राजगृही था, जो आजकल का राजगिर है। उसमें जब महावीर धर्मोपदेश करते हुए आते हैं तब तुंगियानिवासी पार्श्वपत्यिक श्रावकों और पार्श्वापत्यिक थेरों के बीच हुई धर्म चर्चा की बात गौतम के द्वारा सुनते हैं। [९] तुंगिया राजगृह के नजदीक में ही कोई नगर होना चाहिये, जिसकी पहचान आचार्य विजय कल्याणसूरि आधुनिक तुंगी ग्राम से करते है। [१०]

बचे–खुचे ऊपर के अति अल्प वर्णनों से भी इतना तो निष्कर्ष हम निर्विवाद रूप से निकाल सकते है कि, महावीर के भ्रमण और धर्मोपदेश के वर्णन में पाये जाने वाले गंगा के उत्तर दक्षिण के कई गांव नगर पार्श्वनाथ की परम्परा के निर्ग्रन्थों के भी विहारक्षेत्र एवं धर्म प्रचार–क्षेत्र रहे। इसीसे हम जैन आगमों में यत्र–तत्र यह भी पाते है कि, राजगृही आदि में महावीर की पार्श्वपत्यिको से भेंट हुई।

भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म चातुर्याम की संज्ञा से अभिहित होता था। उनके मुख्यतः चार शिक्षा पद थे।

---

१. श्री नन्दलाल डे : The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, P. 189.

२. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २३।

३. रायपसेणइय (पं० श्री बेचरदासजी सम्पादित), पृ० ३३० आदि।

४. देखो उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २७४.

५. देखो, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ६२, आ० विजयकल्याणसूरि कृत श्रमण भगवान् महावीर में विहारस्थलनाम—कोष; The Geograplical Dictionary of Ancient and Mediaeval India.

६. वही

७. वही

८. समणस्स णं नमज्जो महावीरस्स अम्मापियरो पासावचिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

—आचारांग, २, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१।

९. भगवती, २, ५।

१०. श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३७१

उनका हार्दिक था—हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रह से निवृत्ति।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता और संस्कृति के इन सार्वभौम आधारों का व्यवस्थित रूप यहीं से आरम्भ होता है।

काका कालेलकर का अभिमत है—पार्श्वनाथ धर्म महावीर के पंच महाव्रतों में परिणत हुआ है। यही धर्म बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में और पातंजल योग के यम नियमों में प्रकट हुआ। गांधीजी के आश्रम धर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम धर्म दृष्टिगोचर होता है।[2]

राग मालकोष

जिया जग धोके की टाटी ॥ टेक ॥

झूंठा उद्यम लोक करत है
जिसमें निश दिन घाटी ॥१॥

जान बूझ कर अंध बने हो
आंखिन बांधी पाटी ॥२॥

निकल जायेंगे प्राण छिणक में
पड़ी रहेगी माटी ॥३॥

'दौलतराम' समझ नर अपने
दिल की खोल कपाटी ॥४॥

---

१. सव्वातो पाणातिपातियाओ वेरमणं, एवं मुस्सावायाओ वेरमणं, सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं।
—ठाणांग सूत्र ठा० ४

२. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० ६, भूमिका

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

मानव-संस्कृति का उद्गम और आदि विकास

इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण और रोचक स्थल संस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा, अतः उसके रचना काल का प्रश्न भी नहीं उठता। वह शाश्वत है। इन पर लेखक के मननीय विचार पढ़िए।

इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण और रोचक स्थल संस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा, अतः उसके रचना काल का प्रश्न भी नहीं उठता। वह शाश्वत है। क्रम ह्रासवाद व क्रम-विकास वाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते हैं और उनसे इस विश्व में क्रमशः अवसर्पण और उत्सर्पण होता है। जैन धारणा के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यतः दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। दोनों ही विभाग फिर छः-छः भागों में विभक्त किये गए हैं। अवसर्पिणी के छः विभागों के नाम हैं—१. एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमदुःषम, ४. दुःषम-सुषमा, ५. दुषमा और ६. दुषम-दुःषमा। उत्सर्पिणी में इनका व्यतिक्रम होता है। इन छः विभागों को 'आरा' भी कहा जाता है। अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमशः अवनति होती है और उत्सर्पिणी में उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति।

अवसर्पण की आदि सभ्यता

प्रथम विभाग एकान्त सुषमा में मनुष्यों का आयुष्य तीन पल्य [1] का होता था और उनका शरीर तीन कोश-परिमाण। उनका समचतुरस संस्थान होता था और वज्रऋषभनाराच संहनन। वे अपक्रोध, निरभिमान, निश्छदम व अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भक्ष्य पदार्थों का संग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य-रहित और सर्वदा धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी और मिट्टी चीनी की तरह अतिशय मिष्ट; अतः नदियों में पानी भी मधुर व निर्मल ही होता था। पदार्थ अति स्निग्ध थे; अतः बुभुक्षा भी अल्प थी। चौथे दिन केवल तुअर की दाल के प्रमाण थोड़ा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यु के छः मास पूर्व एक युग्म पैदा होता था और वही आगे चलकर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रेतकार्य आदि नहीं थे; अतः व्यग्रता भी नहीं। पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नहीं थी। मनुष्य केवल युगल रूप में व्यष्टि ही था। कर्म-युग था, पर कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था।

---

१. असंख्य वर्षों का एक काल मान

इस लेख की अनेक मान्यताएँ श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार हैं। —सम्पादक

विकार अत्यल्प थे। जीवन की आवश्यकतायें सीमित थीं। खेती, सेवा, व्यापार के आधार पर आजीविका चलाने की कोई आवश्यकता न थी। उनकी आवश्यकतायें इस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थीं।

१. मद्यांग वृक्ष—शारीरिक पौष्टिक पदार्थ,
२. भृतांग वृक्ष—भाजन,
३. तूर्यांग वृक्ष—विविधि वाद्य,
४. दीपांग वृक्ष—दीपक का प्रकाश,
५. ज्योतिष्क वृक्ष—सूर्य का अग्नि का कार्य,
६. चित्रांग वृक्ष—पुष्प,
७. चित्ररस वृक्ष—विविध भोजन,
८. मण्यंगवृक्ष—आभूषण
९. गेहकार वृक्ष—मकान की तरह आश्रय, और
१०. अनग्नवृक्ष—वस्त्र की पूर्ति

इन दस प्रकार के वृक्षों द्वारा बुभुक्षा और प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद की उपलब्धि होती थी।

जन-संख्या बहुत कम थी और जीवन-यापन के साधन प्रचुर मात्रा में थे, अत: कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नहीं होती थी। किसी के परस्पर स्वार्थ नहीं टकराते थे, अत: कुल, जाति या वर्ग भी नहीं बने। ग्राम या राज्य की तो कोई आवश्यकता भी न थी। सभी स्वतंत्राचारी एवं वनवासी थे। कोई शासक या शासित नहीं था और न कोई भी शोषक या शोषित। दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नहीं होते थे।

असत्याचरण, लूट—खसोट, लड़ना-झगड़ना व मार-काट नहीं थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। नैसर्गिक आनन्द और शान्ति थी। धर्म और उसके प्रचारक भी न थे। जीवन सहज धार्मिक होता था। विश्वासघात, प्रतिशोध, पिशुनता या आक्षेप आदि न थे। हीनता और उच्चता के भावों का भी अभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नहीं था।

हाथी, घोड़े, बैल, ऊंट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर मनुष्य उन्हें वाहन के रूप में प्रयुक्त नहीं करता था। गाय, भैंस, बकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर न कभी उनका दूध निकाला जाता था और न कभी किसी ने दूध का स्वाद भी चखा था। गेहूं, चावल आदि धान्य बिना बोये ही उगते थे, पर उन्हें उपयोग में नहीं लाया जाता था। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी किसी पर हमला नहीं करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नहीं थे। जीवन बहुत लम्बे होते थे। असामयिक मृत्यु नहीं होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बड़ी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी। इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर[1] का एकान्त सुषमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुआ।

सभ्यता में परिवर्तन

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमश: बीत गया। सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेच्छ उपलब्धि क्रमश: कम होती गई। आयुष्य भी तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य व एक पल्य का हो गया। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा। कल्पवृक्षों ने भी आवश्यकताएं पूर्ण करना कुछ कम कर दिया।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। एक पल्य का केवल आठवां भाग अवशिष्ट था। यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता, निरभिमान व निश्छद्म के स्थान पर जीवन में कुटिलता, अहं व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्पवृक्षों के द्वारा अभीप्सित मिलना अल्प हो गया। भूमि की सहज स्निग्धता और मधुरता में भी और अन्तर आ गया। आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और उससे संग्रहवृत्ति भी। जब अनिवार्य आवश्यकताएं पूर्ण न हुई, तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढ़ी। सहज रूप में उगने वाले धान्य का भोजन के रूप में उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सौहार्द आदि सहज
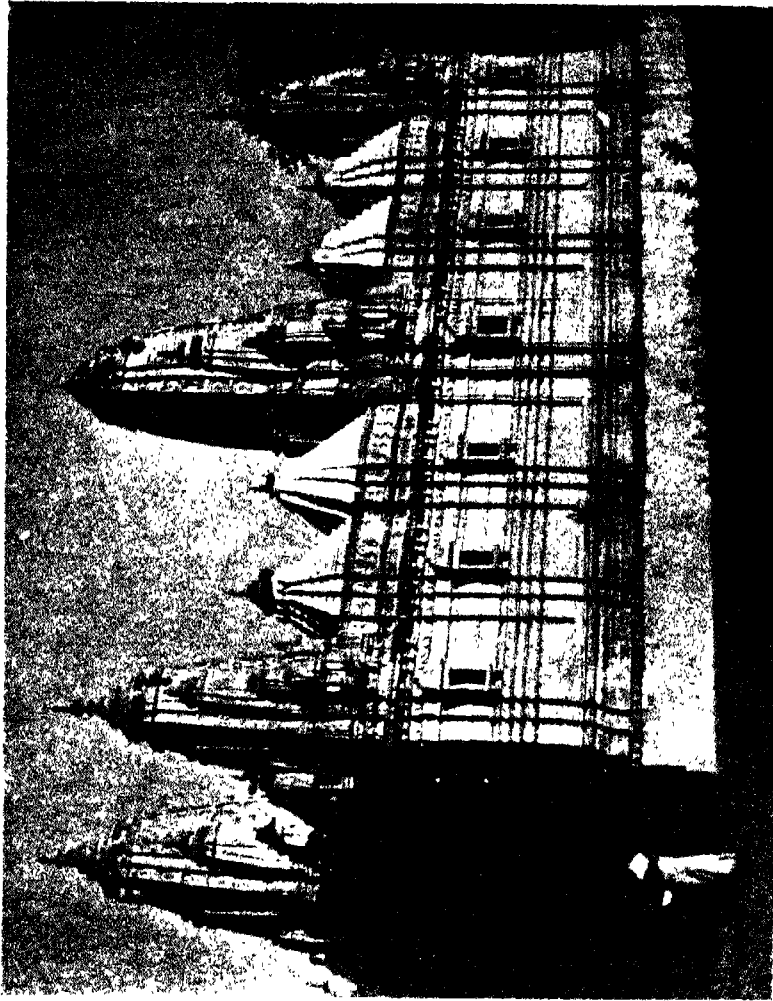
१. दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है।

जैन मन्दिर, सांगानेर (जयपुर)

तत्काल मनुष्य दौड़े और उन्होंने पकाने के लिए अग्नि में अन्न रखा। किन्तु अन्न तो सारा ही उसमें जल-कर भस्म हो गया। बेचारे दौड़े-दौड़े फिर वहीं आये और कहने लगे—स्वामिन्! वह तो बिल्कुल भूखा राक्षस है। हमने उसके समीप जितना भी अन्न रखा, बुभुक्षित की तरह अकेला ही सब कुछ खा गया। हमें तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नहीं। पहले कुछ पात्र बनाओ, फिर उसमें अन्न पकाओ और खाओ। जनता ने पूछा—स्वामिन्! ये पात्र कैसे बनाये जायेंगे?

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होंने आर्द्र मृत्तिका-पिण्ड मंगवाया। हाथी के सर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र बनाकर सबको दिखलाया तथा साथ में शिक्षा भी दी कि इस प्रकार तरह-तरह के पात्र बनाओ और उनमें अन्न पकाकर खाओ। इस प्रकार पाक-विद्या के साथ-ही-साथ पहला शिल्प कुम्भकार का भी समाज में प्रचलित हुआ।

अध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताओं के भरने के निमित्त विविध शिल्प व अग्नि का आविष्कार हुआ। अपराध न बढ़ें; और जीवन सुखमय हो, इसके लिए ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित का ज्ञान भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री भरत को बहत्तर कलाओं का व परमतत्व का ज्ञान दिया। बाहुबली को प्राणी लक्षण ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार साधन के लिए मान (माप) उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इंच आदि) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) बताये। मणि आदि पिरोने की कला भी सिखाई।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

विसंवाद-कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्ष के समक्ष जाने का विचार किया। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यवहार की स्थापना की। साम आदि नीति, बाहु आदि अनेक प्रकार की युद्ध-प्रक्रिया, धनुर्वेद राजा की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, रस्सी आदि से बांधना, गोष्ठ्यादिक का मिलना, ग्राम-नगर आदि का अभिग्रहण, किसी प्रयोजन विशेष से ग्रामवासियों का एकत्रित होना इत्यादि बातें भी ऋषभदेव ने ही सिखाईं। यहां आकर व्यष्टि एकदम टूट गई और समष्टि काफी मात्रा में विकसित हो गई। कुलकर व्यवस्था में व्यष्टि अधिक थी और समष्टि का आरम्भ था। कुल, जातियां व समाज भी पृथक्-पृथक् बन गये। इस प्रणाली से जहां मनुष्य का जीवन कुछ सुखमय बना, बढ़ते हुए विकार रुके; वहां ममत्व, स्वार्थ व उसके प्रतिस्पर्धा आदि विकार बढ़ने लगे। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणी-जगत् ही अपना बन्धु था, सबके प्रति मैत्री भाव थे, वहां ममत्व की यह कल्पना बल पकड़ने लगी—यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है पत्नी है। इस प्रकार के कौटुम्बिक ममत्व के अनन्तर लोकैषणा व धनैषणा भी वृद्धिगत हुई।

दण्ड-व्यवस्थाओं का विकास

समाज की धुरी सुस्थिर रखने के लिए साम, दाम, दण्ड व भेद का खुलकर प्रयोग होने लगा। सुख व समृद्धि के स्थायित्व के लिए दण्ड-व्यवस्था का नाना रूपों में विकास होने लगा। औषधि और दण्ड, रोग और अपराध के निरोधक होते हैं, यह उस समय की आवश्यकता बन गई। कहीं-कहीं दण्ड-नीति के आविर्भाव की अनुभूति होने लगी, क्योंकि हाकार, माकार और धिक्कार नीतियां असफल व शिथिल हो चुकी थीं। क्रमशः १. परिभाष, २. मण्डल बन्ध, ४. चारक और छविच्छेद आदि दण्ड भी चले।

१. परिभाष—सीमित समय के लिए नजरबन्द करना। क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहां से मत जाओ' ऐसा आदेश देना।

---

१. परिभासणाउ पढमा, मंडलबंधम्मि होइ बीयातु।
चारग छविछेदादि, भरहस्स चउव्विहा नीई॥ —स्थानांग वृत्ति, ७।३।५५७

२. मण्डल बन्ध—नजरबन्द करना। सांकेतिक क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३. चारक—जेल में डालना।

४. छविच्छेद—हाथ, पैर आदि काटना।

ये चार दण्ड-नीतियां कब चलीं, इसमें थोड़ा-सा मतभेद है। कुछ की कल्पना है कि प्रथम दो नीतियां ऋषभनाथ के समय में चलीं और दो भरत के समय। कुछ विद्वानों की मान्यता है ये चारों नीतियां भरत के समय चलीं। अभयदेव सूरि के अनुसार भरत के समय में ही इन चारों नीतियों का प्रचलन हुआ। किन्तु ऐसा लगता है, उनके समय में भी यह मतभेद चलता था, अतः उन्होंने स्थानांग वृत्ति से अपर सिद्धान्त के रूप में यह भी उल्लेख किया है कि चार प्रकारों में से प्रथम दो प्रकार ऋषभनाथ के समय में चले और शेष दो भरत के समय में, ऐसा भी माना जाता है।[1] आवश्यक-निर्युक्तिकार[2] के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय प्रारम्भ हो गये थे और मृत्यु-दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह समय बहुत नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित धिक्कार नीति अन्य दो नीतियों की तरह प्राचीन और सहज हो गई थी और सन्तुलन बिगड़ रहा था, अपराध बढ़ने लगे थे, अतएव राजतंत्र का उदय हुआ था और उस स्थिति में किसी भी तरह की दण्ड-नीति का आरम्भ न हुआ हो, यह गले उतरता नहीं है। व्यवस्थित उल्लेख न मिलने से अनुमान के आधार पर ही किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है। अपना अनुमान आवश्यक निर्युक्तिकार की मान्यता के अधिक समीप पहुंचता है।

दण्ड व्यवस्थाओं की कठोरताओं से स्थितियां सुलझीं और अन्य पद्धतियों से जीवन सुचारु रूप से चलने लगा।

विवाह सम्बन्ध में नई परम्परा

यौगलिक परम्परा में भाई-बहिन ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभनाथ का सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण होने से यह परम्परा टूटी। इस नई परम्परा को सुदृढ़ रूप देने के लिए उन्होंने भरत का विवाह बाहुबली की बहिन सुन्दरी के साथ और भरत की बहिन ब्राह्मी का बाहुबली के साथ विधिपूर्वक व ठाट-बाट से किया। इन विवाहों का अनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र में उत्पन्न कन्या का उसके माता-पिता द्वारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पड़ी।[3]

---

१. आद्यद्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये —स्थानांग वृत्ति, ७।३।५५७

२. गाथा २१७-२१८,

३. युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभुः।
सोदर्यां बाहुबलिनः सुन्दरीं गुणसुन्दरीम् ॥
भरतस्य च सोदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभु।
भूपाय बाहुबलिने तदादि जनताप्यथ ॥
भिन्नगोत्रादिकां कन्यां दत्तां पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायत प्रायः प्रावर्तत तथा ततः ॥
—श्री काललोकप्रकाश

Dr. Kamal Chand Sogani M. A. Ph. D.
Government College, Sriganganagar.

Jaina Ethics and the Present-day Problems

Man of today is living in a complex world. In this article it has been endeavoured to put forth a view of the state and the society emanating from ethical considerations of the Jaina and religion. In it the author has tried to present a solution of the various problems of social, national and international importance which encounter the present men.

AT the outset we have to acknowledge that the man of today is living in a world which is much more complex than that of an ancient or mediaeval man. Interdependence among nations has increased; and this has brought an ever widening and deepening impact on the economic, intellectual and social conditions of our existence. The scientific advancement has made countries one another's neighbours. Divergent races, divergent cultures, and divergent outlooks have come in close relations. In the present article I shall endeavour to put forth a view of state and society emanating from the ethical considerations of the Jaina and shall strive to solve the problems of the social, national and international importance which encounter the present man.

Individual and Society

It is generally alleged that Jaina ethics aims merely at self-purification and self-evolution. Professor Maitra remarks, "the Jaina list does not include the other-regarding virtues of benevolence, succour, and social service. This shows that the Jaina virtues aim more at self-culture than at social service." But we may point out that along with the individual and spiritual virtues, Jainism recognizes social virtues as well. The social virtues recognized by Jainism are:- 1. Universal compassion and friendship (Bhuta Anukampa and Maitri). 2. Charity (Dana) 3. Non-hatred towards the diseased (Nirvicikitsa). 4. Commendation of the meritorious (Pramoda) 5. Active compassion for the distressed or helping those who are miserable, thirsty and hungry (Karunya). 6. Indifference towards the arrogant (Madhyasth) 7. Non-acquisition (Aparigraha). 8. Non-injury (Ahimsa). 9. Forgiveness (Ksama). 10. Propagation of moral and spiritual values through adequate means (Prabhavana). Hence in the light of the above enumeration of social virtues, the statement of Prof. Maitra is untenable and we may say that Jaina ethics has both the eyes of the individual as well as the social betterment.

It envisages individual as a social being, inasmuch as the individual's dependence upon society for his

1. Maitra, the Ethics of the Hindus, P. 203.

intellectual, moral, and material gains is incontrovertible and cannot be gainsaid. Even an ascetic is incapable of transgressing this basic assumption of social dependence, although the concept of dependence in case of an ascetic undergoes radical change. True asceticism is not an act of ingratitude but an act of highest gratitude. returning golden coins for silver pieces to society. The ascetic by virtues of his practices accumulates Punya which in some form or the other is a social debt. This social debt is responsible for his repeated births till its full payment. This proves his dignified dependence upon society. The Tirthankara or the divine man who has transcended social dependence also pays the social debt in the form of preaching and spiritual guidance to the suffering humanity and in such a fashion as will not produce fresh karmas necessitating future birth. This sort of payment of social debt is unique, without any parallel. Thus we see that social dependence gradually decreases and ends in absolute independence. It is only at this stage that we are capable of saying that individuality or the individual stands completely aloof from the social debt. As a consequence of this fact, Jainism alleges that the individual is not like an organ absolutely dependent for its sustenance on social organism. Social dependence cannot rob the individual of his freedom to achieve his spiritual individuality. An individual is not a mere cog in the social machine. Jainism no doubt declines to accept the unrestricted individualism that ignores social obligation. Thus the true view recognises that the individual and society influence each other. The individual moulds and is moulded by society.

Concept and Functions of the State.

From the study of Jaina ethics we find that the householder is required to observe twelve vows. They are the five Anuvratas and the seven Sila Vratas. The five Anuvratas are:

1. Ahimsanuvrata (the house-holder's vow of Ahimsa)
2. Satyanuvrata (the house-holder's vow of Satya)
3. Acauryanuvrata (the house-holder's vow of Asteya)
4. Brahmacharyanuvrata (the householder's vow of Brahmacharya)
5. Parigraha-parimananuvrata (the househoulder's vow of Parigraha)

The seven Sila Vratas are: 1. Digavrata. 2. Desavrata. 3. Anarthedandatyaga-vrata. 4. Samayike. 5. Prosadhopavasa 6. Bhogopabhoga-parimanavrata 7. Vaiyavrttya. Now we may say that the strict observance of the Anuvratas and the Sila Vratas by the human beings at large will result in the evolution of stateless society. The political power will be needless on account of the emergence of such individuals as have a self-regulated life. The householder's vows of Aparigraha, Satya, Asteya, Digavrata, Desavrata, and Bhogopabhogaparimanavrata are pregnant with the capability of unravelling all the economic problems; the householder's vow of Brahmacharya; and Samyika,

गुण बदल गये । अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे । असंख्य वर्षों के के बाद ऐसी परिस्थिति आदि सहज गुण बदल गये । अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे । असंख्य वर्षों के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी ।

समष्टि जीवन के आरम्भ के निमित्त

अव्यवस्था व अपराध न हो, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे । अपनी–अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा । एक दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया । उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया था ।

मनुष्यों में अहंवृत्ति जागृत होने लगी थी, अतः उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया । पद-लिप्सा भड़कने लगी थी । परन्तु उसके लिए किसी भी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समझा जाता था । किसी मध्यम मार्ग की गवेषणा की जा रही थी । एक दिन एक विशेष घटना घटी । एक युगल स्वेच्छया वन में भ्रमण कर रहा था । सामने से एक उज्ज्वल व बलिष्ठ हाथी आ रहा था । दोनों की आंखे मिलीं । हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ । उसे अपने गत भव की स्मृति हुई, जिससे उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में वणिक् पुत्र थे और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी । यह सरल था, अतः यहां मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त मायाचारी था, अतः इस पशु–योनि में आया हूं । उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी, अपनी पीठ पर बैठा लिया । अन्य युगलों ने जब इस घटना को देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ । क्योंकि इस अवसर्पण काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ़ हुआ था । हाथी बहुत विमल था अतः उस युगल का नाम भी विमलवाहन कर दिया गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया । इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते और वह सबको व्यवस्था देता ।

दण्डनीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती हुई कुछ रुकी । किन्तु व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई । कुछ दण्डनीति की आवश्यकता अनुभव की गई । इससे पूर्व कोई दण्ड व्यवस्था नहीं थी । उस स्थिति को निम्नि श्लोक से अभिव्यक्त किया जा सकता है ।

> नैवं राज्यं, न राजासीद्, दण्डो, न दाण्डिकः
> धर्मेणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥

विमलवाहन के समय यह स्थिति बदल गई । कल्पवृक्षों ने अभीप्सित प्रदान करना कुछ कम कर दिया, अतः युगलों का उन पर ममत्व होने लगा । एक युगल द्वारा अधिकृत कल्पवृक्ष का दूसरा युगल उपयोग करने लगा और इस प्रकार वे परस्पर लड़ने लगे । विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति बांटी जाती है, कल्पवृक्षों को परस्पर बांट दिया गया ।

हाकार नीति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर इसका भी अतिक्रमण होने लगा । विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया । सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ । अपराधी को इतना ही कहा जाता—'हां ! तुमने यह किया ?' अपराधी पानी–पानी हो जाता है । उस समय इतना कथन ही मृत्यु-दण्ड का काम करता था । कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही । अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी बनी रहती । किन्तु आवश्यकता की पूर्ति के अभाव में वैमनस्य बढ़ने लगा और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज बन गई ।

माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ । वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएँ देता रहा । कभी अपराध बढ़ते और कभी कम होते । 'हाकार' दण्ड से सब कुछ ठीक हो जाता । चक्षुष्मान के

बाद जब उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना, तब वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी बढ़ते ही गये। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति न होती हो तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिये, 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—और कभी ऐसा अपराध मत करना। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता।

धिक्कार नीति

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-व्यवस्थाओं से ही काम चलता रहा। पांचवें कुलकर पसेनजित् को भी फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में आ चुका था। युगल कामार्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे, इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का भी प्रचलन किया। अपराध-वृद्धि के साथ दण्ड-वृद्धि भी हुई। इस दण्ड—व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता—मुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है। इस दण्ड—व्यवस्था से पुनः मर्यादाएं स्थापित हुईं। युगल भीत रहते और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मदेरुव और सातवें नाभि कुलकर भीत रहते और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मरुदेव और सातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी का नाम मरुदेवी था।

कुलकरों की संख्या

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुलकरों की संख्या चौदह है और प्रथम, षष्ठ व ग्यारहवें कुलकर के समय क्रमशः एक—एक नीति का प्रवर्तन हुआ। कुछ एक परम्पराएं अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र ऋषभदेव को भी कुलकर मानती हैं। किन्तु वे कुलकर नहीं थे। क्योंकि उस समय कुलकर व्यवस्था से आगे समाज-व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था। व्यष्टि समष्टि में परिवर्तित होने लगी थी। उस समय नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी बन चुके थे और कुलकर व्यवस्था में जहां कल्पवृक्षों द्वारा आवश्यकताएं पूर्ण होती थीं, वहां ऋषभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था। क्रमशः असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन प्रणाली, वैवाहिक सम्बन्ध व उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रियों के कार्यों का विभाजन भी हो चुका था। विभिन्न आधारों से सहज निष्कर्ष निकलता है कि नाभि अन्तिम कुलकर थे और श्री ऋषभदेव मानवीय सभ्यता के आदि सूत्रधार। चौदह कुलकरों का जहां उल्लेख मिलता है, वहां प्रथम छः सर्वथा नये हैं। इनके नाम भी भिन्न हैं। सातवें से चौदहवें कुलकर तक के नाम दोनों परम्पराओं में एक ही हैं। केवल ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ को श्वेताम्बर परम्पराएं नहीं मानती है। इस तरह दिगम्बर परम्परा के ग्यारहवें कुलकर को छोड़कर अन्तिम सात कुलकर, उनकी पत्नियां व उनके हाथी आदि वे ही हैं, जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा में माना गया है। कुलकरों को 'मनु'[१] भी कहा जाता है।

कर्मयुग का आरम्भ

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह समय यौगलिक सभ्यता व मानवीय सभ्यता का सन्धिकाल था। आयु, संहनन, संस्थान व शरीर—परिमाण आदि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुषम-दुषमा समाप्त होने में चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनमें प्रथम स्वप्न वृषभ का था। शिशु के वक्षःस्थल पर वृषभ का लांछन भी था, अतः उनका नाम वृषभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। आगे चलकर समाज-व्यवस्था व धर्म-व्यवस्था के आदि प्रवर्तक होने से आदिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमंगला रखा गया।

वंश-उत्पत्ति व उनके नाम करण

जब ऋषभदेव कुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का

---

१. आदि पुराण, ३।१२

नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उसके हाथ में गन्ना था। उस समय ऋषभदेव नाभि राजा की गोद में बैठे थे। इन्द्र के अभिप्राय को जान कर उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया, अतः इक्षु-आकु (भक्षणार्थ) इक्ष्वाकु वंश के नाम से वह प्रसिद्ध हुआ। पहला वंश इक्ष्वाकु बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना को लेकर पृथक्-पृथक् समूहों के पृथक्-पृथक वंश बनते गये।

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्य-जीवन बहुत ही आनन्द से बीता। धीरे-धीरे बड़े होने लगे। एक अद्भुत घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वयं कदलीवन में क्रीड़ा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा और किसलय के समान कोमल उस पुत्र पर पड़ा। उसकी अकाल ही मृत्यु हो गई। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता ने अपनी उस लाड़ली कन्या का लालन-पालन किया। वह बहुत सुरूपा थी। उसके प्रत्येक अवयव से लावण्य टपकता था। कुछ महीनों के बाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह अकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था वह एकाकिनी पथभ्रष्ट हरिणी की तरह इधर-उधर भटकने लगी। कुछ युगलों ने कुलकर श्री नाभि के समक्ष यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी होगी, अपने पास रख लिया।

विवाह-परम्परा

यौवन प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमंगला और सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण हुआ। अपनी बहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह-सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमंगला ने चौदह स्वप्न पूर्वक भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबलि व सुन्दरी को। इसके बाद क्रमशः सुमंगला के अट्ठानवे पुत्र और हुए।

राज-व्यवस्था का आरम्भ

प्राचीन मर्यादाएं विच्छिन्न होती जा रही थीं। तीनों ही दण्ड-व्यवस्थाओं की उपेक्षा होने लगी, अतः किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्पवृक्षों से प्रकृति सिद्ध जो ईप्सित मिलता था, वह अपर्याप्त होने लगा। तृष्णा बढ़ने लगी, आवेश उभरने लगा, अहं जागृत होने लगा और छद्म खुलकर सामने आने लगा। शान्ति भंग होने लगी। जिन युगलों ने कभी अपने जीवन में लड़ना, झगड़ना या वैमनस्य नहीं देखा था, उन्हें यह बहुत ही बुरा लगा। वे इन स्थितियों से घबरा गये। एक दिन वे ऋषभदेव के पास पहुंचे और सारी स्थिति उनसे निवेदित की। ऋषभदेव ने कहा-जो लोग मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिये। पहले भी ऐसा हुआ था और उसके प्रतिकार स्वरूप ही तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था। अब अपराध और बढ़ गए हैं, अतः उनके शमन व मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्था का भी आविर्भाव होना चाहिये। यह सब कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलों ने पूछा—राजा कौन होता है और उसके कार्य क्या होते हैं?

ऋषभदेव ने कहा—राजा के पास चार प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर बैठा कर सर्व प्रथम उसका अभिषेक किया जाता है। वह अन्याय का परिहार और न्याय का प्रवर्तन अपने बुद्धि-कौशल से करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं, अतः वहां कोई मनमानी नहीं कर सकता।

हम में तो आप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समर्थ हैं, अतः आप ही हमारे राजा बनें। आपको हमारी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, युगलों ने कहा।

यह मांग आप कुलकर श्री नाभि के समक्ष प्रस्तुत करें। वे आपको राजा देंगे, श्री ऋषभदेव ने युगलों से कहा।

युगल मिल-जुल कर नाभि के पास पहुंचे। उन्होंने आत्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋषभदेव को उनका राजा घोषित किया। युगलों ने उन्हें सहर्ष स्वीकार किया

और ऋषभदेव के सम्मुख आकर कहने लगे नाभि कुलकर ने आपको ही हमारा राजा बनाया है।

युगलों ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक अपूर्व आह्लाद के साथ किया। ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। उन्होंने अपने पुत्र की तरह प्रजा का पालन आरम्भ किया। राजा बनने के बाद ऋषभनाथ पर व्यवस्था-संचालन का सारा भार आ गया। सारी परम्पराएं जर्जरित हो चुकी थीं। आवास, भूख, शीत, ताप आदि की समस्याएं सताने लगी थीं। अराजकता भी बढ़ रही थी। जनता अतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कर्म नहीं जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह एक जटिल पहेली थी, पर उन्होंने अपने ज्ञान-चातुर्य से सबका समाधान प्रस्तुत किया। आवास-समस्या के समाधान हेतु उस समय नगर व ग्राम बसाये गये। पहले-पहल अयोध्या का निर्माण हुआ और उसके अनन्तर अन्य नगरों ग्रामों का। सज्जनों की सुरक्षा और दुर्जनों के परिहार के निमित्त उन्होंने अपने मंत्रि-मण्डल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरे के अधिकारों का अपहरण न हो, इसके लिए आरक्षक वर्ग की स्थापना की। राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे, इसके लिए, गज, अश्व, रथ और पादातिक, चार प्रकार की सेना एकत्रित की और सेनापति की नियुक्ति भी। गौ, बलीवर्द, भैंसे, खच्चर, ऊंट पशुओं को भी उपयोगी समझकर एकत्र किया गया।

खाद्य-समस्या

इस समय तक युगलों का भोजन कल्पवृक्षों के अभाव में कन्द, मूल, फल, पत्र, पुष्प आदि हो गया था। तृण की तरह स्वयं उगने वाले चावल, गेहूं, चने, मूंग आदि भी उनके भोजन में सम्मिलित हो चुके थे। वनवास से गृहवास की ओर जब जनता का क्रम चला, कन्द, मूल, फल का भोजन अपर्याप्त व चावल, चने व गेहूं का भोजन स्वास्थ्य के लिए अहितकर अनुभव होने लगा। सहज उत्पन्न अन्न को पकाना भी वे नहीं जानते थे और न पकाने के साधन ही उनके पास थे। अपच-अन्न-ग्रहण से अजीर्ण का रोग सताने लगा। युगल ऋषभदेव के पास अपनी व्यथा लेकर पहुंचे। उन्होंने कहा—अनाज को अब हाथ में मलकर, उसके छिलके निकाल डालो और फिर खाओ। यह व्याधि दूर हो जायगी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ दिन बीते किन्तु कड़ा होने से वैसा अनाज भी दुष्पाच्य रहा और वही व्याधि पुनः सताने लगी। ऋषभदेव के पास फिर वही समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने समाधान दिया—हाथों से मलकर, पानी में भिगोकर व पत्तों के दोनों में रखकर खाओ। इससे तुम व्याधि से बच सकोगे। लोगों को ऋषभदेव पर पूरी श्रद्धा थी, अतः उन्होंने वैसा ही किया। कुछ दिन उस उपाय से काम चल गया, किन्तु स्थायी समाधान नहीं मिला। फिर ऋषभदेव के सम्मुख ही वे आये और अपनी चिन्ता सुनाने लगे। कुछ चिन्तन के बाद उन्होंने उत्तर दिया—पूर्व विधि से अन्न तैयार कर कुछ देर मुट्ठी में या बगल में इस तरह रखो कि उनसे अन्न कुछ गर्म हो जाये। फिर खाओ। सभी ऐसा करने लगे। ऐसा करने पर उनका अजीर्ण नहीं मिटा और वे कमजोर होते गये।

अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन बीते। एक दिन एक नई घटना घटी। वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट होने लगी। उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएं जलने लगीं। ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा था। लोगों ने उसे रत्नराशि समझा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाये। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुंचे। ऋषभदेव बोले—अब स्निग्ध-रूक्ष काल आ गया है, अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त रूक्ष व एकान्त स्निग्ध समय में अग्नि पैदा नहीं होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्ध समय था, अतः अन्न की पाचन-क्रिया में भी दुविधा होती थी और उससे अजीर्ण होता था। अब यह समस्या नहीं रहेगी। तुम लोग सब जाओ और पूर्व विधि से तैयार किये हुए अन्न को उसमें पका कर खाओ। उसके आस-पास जो भी घास-फूस व अन्य सामग्री है, उसे हटा दो।

Prosadhopavasa are sufficient for educating the individual in the art of self-control on its positive side, and Anarthadandatygavrata, on its negative side; the spirit of social service is capable of being nourished by the vow of Vaiyavritya; and lastly the householder's vow of Ahimsa will serve as the guiding and pervasive principle throughout. The State as the outward garb of society must be abandoned and renounced when the society as a whole moulds its life in consonance with the prescription of vows. The existence of an enlightened social order can dispense with state altogether. But this is an ideal condition and we feel that it cannot be materialised. Probably there will come no time when all the individuals will be self-regulating. Hence state in some form or the other will exist.

Thus human imperfection will necessitate the continuation of state control and authority. The state is no doubt an evil but a necessary evil. It should contrive to manage its affairs in a way which will assist the development of perfect social order. Its national and international activities should be guided by the principle of non-violence and Anekanta. In order that the state may function properly without encroaching upon the inherent spiritual nature of man, it must identify itself with *Samyagdarsana Samyagjnana, Samyakcharitra.* The policy of the state must exhibit unflinching faith in, and tenacious adherence to, the principle of non-violence. This will crown the state with Samyagdarsana which will *ipso facto* bring enlightenment to it, and the result will be the emergence of Samyagjnana. In other words, the adoption and the assimilation of Anekanta is Samyagjnana. The resolute and astute application of the policy of non-violence and Anekanta in the national and international spheres for solving all sorts of problems will credit the state with Samyakcharitra. The passions of fear, hatred towards any class of man and towards any other state; the passions of deception, greed to expand its territory and usurp others state's wealth and freedom, the passions of pride, of wealth, power, achievement and heritage-all those should be banished from the state, because they are corruptive of the veritable spirit of progress. On the positive side, the state should pursue the discipline which flows from Samyagdarsana, Samyagjnana and Samyakcharitra. The eight virtues emanate from Samyagdarsana, the one from Samyagjnana, and the five from Samyakcharitra. We shall dwell upon them one by one along with their implications.

Virtues of the State

As regards the virtues issuing from Samyagdarsana, first, the state should not have any iota of doubt in the efficacy of non-violence for solving the problems which arise in the national and international field. Fear which obstructs the germination of the living faith in, and rational adherence to, the principle of Ahimsa must be brushed aside. It will not be amiss to point out here that non-violence should not be counted as a

virtue of necessity and a cloak of cowardice. To use it as a weapon of expediency is to defile the Nihsankita virtue of the State.

Consequently, an unshakable conviction in regarding it as a life-principle will infuse the state with a type of immutability even in testing situations. Secondly, the State in no circumstance should exhibit tendency to dominate other countries notwithstanding its multifarious achievements. Even help should not end in domination. This is Nihsankita virtue of the state. Thirdly, the virtue of Nirvicikitsa which is required to be associated with the state prescribes not to condemn the poor. Fourthly, the virtue styled Amudhadrsti obliges the state to refuse to join any military pact on account of its being overwhelmed by fear, inferiority and greed for profit. Fifthly, when the state engages itself in enhancing its productive capacity along with proper distribution, it may be said to have possessed Upavrhana characteristic. Sixthly, when other states, being oppressed by the passions of fear, greed and the like, seem to go astray from the path of righteousness and peace, to try for their re-establishment by reminding them of their humanitarian purpose may be called Sihitikarana virtue. Seventhly, to have affection for all the members of the state irrespective of caste, colour, creed and sex is to adhere to the prescription of the virtue known as Vatsalya. Eighthly, it is imperative for the state to strive to educate its members in a way which may bring about the progress of the state. It is required as well to attain its ends by non-violent means, so that other states may be influenced by its policy. This will bring about the dissemination and propagation of its principles and policies among other states. This is known as Prabhavana virtue of the state.

The virtue which springs from Samyagjnana is Anekanta, which aims at comprehending the multiple approaches and diverse outlooks with a view to reconcile their claims. When the state imbibes the spirit of Anekanta, it is sure to become tolerant in spirit, and to attend to its various aspects. The principle of Anekanta strives to cut the roots of onesidedness in theory and practice. On account of the absolutistic approach the state is obliged to take a negative attitude towards other states which follow a different pattern of living. But Anekanta broadens the outlook and curbs down the absoluteness of one view. Consequently it helps in fostering international feelings, and in presenting humanitarian solutions of the various problems arising from the lack of sympathetic understanding of other state's views and considerations. It will not be insignificant to point out here that a war is the outcome of one-sided clinging, while peace results from the manysided outlook. The latter should not make the state irresolute; on the contrary it should give credence to a synthetic approach, and properly attune the demands of different perspectives.

Lastly, Samyakcharitra credits the state with five other virtues known as non-violence, truthfulness, non-stealing continence, and non-acquisition. We shall now deal with them one by one. First, consummation of non-violence in a state as in the case of a householder is a contradiction in terms. So long as the state exists violence in some form or the other is inevitable. Just as a householder is incapable of eschewing Himsa to an ascetic level, so also the state cannot dissociate itself from violence to an absolute degree, inasmuch as anti-state and anti-social tendencies may continue; and in order to resist the disturbances, the presence of extraneous control is indispensable. Violence will not be international but it will be a defensive weapon. Notwithstanding the compelled use of force, it is an imperative function of the state to create an atmosphere of non-violence. We may mention here that the application of this virtue should not be merely confined to human beings, but the subhuman existence is also required to be brought under its purview. Consequently, hunting and slaughtering of animals for any purpose whatsoever should be announced as unlawful. It is against the spirit of non-violence, and sounds as inhuman. Besides, the use of intoxicants, specially wine, should be banned, and a social consciousness is to be developed against the use of these derogatory things. The deeper signficance of non-violence consists in the elimination of war, which has harassed mankind since the dawn of civilization. War need not be considered a necessity just as Nietzsche, Mussolini and others had thought. Nietzche says: "For nations that are growing week and contemptible war may be prescribed as remedy, if indeed they really want to go on living." He declares : "Man shall be trained for war and woman for the recreation of the warrior, all else is folly."[1] "War alone", Munssolini affirms "brings up to the highest tension all human energy, and puts the stamp of nobility upon the peoples who have the courage to meet it."[2] The two world wars have caused huge devastations and are sufficient evidences to prove that the international problems are incapable of being solved by the institution of war. The establishment of international organisation and the tendency towards disarmament are the symptoms of the inefficacy of force, war and violence to act as arbiters among international disputes. The easing of tensions and cessations of conflicts among states, the maintenance of universal peace, and the promotion of human welfare can only be effected by suffusing world's atmosphere with the spirit of non-violence. "Thus the principle of non-violence really implies that life should be elevated altogether from the plane of force to that of reason, persuasion, accommodation, tolerance, and mutual service."[3] Secondly, the

---

1. Radhakrishna, Religion and Society, P. 199.
2. Ibid P. 200.
3. Beni Prasad, World Problems and Jaina Ethics P. 9.

inter-relations among states should be nourished upon truthfulness. Fraud or deception defiles the spirit of co-existence. The use of slandering and ridiculous speech, and of words which arouse uneasiness, engender fear, excite repugnance and hostility, inflame dolor and intoxicate brawl, should be banished from the conduct of the state. Thirdly, the respect shown by the state for the rights of others constitutes its non-stealing. Colonisation is stealing; hence it should be condemned as unwholesome. Aggression and domination are robbery, Hence they must stop. Fourthly, Brahmacharya or continence implies that the state should not dissipate its energies for military organisations and in the manufacturing of nuclear weapons. The wealth and labour of the state should be directed for the upliftment of mankind at large. Fifthly, the virtue of Aparigraha declines to hanker after other state's wealth and territory. The surplus production should be left for the use of other states without any ill-motive. Imperialistic tendencies should be regarded as baneful by the state. The virtue of Aparigraha is a mean between capitalism and communism.

The above treatment of the virtues of the state will oblige us to admit that the state is required for the development of human personality. The individual contributes its share to the state and the latter in turn reciprocates with manifold energy and strength, and affords opportunities for the material and spiritual development of man. Just as material backwardess hampers the progress of the individual, so also the state becomes impotent without material possessions. But the reins of the horses of materialism should be in the hands of spiritualism. The above mentioned virtues suffice to evolve a balanced outlook in the state. The virtues of non-violence and Aparigraha are capable of establishing universal peace. Non-violence cannot be materialised in the life of the state without extirpating the passion of greed. The root cause of violence is material goods. If the importance of the virtue of Aparigraha is understood at the international level, the attitude of non-violence will synchronise.

After dwelling upon the Jaina conception of the individual and society, the possibility of stateless society, and the virtues of the state which are capable of affording solution to the problems of national and international importance, we now propose to deal with the attitude of Jainism towards casteism. Jainism looks at casteism with an eye of contempt. The superiority of one caste over the other is foreign to Jaina ethics. Casteism is an evil and is based on the passions of hatred and pride. These two are intense passions, hence they bring about sin to their victims. We find references in the Jaina scriptures which go to prove that merit and not mere birth should be regarded as the real judge of castes traditionally enumerated as Brahamin, Kstriya, Vaisya and Sudra. The caste has nothing to do with the

realisation of spirit. The Uttaradhyayana says that Harikesiya who was born in the family of untouchables attained saintly character owing to the performance of austerities. Conduct and not caste is the object of reverence. The Jaina logician Prabhachandra argues in the Prameyakamalamartanda that Brahminism can neither be of soul, nor of body, nor of both nor can it be made dependent upon ceremonies and the study of Vedas, inasmuch as if it belongs to the soul, Kstriya, Vaisya and Sudra will be Brahmins on account of the fact that they also possess souls; if it is ascribed to the body it is not possible to attribute Brahminism to the five constitutive elements of the body just like the pot; if it is granted to both body and soul, it will be fallacious; if it is made dependent upon ceremonies, the child of an untouchable can also be a Brahmin; lastly, if it is due to the study of the Vedas, any Sudra can be turned into a Brahmin. Thus casteism is grounded in falsity and is purely imaginary. Acharya Amitagati expresses that mere caste is incapable of leading us to any meritorious attainment. Merit accrues from the pursuance of the virtues of truth, purity, austerity, Sila, meditation and spiritual study.

Differences in conduct have resulted in the distinctions of caste. There is only one caste, nemely, manhood. Merit is the basis of caste and the pride of caste destroys right living. If the modern democratic set-up is to be made successful, casteism must go. Casteism and democracy are contradiction in terms.

महावीर वाणी

कोहो पीइं पणामेइ, माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है।

मुनि कान्ति सागर

श्रमण संस्कृति की देन

> महा श्रमण वर्धमान श्रमण परम्परा के अग्रदूत और लोकोत्तर व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी विचार और साधना का प्रवाह आज भी अबाधित गति से बह रहा है। उनका जीवन कठोर साधनाओं से भरा पड़ा है। उनकी दीप्तिमान प्रतिभा का प्रभाव आज भी जनमानस को प्रकाशित करता है। इस प्रकार श्रमण संस्कृति की विशेषताओं पर लेख में विशद प्रकाश डाला गया है।

संस्कृति आत्मा को संस्कार की ओर उत्प्रेरित करने वाली ऐसी अद्भुत वस्तु है जिससे न केवल आत्मस्थ सौन्दर्य ही जाग्रत होता है, अपितु, वह अन्यान्य तथ्यपूर्ण उपादानों के द्वारा शाश्वत सत्य की भी महती प्रेरणा देती है। संस्कार शील व्यक्तित्व ही सुगठित और बलिष्ठ समाज का सुखद सृजन कर मानवता को अनुप्राणित करता है। महापुरुषों की चिराचरित साधना की सर्वोत्तम परिणति स्वरूप संस्कृति को आत्मा का प्रतिबिम्ब कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यह एक ऐसा व्यापक और गम्भीर भाव सम्पन्न शब्द है जिसे शब्दों द्वारा परिभाषा की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। कला और सौन्दर्य के समान अन्तरंग पृष्ठ भूमि से देखा जाय तो यह भी एक ऐसी भावाभिव्यक्ति है जिसका आनन्द त्रिकाला बाधित है। समाज को सुनियन्त्रित रखते हुए आत्म तत्व की ओर मोड़ने की इसकी क्षमता ने इसके महत्व को और भी द्विगुणित कर दिया है। शब्द और अर्थगम्भीर्य की गुरुता का आभास व्यक्ति के चेतनाशील आचार द्वारा मिलता है। संस्कृति मूलक जीवन व्यक्तित्व के विकास के साथ सामाजिक व राष्ट्रीय परम्पराओं को सुदृढ़ व प्रेरणाशील बनाता है।

उपर्युक्त शब्दावली श्रमण संस्कृति पर यथावत् चरितार्थ होती है जो भारत की अति प्राचीन और व्यक्ति स्वातन्त्र्य मूलक परम्परा के रूप में ख्याति अर्जित कर चुकी है। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के प्रतीकसम उपनिषद् काल से भी पूर्व इसका व्यापक अस्तित्व अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों से सिद्ध है। श्रमण संस्कृति का साध्य मोक्ष रहा है। अतः उसकी समस्त बाह्य प्रवृत्तियां भी निवृत्तिमूलक ही रही हैं। इस संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल मानव जगत तक ही सीमित न रह कर प्राणीमात्र के प्रति उदार और समान भाव रखती है। अहिंसा, संयम और तपोमय जीवन यापन करने वाले उर्जस्वल व्यक्तित्व सम्पन्न साधकों ने अपनी दीर्घकालिक साधना स्रोतस्विनी से सींचा है। अतः स्वार्थप्रसूत भावना को यहां अवकाश ही नहीं है। यह स्वाभाविक है कि अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति की ओर आकृष्ट कोई भी उत्कृष्ठ विचार परम्परा ही जनमन में उन्नत स्थान प्राप्त कर सकती है।

श्रमण परम्परा का मन्तव्य है कि आत्मा स्वयं ही साध्य और साधन है। इसका उत्थान पतन उसकी निर्मलता व मलीनता पर आधृत है। उत्कर्ष अपकर्ष में और कोई साधक बाधक नहीं है। उच्चकोटि के आध्यात्मिक जीवन-यापन करने में वह बिना किसी जाति भेद के सबको समान अधिकार प्रदान कर सक्रिय औदार्य की परिचायक है। आत्मोपम्य की प्रशस्त भावना इसकी आधार शिला है। जीवन और जगत के प्रति विशिष्ट दृष्टि के कारण ही शताब्दियों के भीषण संघर्ष और थपेड़ों से आहत होने के बाद भी वह मरी नहीं। वैयक्तिक स्वार्थमूलक संघर्ष भी इसकी प्रगति को अवरुद्ध न कर सके। विरोध और विद्वेष से लड़ती हुई भी

सृजनात्मक कार्यों के प्रति ही अपनी दृष्टि बनाये रखी। आत्मसत्ता के अतिरिक्त और किसी भी तथ्य को वह स्वीकार नहीं करती। यहां तक कि वह अपने दैनिक जीवन में ईश्वर तक के दासत्व को अस्वीकार करती है। स्वावलम्बन ही इसका साधन है। सम, श्रम, और शम ही इसके व्यवहार मूलक जीवन का नैतिक आधार हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को श्रमण संस्कृति द्वारा जो समर्थन प्राप्त हुआ है उससे राष्ट्र को नैतिक चरित्र का बल मिला है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो आज भारत में संस्कृति नामधारी जितनी भी विचार परम्पराएं विद्यमान हैं उनमें श्रमण संस्कृति ही एक ऐसी उदात्त विचारोत्तेजक और क्रान्ति समर्थक संस्कृति है जो यथार्थतः जनतन्त्र का समर्थन करती है।

भगवान महावीर–कालिक गणतान्त्रिक परम्परा के युग में इसका विकास चोटी पर था। यद्यपि उन दिनों साम्राज्यवाद समर्थक संस्कृति भी अस्तित्व रखती थी जिसका आधार ऐहिक स्वार्थपरक जीवन यापन करने वाले पुरोहित व कथित पण्डित थे। जो अपने को ईश्वरीय अवतार घोषित कर जन समाज को पथ विचलित कर रहे थे। वहां व्यक्ति को केवल ईश्वरीय सकेतों पर ही नचाया जाता था। यह स्वाभाविक ही है कि जिस विचार परम्परा में ईश्वर का प्राधान्य हो और वह व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करता रहता हो वहां नैतिकता स्वावलम्बन, चरित्र और व्यक्ति स्वातन्त्र्य निर्मूल्य हो जाते हैं। व्यक्तित्व उभरने की अपेक्षा कुण्ठित हो जाता है। और वहां जनतन्त्र के पनपने की बात ही कैसे सोची जा सकती है?

महाश्रमण वर्धमान श्रमण परम्परा के अग्रदूत और लोकोत्तर व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी विचार और साधना का प्रवाह आज भी अबाधित गति से बह रहा है। उनका जीवन कठोर साधनाओं से भरा पड़ा है। उनकी दीप्तिमान प्रतिभा का प्रभाव आज भी जन-मानस को प्रकाशित करता है। उनकी वैयक्तिक अनुपम विशेषताओं का आलेखन न यहां संभव है और न आवश्यक ही। यहां अभीष्ट यही है कि इन्होंने मानव संस्कृति के विकास में क्या योग दिया और कौनसा ऐसा अमर संदेश दिया जिसे जनता ने आज भी अपने आचार और विचार द्वारा सुरक्षित रखा है।

वीर शासन का वैशिष्ट्य इसलिये नहीं कि इसके अनुयायियों की संख्या अधिक रही थी या है। पर इसलिये है कि इस द्वारा जो प्रेरणाशील संदेश मिला है वह शाश्वत सत्य का प्रतीक है। इसका आध्यात्मवाद व्यक्तिमूलक होकर भी समाजवाद का समर्थन करता है। भले ही भगवान महावीर की विचार परम्परा परिस्थिति-जन्य तथ्यों से प्रभावित रही हो पर वह कई कारणों से त्रिकालाबाधित सत्य की कोटि में आती है। उनकी पुरातन देन भी नवीनतम भावनाओं का पोषण करती हुई जनोन्नयन का पथ प्रशस्त कर सर्वोदय का अमर सन्देश देती है। न केवल इससे आत्म सौन्दर्य ही उद्भूत होता है अपितु रुचि मानस को विकास संस्कार और निर्माण की प्रेरणा मिलती है। जीवन का वास्तविक साफल्य वही है जो एक व्यक्ति करोड़ों का चरित्र निर्माण कर सके। भगवान महावीर की यही सबसे बड़ी विशेषता थी। जितना सन्देश उन्होंने शब्दों द्वारा नहीं दिया उससे कहीं अधिक मूक साधना द्वारा प्रेरणा दी है। वाणी का मौन जीवन का वास्तविक उत्कर्ष किस प्रकार करता है, महावीर का जीवन और कठोर साधना इसके प्रतीक हैं।

जैसा कि सूचित किया जा चुका है कि जनतन्त्र का सच्चा समर्थन श्रमण संस्कृति ने किया है। जिस प्रकार आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में इसे औदार्यपूर्ण स्थान प्राप्त है इसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी प्राप्त है। जीवन के नैतिक आधारों के प्रति वह सदैव पूर्णतया वफादार रही है। समत्व मूलक जीवन को ही इसने राष्ट्र का आधार माना है। वीर शासन का सर्वाधिक महत्व और आदर इसलिए भी रहा है कि भाषा साहित्य साम्प्र-दायिकता और अस्पृश्यता आदि पर इसके अनुयायियों के विचार उदार और स्पष्ट रहे हैं। प्राणी मात्र की आध्यात्मिक उच्चता ही इसकी मनो कामना है। समत्व का सिंहनाद वीर शासन में वाणी तक ही सीमित न रह कर जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक

अंग–भूत रही है। यह सर्वानुभूत तथ्य है कि जिस परम्परा की धार्मिक और आध्यात्मिक नीति जितनी निर्दोष, स्पष्ट और बलिष्ट होगी उतनी ही उसकी समाज व राष्ट्र परक नीति भी व्यवहारिक व सर्वगम्य होगी। श्रमण परम्परा में वैयक्तिक उज्ज्वल चरित्र का विशेष महत्व रहा है जिसकी राष्ट्र को आज बड़ी आवश्यकता है। वीर शासन का समस्त दृष्टिकोण इसी पर केन्द्रित है। शताब्दियों के साहित्यिक विभिन्न प्रवाह इसी के प्रतीक रहे हैं। श्रद्धापूर्वक ज्ञानार्जन कर संयममय जीवन की ओर प्रेरणा देना ही इसका मुख्य लक्ष्य रहा है। व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुणपूजा का आदर सदैव से रहता आया है।

भाषा—

भाषा भावाभिव्यक्ति का सबल साधन रही है तथा वैयक्तिक नैवद्य का माध्यम भी। आत्मोन्नयन या औपदेशिक उत्तरदायित्व जिन कन्धों पर होता है, उनका भाषा पर भी स्वतन्त्र दृष्टिकोण स्वभावतः ही रहता है। वह अपनी वाणी को केवल बौद्धिक प्रदर्शन में ही सीमित नहीं रखता। वह चाहता है—वाणी द्वारा प्रचारित विचार जीवन में आचार का एक ऐसा महत्व-पूर्ण अंग बन जाय जिससे शताब्दियों तक मानवता अनु प्राणित होती रहे। श्रमण संस्कृति का भाषा विषयक औदार्य अति व्यापक रहा है। जन भाषा का सदा से इसने आदर किया है। वह इस प्रकार की भाषा मे विश्वास करती रही है कि जनता महत्वपूर्ण आध्यात्मिक सिद्धान्तों को अधिक से अधिक सरलता पूर्वक आत्मसात् कर जीवन को उन्नत बना सके, उसी का प्रयोग किया जाय। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने अपने सैद्धान्तिक विचार उस समय में प्रचलित जन भाषा में व्यक्त कर दिङ्मूढ मानवता को सत्य का दिग्दर्शन कराया वह भाषा थी अर्धमागधी। उन दिनों धर्म के नाम पर केवल संस्कृत पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके विपरीत अहिंसा के इन समर्थकों ने भाषा मूलक साम्राज्यवाद को समाप्त कर जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया वह सर्वथा जनतन्त्र के अनुकूल था। तात्कालिक एवं परवर्ती भाषा विषयक साम्राज्यवाद के समर्थकों ने इसे नास्तिकों की भाषा से अभिहित किया। यहां तक कि नाटकों में निम्न पात्रों द्वारा इस भाषा के व्यवहार की परम्परा का सूत्रपात किया। वीर शासन की साहित्यिक परम्परा ने न केवल अर्धमागधी आदि जन भाषाओं द्वारा शताब्दियों तक साहित्य सृजन कर मानव को प्रशस्त पथ की ओर मोड़े रखा अपितु वहां की जन-पदीय भाषाओं में अपने विचार व्यक्त कर मूल्यवान उच्चतम् भावों को सर्वगम्य बनाया। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति की इस उदार परम्परा के कारण ही आज भारत की विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित जनभाषा और बोलियों के मूल स्वरूप सुरक्षित मिल जाते हैं। भाषाओं के क्रमिक विकास और वैज्ञानिक अध्ययन की महत्वपूर्ण यह ऐसी सामग्री है जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। भाषा संस्कृति की अभिव्यक्ति रही है। यहां पर स्पष्ट कर दिया जाना आवश्यक जान पड़ता है कि जिस प्रकार संयममय साधनारत जैन तपस्वियों ने अपने दीर्घ कालिक अनुभवों को व्यक्त कर लोक साहित्य का अनुगमन करने वाली भाषाओं के भण्डार को भरा ठीक उसी प्रकार उच्चकोटि के विद्वद्भोग्य प्राणवान् साहित्य की रचना में भी पश्चात पद न रहे बल्कि अधिक स्पष्ट कहा जाय तो न केवल दार्शनिक आदि विषयों पर अपने बौद्धिक विशेषता का परिचय ही कराया अपितु अजैन उच्चकोटि के संस्कृति भाषा से गुम्फित जटिल ग्रन्थों पर अपनी आलोचनात्मक टीका टिप्पणियां लिख कर उन्हें भी सर्व भोग्य बनाने का जो सत् प्रयत्न हुआ है वह उनकी भाषा विषयक औदार्य का परिचायक तो है ही साथ ही उनकी असाम्प्रदायिकता से पूर्ण साहित्यिक विशाल वृत्त का अनु-करणीय निदर्शन है।

मध्यकाल में जब प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाएं केवल विद्वज्जगत तक सीमित थी उन दिनों जनपदीय भाषाएं उत्कर्ष की चोटी पर थी। गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, मराठी और दक्षिण की कन्नड़ आदि भाषाओं में जैन विद्वानों ने श्रमण परम्परा के विचारों को व्यक्त किया है। केवल विद्वद् भोग्य भाषा के साहित्य स्रष्टा
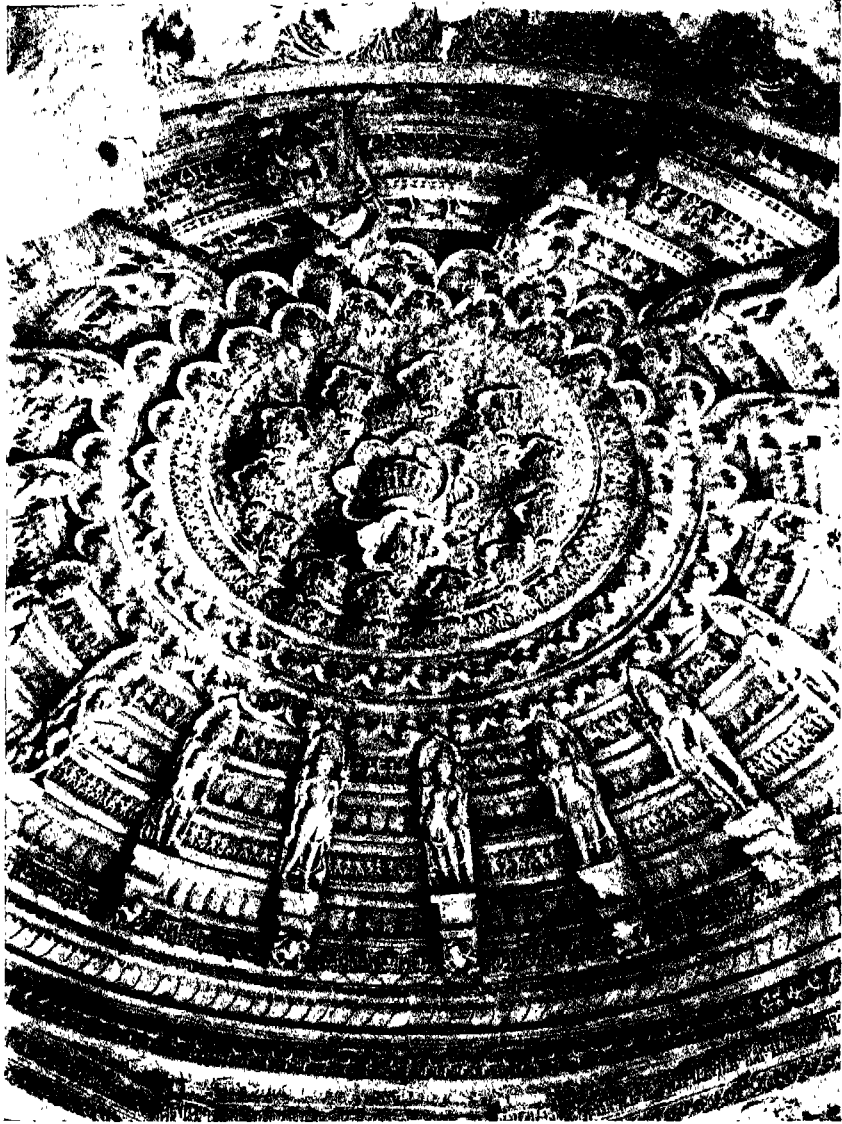
सभा मंडप के उत्क्षिप्त वितान का भीतरी कलामय दृश्य
जैन मंदिर - आबू

जन भाषा में विचार व्यक्त करने में अपना अपमान समझते थे। मुझे क्षमा किया जाय वे सैकड़ों हजारों के मनो विनोद के लिये आत्माभिव्यक्ति को मूर्त करते थे जब जैन श्रमण और विद्वान करोड़ों के लिये लिखते थे तभी तो जनता के हृदयसिंहासन पर उनका आजतक अमिट स्थान बना हुआ है। जनतन्त्र के विकास में जनभाषा का भी बहुत महत्वपूर्ण योग रहता है। और श्रमण परम्परा ने सदा से अपना योग दिया है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों को तो श्रमण परम्परा द्वारा रचित साहित्य का ऋणी होना चाहिये क्योंकि हिन्दी की जड़ अपभ्रंश भाषा है जिसे सर्वाधिक बल श्रमण विद्वानों द्वारा ही मिला है। प्राकृत भाषा की सभी शाखाओं को सभी विषयों से परिपूर्ण बनाने का प्रयास एक प्रकार से भारतीय भाषा विज्ञान और साहित्य के विकास में श्रमण परम्परा की मौलिक देन हैं।

साहित्य—

साहित्य का मुख्य लक्ष्य है मानव को देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित करना। पर श्रमण परम्परा सदा से साहित्य को उस सम्मुच्चय ज्ञान की परम्परा मानती आई है जो आत्मा को राग और द्वेष से मुक्त कर उन्नत वीतरागत्व की ओर उत्प्रेरित कर सके। शान्ति और अहिंसक जीवन द्वारा मानव में विभेद के अंकुर नष्ट करने की ओर प्राणीमात्र को समत्व की सुदृढ़ पृष्ठ भूमि पर लाने की जो स्फूर्ति प्रदान कर सके, वस्तुत: वही साहित्य हैं। माना यह जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता हैं पर श्रमण संस्कृति के अनुयायियों द्वारा रचित साहित्य और वीरवाणी तो यह मानती है कि साहित्य आत्मा का प्रतिबिम्ब हैं। पूर्व प्रवाहानुसार नूतन जीवन तभी तक उत्प्रेरित हो सकता है जब तक उसमें सनातन सत्य का सन्देश हो। सुदृढ़ और विवेकमय साधना जनित संतों की वाणी भले ही लक्षण ग्रन्थों में निर्देशित परिभाषानुसार साहित्यिक कोटि में न आती हो पर वस्तुत: साहित्य उसी को माना जायेगा जिससे मानवता की अजस्त्र धारा को वेग मिले और वह केवल मनोविनोद का साधन मात्र न रह कर आत्म तत्व के प्रशस्त एवं जाग्रत पथ की ओर उत्प्रेरित कर सके। तथा वैर विरोध की भावना का शमन कर आध्यात्मिक व अन्तर्मुखी चित्त वृति की ओर जीवन को गति मान न बनावे। उसी साहित्य में अनिर्वचनीय आनन्दोपलब्धि सम्भव है। लौकिक व लोकोत्तर जगत के प्रति समान आस्थावान साहित्य ही जनतन्त्र मूलक परम्परा में जीवित मानव को शान्ति प्रदान कर सकता है। यद्यपि श्रमणों ने आत्मपरक वाणी का ही विस्तार साहित्यिक माध्यम द्वारा किया है तथापि सामयिक विशेषताओं के प्रति भी वे कम जाग्रत नहीं रहे।

श्रमण केवल शब्दों के शिल्पी ही नहीं थे, न केवल वे वाणी द्वारा क्षणिक तृप्ति का अनुभव कराते हैं, अपितु वे जीवन शिल्पी थे और वासना विषयक वैभव के विच्छेदक होने के कारण वे शताब्दियों की साधना एवं संयम् के प्रकाश में लिपि बद्ध होने के कारण उनकी रचनाएं स्पष्टत: शाश्वत सत्य का सुन्दर समर्थन करती हुई सामाजिक वैषम्य को मिटा कर साम्य की ओर दृष्टि केन्द्रित करती हैं। आन्तरिक सौन्दर्य एवं संयम के द्वारा ही बाह्य सौन्दर्य की सृष्टि का कलात्मक तथ्यों का सृजन उनका काम है। जिस प्रकार कला सौन्दर्य चाहती है उसी प्रकार साहित्य साधना की अपेक्षा करता है। साधना-हीन साहित्य और अनुभव हीन वाणी व्यभिचार-मात्र है। साहित्य का स्थायित्व उसके शाश्वत मूल्यों पर अवलम्बित हैं।

श्रमणों द्वारा रचित साहित्य इतना विशाल और वैविध्य पूर्ण है कि इसकी समीक्षा के लिए पर्याप्त अवकाश अपेक्षित हैं, पर यहां यह कहने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता कि भारतीय साहित्य में से इसे अलग कर दिया जाय तो वह अत्यन्त न्यून प्रतीत होगा। ज्ञान आत्मा का मूल गुण होने के कारण श्रमणों ने इसकी साधना में तनिक भी पक्षपात का सहारा कभी भी न लेकर केवल सत्य के प्रति ही आकृष्ट होकर ज्ञानोपलब्धि की सभी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हुए भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मुख को समुज्ज्वल किया है। साथ ही मानवोपयोगी ही नहीं अपितु अन्य प्राणियों के

जीवन से संबद्ध शायद ही साहित्य का कोई ऐसा विषय रहा होगा जिस पर जैन विद्वानों ने अधिकार पूर्वक लेखिनी न चलाई हो।

बल्कि इसके विपरीत बहुत से ऐसे भी ऐतिहासिक आदि विषय जिन पर इस परम्परा के लेखकों का एकाधिकार है। उदाहरणार्थ ठक्कुर फेरू के ही साहित्य को लिया जाय, इसने गणित, ज्योतिष और शिल्प विद्या पर तात्कालिक प्रचलित अनुभवों को तो लिपिबद्ध किया ही साथ ही मुद्राविज्ञान जैसे अछूते विषय पर भी लेखिनी चला कर यह सिद्ध कर दिया कि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में जैन कितने उदार हैं। ठक्कुर फेरू की द्रव्य परीक्षा (रचनाकाल विक्रम संवत् १३७२) इस विषय में संपूर्ण भारतीय साहित्य में एक ऐसी कृति है जो तात्कालिक प्राप्त व प्रचलित मुद्राओं पर वैज्ञानिक प्रकाश डालती है। इसी प्रकार प्राणी विज्ञान पर भी कुछ ऐसी कृतियां हैं जो श्रमणों द्वारा ही रचित है।

यद्यपि चित्रकला स्वतन्त्र विषय है पर दृष्टि सम्पन्न कलाकारों ने इसे भी साहित्य में समाविष्ट कर लिया है। कलाकारों की भावाभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न है। कलाकार शब्दों के सहारे आत्मस्थ सौन्दर्य जब व्यक्त करता है तब वह साहित्यकार की संज्ञा से अभिहित होता है, पर जब वहीं कलापोषक रेखा व रंगों द्वारा प्रकृति प्रदत्त तीर्थों से सौन्दर्य ग्रहण कर भावाभिव्यक्ति व्यक्त करता है तब चित्रकार बन जाता है। श्रमण परम्परा में उभय समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार श्रमणों ने आत्मभावों के शब्दों द्वारा व्यक्त किया उसी प्रकार शब्दों द्वारा व्यक्त भावों को रंग और रेखाओं द्वारा भी स्पष्ट किया। साहित्य के साथ कला की अद्भुत समन्विति श्रमण परम्परा की चित्रकला का सूत्रपात कर भारतीय चित्रकला के क्रमिक विकास की महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। भारतीय भित्ति चित्र और राजपूत तथा मुगल काल की मध्यावधि-युगीन सामग्री या भित्ति चित्र और मुद्रित काल के विकसित चित्रकला की कड़ी श्रमणसंस्कृत्याश्रित चित्र सामग्री है।

सतत ज्ञान व साहित्योपासना को श्रमणों ने धर्म का ऐसा महत्वपूर्ण अंग बना लिया था जिसके परिणाम स्वरूप आज लक्षाधिक हस्तलिखित प्राचीन साहित्य का दुर्लभ संग्रह जैन भंडारों में पाया जाता है। भारतीय संस्कृति की गौरव गरिमास्वरूप कई महत्वपूर्ण दुर्लभ कृतियों का इन में समावेश होता है।

साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता जनतन्त्र का अभिशाप है। स्वस्थ मानव समाज के लिये यह बहुत ही घातक तत्व है। यद्यपि अद्यतन युग में अपने आपको असाम्प्रदायिक घोषित करने का फैशन हो चला है पर श्रमण परम्परा में असाम्प्रदायिकता या पूर्वग्रह विहीन विचार जीवन के अंग के रूप में रहे हैं। सब सम्प्रदायों के प्रति सद्भाव रखना तो सभी का कर्त्तव्य होता है पर इसका अहंकार इतना बुरा होता है कि "स्व" के प्रति अत्यधिक व्यामोह "पर" के प्रति विद्वेष की भावना फैला देता है। श्रमण परम्परा सदा से सत्यानुगामिनी रही है। रागद्वेष को नष्ट करना ही श्रमण परम्परा का एक मात्र लक्ष्य रहा है। वह अपनी आत्मोन्नति मूलक साधना मे रत रहकर भी दूसरों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखती। क्योंकि समभाव उसकी नीति नहीं पर धर्म है। अहिंसा के आलोक में अनेकान्त द्वारा जहां जीवन की व्यवस्था संतुलित हो वहां ईर्ष्या द्वेष आदि भावनाएं प्रश्रय नहीं पा सकती।

भगवान महावीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि किसी भी प्राणी से वैर विरोध रखना हिंसा है। धर्म और संस्कृति के नाम पर होने वाली प्रचण्ड हिंसा के प्रति ही महावीर का विरोध था, न कि उस वर्ग के प्रति। वे हिंसक विचारों के विरोधी थे न कि किसी वर्ग के। वे कहते थे कि मैं इनका हृदय परिवर्तन करना चाहता हूं। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा द्वारा सिंचित जीवन ही मानव समाज में वैर विरोधों को भुलाकर समत्व मूलक शाश्वत सौन्दर्य की सृष्टि कर साम्प्रदायिकता को समाप्त कर सकता है। भगवान महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि मेरे सम्प्रदाय में आकर दीक्षित हो जाओ।

जो मैं कहता हूं उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करलो, बल्कि वे सदा यही कहते रहे कि हृदय-मस्तिष्क संतुलन द्वारा जो जंचे उसे ही स्वीकार कर जीवन में उतारो। बुद्धिवाद के वे बड़े हामी थे।

महावीर कालिक जनतन्त्र के युग में भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का प्रवाह प्रचण्ड वेग से प्रवाहित था। महावीर ने इसके विरुद्ध विचार व्यक्त कर आत्म तत्व के प्रति समाज का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि साम्प्रदायिकता आत्मा का विभाव है, वह 'अहम्' का पोषण करती है और स्वयं का शोषण। अत: वह हेय है। वीरवाणी एवं इसके परवर्ती साहित्यानुशीलन से स्पष्ट विदित होता है कि विराट मानवता के अतिरिक्त क्षुद्र साम्प्रदायिकता का उसमें कहीं स्थान नहीं है। यह श्रमण संस्कृति की जनतन्त्र को बहुत बड़ी देन है। अद्यतन युग में जनतन्त्र को सर्वाधिक क्षति पहुंचाने वाली कोई वस्तु है तो वह साम्प्रदायिकता ही है। समन्वय मूलक युग में धर्म और संस्कृति के नाम पर अहम् का पोषण करने वाली किसी भी भावना को प्रोत्साहित करना आत्म हत्या के समान है। प्रत्येक धर्म के प्रति आस्थावान व्यक्ति का यही कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह अपनी परम्परा के प्रति पूरा वफादार रहे, पर विरुद्ध परम्परा के प्रति कटुता का प्रयोग न करें। क्योंकि आक्षेप पूर्ण प्रहार हिंसा है। इससे विवेक नष्ट होता है। विवेकमय जीवन अहिंसा है।

अस्पृश्यता

श्रमण संस्कृति ने व्यक्ति का उच्चत्व उसके कर्मानुसार विभक्त किया है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र होता है। जन्मना जातिवाद को प्रश्रय श्रमण संस्कृति ने नहीं दिया, तभी तो चाण्डाल कुलोत्पन्न मेतार्य मुनि आदि प्रणम्य रहे हैं। किसी भी जाति का व्यक्ति उच्च आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर पहुंचने से पूज्यता का स्थान प्राप्त कर लेता है। जहां संयम द्वारा आत्मा को कर्मों से पृथक करने का सिद्धान्त स्वीकृत हो वहां जातिवाद स्पृश्यास्पृश्य या मानव मानव में विभेद उत्पन्न करने वाली विचार धारा स्थान पा ही नहीं सकती। प्राणीमात्र का मंगल-जैसा उच्च ध्येय श्रमण संस्कृति की जनतन्त्र को एक ऐसी मौलिक देन है जिसकी सदा आवश्यकता रही है विशेषकर इस प्रगतिशील युग में।

जनतन्त्र के विकास में अस्पृश्यता न केवल बहुत बड़ी बाधा ही है पर मानवता के लिये एक महान कलंक है।

इन सब बातों के बावजूद भी समझ में नहीं आता कि आज श्रमण संस्कृति एक वर्ग विशेष तक ही क्यों सीमित रह गई है।

जिसके धार्मिक और सामाजिक विचार इतने उच्च कोटि के हों वह प्रगतिशील युग में क्यों पश्चात पद है? इसमें कहीं न कहीं त्रुटि अवश्य जान पड़ती है। मेरी विनम्र सम्मति में वर्तमान जैन समाज अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से इतना प्रभावित नहीं जान पड़ता जितना कि उसे होना चाहिये। क्योंकि जैन समाज को भगवान महावीर द्वारा आचार और विचार की जो महत्वपूर्ण विरासत प्राप्त है, उसे पाकर कोई भी राष्ट्र और समाज गौरवान्वित हुए बिना नहीं रह सकता। पर यहां यह स्मरणीय है कि उच्च कोटि के विचार व सांस्कृतिक धरोहर जबतक जन जीवन में साकार नहीं होती तब तक उसका महत्व केवल मस्तिष्क तक ही सीमित रहता है।

मैं पुन: कहना चाहूंगा कि इस जनतन्त्र मूलक युग में श्रमण संस्कृति के सर्वाधिक प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता का विनाश इसी द्वारा सम्भव है। जब तक इस परम्परा का ऐतिहासिक अनुसन्धान समुचित रूप से नहीं हो जाता और वैयक्तिक चरित्र सुधार की योजनाएं कार्यान्वित नहीं हो जाती तब तक जनतन्त्र का स्वस्थ विकास नहीं हो सकता।

डॉ० सत्यप्रकाश

अध्यक्ष, राजस्थान पुरातत्व एवं म्यूजियम विभाग जयपुर

जैन चित्रकला का भारतीय चित्रकला को योगदान

भारतीय चित्रकला का मध्य एवं उत्तर मध्यकालीन इतिहास जैन चित्रकला द्वारा दिया हुआ इतिहास है। १० वीं-११ वीं शती ई० से १५ वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध तक जैन हस्तलिखित ग्रन्थों में स्थान पाने वाले चित्र व पटलियां ही चित्र सामग्री के रूप में चित्र इतिहास के कोष को भरते हैं। प्रस्तुत लेख में जैन चित्रकला के भारतीय चित्रकला को योग पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय चित्रकला का मध्य एवं उत्तर मध्यकालीन इतिहास जैन चित्रकला द्वारा दिया हुआ इतिहास है। १० वीं ११ वीं शती ई० से १५ वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध तक जैन हस्त लिखित ग्रन्थों में स्थान पाने वाले चित्र व पटलियां ही चित्र सामग्री के रूप में चित्र-इतिहास के कोष को भरते हैं।

इस काल के वाङमय में भी चित्र कला सम्बन्धी उल्लेख हैं। मागधी प्राकृत की जैन कहानी 'सुरसुन्दरी कहा' (रचना काल १०३८ ई०) में चित्रों के उपयोग के कई प्रसंग मिलते हैं।

इस काल की एक चित्रित जैन पोथी में सूर्योदय का दृश्य है। पर इसमें मानव की आकृति नहीं है।

यही नहीं, इसमें एक उल्लेख मिलता है कि किसी राज प्रासाद में फर्श पर मोर-पंख का एक ऐसा चित्र बना दिया गया कि राजा उसे वास्तविक समझ कर उठाने लग गया और उसके नख में चोट आ गई।

प्राकृत की एक दूसरी कहानी तरंगवती में ऐसा प्रसंग आता है कि तरंगवती का नायक कहीं चला गया। तरंगवती अपने घर में चित्रों का प्रदर्शन करती है कि शायद उसके द्वारा उसका पता चल जावे।

पादलिप्ताचार्य लिखित यह ग्रन्थ यद्यपि कुछ पहले लिखा गया था पर उसकी पुनरावृत्ति और संक्षेपण इसी काल में हुआ था।

बिल्हणकृत कर्णसुन्दरी एवं हेमचंद्राचार्य कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचारित्र से भी चित्र कला के अभ्यास की ११ वीं शताब्दी में पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर जैन समुदाय के निशीथचूर्णी, अंगसूत्र, त्रिसष्टिशलाकापुरुषचारित्र, नेमिनाथ चरित्र, कथा रत्नसागर संग्रहणीय सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, तथा कल्प सूत्र, कालक कथा आदि ग्रन्थों की ताड़ पत्र पर लिखित ११०० ई० से लेकर १५ वीं शती के मध्य की सचित्र प्रतियों में तथा उसी शैली की कागज पर लिखी १४ वीं शती के प्राय: अन्त तक की प्रतियों में एक शैली विशेष के चित्र पाये जाते हैं जो या तो पश्चिम भारत शैली के कहे गये हैं या गुजरात की जैन शैली के।

इन चित्रों की संस्थिति पर्वत के शिखर पर है। चित्रकार ने पर्वत पर बड़े बड़े वृक्षों को अतिलघु रूप में अंकित कर पर्वत की महत्ता लक्षित की है। इन चित्रों के देखने से हमारा ध्यान उन जैन मुनियों पर केन्द्रित होता है जो तत्व चिन्तन में लीन हैं। जैसलमेर के जैन ग्रन्थ भण्डार में हमें कई अनूठे चित्रित ताड़पत्र ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें वि० सं० १२१६ का भद्रबाहुस्वामी रचित सचित्र कल्पसूत्र प्राचीनतम ग्रन्थ है। अन्य

चित्रित ग्रन्थों में वि० सं० १२६६ की रची कालकाचार्य कथा और वि० सं० १२६५ का प्रवचनसारोद्धार वृत्ति सह (नेमिचन्द्र सूरि कृत) अप्राप्य ग्रन्थ हैं।

बोस्टन संग्रहालय (संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में स्थित) गुहिल तेजसिंह के शासन काल में कमलचन्द्र द्वारा रचित 'सवणपदकाननसुत्तचुन्नी' नामक ग्रन्थ को भारत कला दीर्घा में स्थान देता है। यह ग्रन्थ १२६० ई० का रचित है और आघाटपुर (मेदपाट क्षेत्र स्थित) स्थान में रचा गया था। रास संग्रह का यह ग्रन्थ बोस्टन संग्रहालय द्वारा १६३० में प्राप्त किया गया था। इस संग्रहालय में सन् १४४७ ई० का कल्पसूत्र तथा कालकाचार्य कथानक एवं १६ वीं शती के कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य कथा की हस्तलिखित प्रतियां भी हैं। जैसलमेर के जैन ग्रन्थ भण्डार में चित्रित ग्रन्थों के अतिरिक्त १२ वीं शताब्दी की पटलियां भी है। ये पटलियां जैन हस्तलिखित ग्रन्थों को ढकने का काम देती थीं पर ये भी चित्रित हुआ करती थीं। ये पटलियां कुमुदचन्द्र तथा देवसूरि कृत हैं।

इस ग्रन्थ भण्डार में प्राप्त १३ वीं शताब्दी की भरत व बाहुबली स्वामी वाली, पटली, हंसमिथुन कालकादि आलंकारिक चित्र प्रयोगों के साथ साथ आलंकारिक लिपि को भी स्थान देने वाली हैं।

इस ग्रन्थ भण्डार में पटलियों के अतिरिक्त १२७७ ई० का चित्रित ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र तथा वि० सं० १२७७ की वाचस्पति भिक्षुकृत न्यायतात्पर्य टीका भी कागद पर प्राप्त हैं।

मेवाड़ में हमें मोकल के शासन काल का देव कुम्भवटक स्थान में रचित एवं चित्रित ग्रन्थ सुपसन्ह चरियम भी प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ सन् १४२२–१४२३ ई० का माना गया है।

इन चित्रों में अपभ्रंश शैली की नागर शैली के रूपों को अपभ्रष्ट रूप में रक्षित रखने की विशेषता पूर्ण रूप से दीख पड़ती है।

अंगन में सरोवर, चतुष्कोण में अर्द्ध वृत्तरेखायें इस कथन की पुष्टि करती हैं।

इस शैली की मुख्य विशेषताओं में उल्लेखनीय बातें ये हैं—

एक ही ढंग से सब चहरों में सवाचश्म का प्रयोग, नाक का परले गाल से आगे को निकल जाना, ठुड्डी का अति छोटा और आम की गुठली के आकार का होना। उनका उससे बहुत दूर तथा ठुड्डी का उभरा हुआ होना, आंखों का पास पास होना आकृति का परवल की खड़े बल कटी हुई फांक जैसी होना, कटाक्ष रेखा का दूर तक बढ़ा हुआ और पुतली का बहुत ही छोटा होना, लिखाई आलंकारिक चित्रों में प्रयुक्त रंगों की संख्या बहुत अल्प जिनमें लाल और पीले की प्रधानता।

जैन ग्रंथों के चित्रों में अक्षरों के ११ वीं शताब्दी से १५ वीं शती के प्राय: अन्त तक मिलने वाले उदाहरणों में कोई परिवर्तन नहीं मिलता है। इस शैली के चित्र कभी कभी कुपढ़ कलाकारों द्वारा भी बनाये गये। यही कारण है कि उन्होंने अपनी सूचना के लिए पोथियों के हाशिये पर कहीं कहीं चित्रों के विषय निर्देश टांक लिये। इन चित्रों की आकृति बिलकुल बंधी होने के कारण कभी-कभी उन चित्रकारों ने उन आकृतियों के कतिपय इनी–गिनी रेखाओं द्वारा हाशिये पर लिख भी लिया है। ऐसे चित्रों को बीज चित्र कहा गया है। इन चित्रों के सहारे से कलाकार पूरा चित्र बना लेते थे।

बोस्टन संग्रहालय के एक कल्प सूत्र के हाशिये पर इस प्रकार से चित्र बने हुये हैं। कभी कभी इन चित्रकारों ने अपनी निरक्षरता के कारण चित्र को बेतुका बना दिया है। यह कहना भूल होगी कि ये चित्र जैन साधुओं द्वारा बनाये गये थे।

प्राय: जैन शैली के अधिकांश चित्र श्वेताम्बरीय जैन ग्रन्थों में मिलते है।

इन चित्रों में संपुजन एक अलंकार के रूप में हुआ है तथा पेड़ों के गुच्छे उनकी आकृति आदि भी उस अलंकार के बीच छोटे छोटेम भिप्राय हैं। राजस्थानी शैली की आलंकारिता का पूर्वरूप जैन चित्रकला की राजस्थानी

चित्रकला को देन है। जैन शैली के चित्र गुजरात राजस्थान आदि में ही नहीं मिले वरन् जौनपुर, बंगाल, उड़ीसा आदि में भी मिले हैं। इन चित्रों में शैली जैन या अपभ्रंश है और चेहरे विरूपाक्ष बने हैं। सारे के सारे चित्रों में गति और कौशल अवश्य है।

दक्षिण भारत में भी इस शैली के चित्र १४ वीं शताब्दि तक बने। ११०० ई० से १५०० तक श्वेताम्बर जैन पोथियां जो ताड़ पत्र पर हैं भारतवर्ष तथा बाह्यदेशों में बिखरी पड़ी हैं। ये जैसलमेर, पाटन तथा अमरीका के नगर बोस्टन में पाये जाते हैं।

कागद की विशिष्ट प्रतियों में जौनपुर वाला कल्प सूत्र है। स्वर्णाक्षरों में लिखा यह कल्प सूत्र आजकल बड़ौदा के नरसिंह जानी के पोलवाले ज्ञानमन्दिर में संरक्षित है। चित्रों के सिवा इसके हाशियों के अलंकार भी विविध और बड़े ही सुन्दर हैं। अहमदाबाद के मुनि दया विजयजी के शास्त्र संग्रह में ८ कल्पसूत्र की एक प्रति है जो १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की है। इस स्वर्णा-क्षरी प्रति में जैन कला उत्तमता एवं अलंकारिकता की पराकाष्ठा को पहुंच गई है। पन्द्रहवीं शताब्दी से देश में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और इस व्यापक पुनरुत्थान ने जैन शैली को एक शैली न रख कर कई का सामञ्जस्य इसमें प्राप्त करा दिया। चित्रकला पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रही वरन् अन्य क्षेत्रों में भी घर कर गई। किन्तु जैन चित्र कला अब भी जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त हुई और कुछ सुधार के साथ अन्य स्थानों में जैनेतर विषयों को लेकर प्रयुक्त की गई। इस जैन शैली ने ही १६ वीं शताब्दी में राजस्थानी शैली की चित्रकला में जन्म दे दिया और यह शैली अपनी उप शैलियों के साथ कालान्तर में प्रत्येक क्षेत्र में स्थापित हो गई। १६ वीं शताब्दी से आगे जैन शैली भी उन्हीं उपकरणों को चित्रकला में प्रयुक्त करती रही जो राजपूत व मुगल शैली के अङ्ग थे। जो जैन शैली राजस्थानी चित्रकला का पूर्वरूप था वह अब जैन शैली को इतना प्रभावित कर रही थी कि यही जैन पोथियों के चित्रण में भी स्थान पाने लग गई थी। श्री साराभाई नवाब के संग्रह में उत्तराध्ययन सूत्र जो १५६० ई० का है इसका ज्वलंत प्रमाण है। १६ वीं शताब्दी के साथ जैन शैली अपना अस्तित्व खो बैठती है और १७ वीं शताब्दी में पहुंच कर जैन पोथियां एवं चित्र पूर्णरूप से राजस्थानी चित्र शैली का प्रयोग करने लग जाते हैं।

इस प्रकार से जैन चित्रकला १६ वीं शताब्दी में तथा अब तक सामयिक प्रभाव को स्थान देते हुये भी जैन विषयों को अपना विषय बना कर कला का रूप उपस्थित करती है। इसने संकीर्णता का परिचय न देकर अपने निजत्व को न खोकर वीतरागता का परिचय दिया है। अन्त में यह कहना सत्य ही होगा कि जैन चित्रकला का भारतीय चित्रकला को योगदान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है।

पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ
अध्यक्ष जैन संस्कृत कालेज जयपुर

तीर्थंकर महावीर

जैन वाङ्मय में तीर्थंकर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकर का जन्म एक ऐसी घटना है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों पर पड़ता है। इस घटना के समय जगत के सभी प्राणी आनन्द का अनुभव करते हैं। उनकी महत्ता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि छोटे बड़े सभी लोग कल्याण के मार्ग का अन्वेषण करने के लिए उन्हीं की चरण छाया का आश्रय लेते हैं। महावीर जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर हैं।

> महावीर के युग में हिंसा, सम्प्रदायवाद और जातिवाद भारतीय राष्ट्र की शक्तियों को छिन्न भिन्न कर रहे थे। भगवान ने इन शैतानों को मानव मानस से निकालने के लिये जो अविश्रान्त प्रयास किया उसे इतिहास कभी नहीं भूल सकता।
>
> यदि हमें मानवता को वास्तविक और स्थायी मान देना है तो तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को जन जन के हृदय तक पहुँचाना चाहिये।

जन्म और गृह त्याग

ईसा से ५६७ वर्ष पहले एवं तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण गमन के १७८ वर्ष पश्चात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर (क्षत्रिय कुण्ड ग्राम) में कुमार वर्धमान का जन्म हुआ। उनके पिता सिद्धार्थ एक समृद्ध क्षत्रिय राजा थे। रानी त्रिशला को पुत्र जन्म से जो आनन्द प्राप्त हुआ वह वर्णनातीत था। कुमार जन्म से ही अतिशय ज्ञानी और बहादुर थे। जैन शास्त्रों में उनके ज्ञान और वीरता की अनेक कहानियां मिलती हैं, और उन्हीं के कारण कुमार वर्धमान, सन्मति, महावीर, अतिवीर आदि अनेक नामों से व्यवहृत किये जाते हैं।

उनके सन्मति और महावीर नाम होने का कारण उनके शिशु जीवन की दो घटनायें हैं। एक बार संजय और विजय नाम के दो महर्षियों को सूक्ष्म पदार्थों में कुछ शंकाएं उत्पन्न हुईं। वे कुमार वर्धमान के पास आये और उन्हें देखते ही उनकी शंकाएं दूर हो गईं। उसी दिन से कुमार को लोग सन्मति कहने लगे। इसी प्रकार जब एक बार कुमार अपने सम वयस्क बालकों के साथ एक उद्यान में खेल रहे थे, अचानक एक भयंकर सांप आया सारे साथी बालक उसे देखकर डर गये और इधर उधर भाग गये, किन्तु कुमार वर्धमान निर्भय होकर सांप के साथ खेलने लगे, इसी घटना के कारण उनका नाम वीर, महावीर अथवा अतिवीर पड़ा।

कुमार को जीवन की लोकोत्तर सुविधायें प्राप्त थीं। वैभव उनके चारों ओर बिखरा पड़ा था। वे वैभव के बीच जन्मे और वैभव में ही पले। जो अवस्था संसार के अन्य बालक खेल कूद में व्यतीत कर देते हैं उसे उन्होंने चिन्तन में बिताया। उनका ध्यान उस त्रस्त, पददलित और उत्पीड़ित मानवता की ओर था जो धर्म के पाखण्ड की चक्की में पिस रही थी और रूढ़ि का राक्षस जिसे सता रहा था, उन पशु पक्षियों की ओर था जो हिंसा की घाणी में पेले जा रहे थे। यह स्थिति उन्हें सह्य न हो सकी। उन्होंने एक संकल्प किया और गार्हस्थ्य के सारे बन्धन काट कर ३० वर्ष की अवस्था में जगत का उद्धार करने के लिये निकल पड़े। यह बात बिजली की तरह सारे कुण्ड ग्राम में फैल गयी और लोग तरह तरह का विचार करने लगे। जब यह समाचार भगवान की माता के पास पहुंचा तो वह कमल लता की तरह मुरझा गई और मूर्छित होकर गिर पड़ी। शीतोप-

प्यार करने से वह किसी तरह होश में आई और खड़ी होकर भगवान के पीछे दौड़ी। वह हृदय को हिला देने वाला विलाप करती हुई यह कहती जाती थी—बेटा मैं तुम्हारे बिना कैसे रहूंगी। मेरे लाल! मेरी आखों के तारे! मैं तुम्हें दीक्षा न लेने दूंगी।

भगवान ठहर कर बोले मां तुम क्या कहती हो? जैसे तू मेरे बिना मेरे इस जन्म के पहले रही वैसे ही अब भी रहोगी। मां मेरा और तुम्हारा संयोग तो क्षणिक है और वह वियोग के लिये ही हुआ है। अगर यह संसारी जान बूझकर अपने प्रेमी से दूर न हो तो अन्त में मृत्यु तो उसे दूर कर ही देती है। उसके सामने तो किसी की भी नहीं चलती।

माता—पर बेटे? तुम यह तो बतलाओ कि इस छोटी सी उम्र में तपस्या के महान उपसर्गों को तुम कैसे सहोगे।

भगवान—मां मैं छोटा नहीं हूं। छोटा बड़ा अवस्था और शरीर से नहीं होता। जिसमें साहस और धैर्य है जिसमें कर्तव्य निष्ठा और दृढ संकल्प है वह छोटा होने पर भी बड़ा ही है। तू मेरी चिन्ता मत कर। मेरी आत्मा अनन्त बल का खजाना है। अतएव वह संसार के बड़े से बड़े उपसर्गों को सहने के लिये समर्थ है। जो कर्म को जीतने के लिये निकलता है उसको तपस्या के उपसर्ग की क्या परवाह है।

माता—बेटे! तेरी ये बातें मुझे नही सुहाती। मेरे मार्ग में अन्धकार ही अन्धकार है। मुझे कुछ भी दिखाई नहीं देता। मैं तुम्हें न जाने दूंगी मेरी आंखों के प्रकाश।

भगवान—मां विवेक की आंखों से देख, फिर तेरे मार्ग में अन्धकार न रहेगा। अभी तू मुझे आसक्ति की आंखों से देख रही है, पर आसक्ति तो अन्धी होती है। उससे यथार्थ के दर्शन नहीं होते। उसे तू छोड़ और विवेक के प्रकाश से देख। मां बेटे का रिश्ता नित्य नहीं है। हमारा शरीर, हमारा संबन्ध और सब दृश्य मान जगत स्वप्न है, माया है भ्रम है। संसार की इस मृगमरीचिका में थकान, वेदना और आताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मां? तू भी मेरी तरह सत्य के दर्शन कर जिससे जगत की असारता तुम्हारी समझ में आवे। यह कह कर महावीर आगे बढ़े।

किन्तु राजा सिद्धार्थ ने उन्हें रोक कर कहा—कुमार ठहरो। मेरी बातें सुनो। तुम क्षत्रिय पुत्र हो। क्षत्रिय पुत्र का कर्तव्य अपनी प्रजा का पालन पोषण करना है न कि अपने इस उत्तर दायित्व से विमुख होकर जंगल में चले जाना। क्या तुम्हें यह उचित है कि इस बिलखती एवं दीन क्रन्दन करती हुई अपनी प्रजा को छोड़ कर जंगल में चले जाओ।

महावीर ने पिता की बातें बहुत ध्यान से सुनी और बोले—तात। क्षत्रिय पुत्र का कर्तव्य मैं जानता हूं। वह क्षतों (दुःखों) में त्राण करने वाला होता है। मैं अपने इसी कर्तव्य का पालन करने के लिए सब कुछ छोड़कर जंगल में जा रहा हूं। अब मेरे राज्य के थोड़े से मनुष्य मेरी प्रजा नहीं हैं। जगत के सारे प्राणी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, और वृक्ष भी मेरी प्रजा हैं। उन सबकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।

सिद्धार्थ—कुमार? इन सबकी रक्षा तो यहां रहकर भी हो सकती है?

कुमार—तात्! यह असम्भव है आप रक्षा अथवा त्राण का ठीक अर्थ नही समझते। मेरे त्राण का अर्थ आध्यात्मिक है। मैं सच्चे अर्थ में क्षत्रिय होना चाहता हूं। सच्चा क्षत्रिय केवल तीर्थंकर ही हो सकता है। आप लौकिक क्षत्रिय की बात करते हैं। मैं विश्व की प्रजा को भव बन्धन से मुक्त करने का प्रण लेकर घर से निकल रहा हूं।

सिद्धार्थ—कुमार यह काम तुम्हारे जैसे बच्चों का नहीं है। थोड़ी प्रतीक्षा करो और संन्यास योग्य हो जाओ तब इस जिम्मेवारी को अपने कंधों पर रखना।

महावीर—तात्! इस महा हिंसा, महा विद्रोह और त्राहि-त्राहि के भयंकर आर्तनाद के बीच में प्रतीक्षा की गुंजाइश कहां है? कल क्या होगा किसी को कुछ पता नहीं। इस क्षण भंगुर जगत में जो करना हो उसमें कभी

विलम्ब नहीं करना चाहिये। मुझे जाने दो मेरे पुनीत कार्य में आप बाधक मत बनो। मेरा कहना तो यह है कि आप भी इन बंधनों को छोड़ कर मेरे साथ चलिये। इसके बाद महावीर ने अपने अन्य बन्धुओं और उपस्थित सभी प्रजा जनों को भी इसी तरह सान्त्वना देकर उनसे विदा ली। और बड़े आनन्द एवं उल्लास के साथ प्रव्रज्या के कठोर मार्ग को अपनाया।

तप और केवल ज्ञान प्राप्ति

भगवान महावीर ने बारह वर्ष की लोकोत्तर तपस्या के बाद अपने जीवन के ४२ वें वर्ष में तीर्थंकरत्व को प्राप्त किया। उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। यह एक ऐसा ज्ञान है जो वस्तु स्वरूप की सम्पूर्ण गहराई तक पहुंच जाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही कोई तीर्थंकर हो सकता है। आज के २५३० वर्ष पहले तीर्थंकर महावीर, ने अपनी आत्मा की सम्पूर्ण कालिमाओं को धोकर ज्ञान के दिव्य लोक को प्राप्त किया और जन जन के मानस में तीर्थ की पावन धारा बहाई।

भगवान की कल्मषहीन आत्मा में अहिंसा की पूर्णत: प्रतिष्ठा हो चुकी थी। हिंसा के न्यूनतम अंश को भी वहां रहने के लिए जगह न थी। यही कारण था कि उनके अभ्यंतर में विश्व बन्धुत्व का पावन प्रवाह बह रहा था। उनकी अहिंसा मनुष्य तक ही सीमित न थी। उसका विस्तार पशु, पक्षी, कीट पतंग, भृंग और वनस्पति तक पहुंच गया था। जाति विरोधी जीव भी उनके सानिध्य में परस्पर सौहार्द का अनुभव कर रहे थे। शेर और गाय नकुल और सांप आदि जन्म विरोधी जीवों के स्वाभाविक वैर भी भूल गये थे। केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भगवान का जहां भी विहार होता था अहिंसा की इस पूर्ण प्रतिष्ठा के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे।

भगवान की देशना

भगवान महावीर का प्रतिदिन चार बार प्रवचन होता था। संख्यातीत श्रोता इन धार्मिक प्रवचनों का लाभ लेते थे। उनकी सभा का नाम "समवसरण" था और उनके प्रवचनों का नाम देशना। उनकी समवसरण सभा में किसी के आने जाने की रोक टोक न थी। बैठने की व्यवस्था इतनी सुन्दर थी कि भगवान का प्रवचन सुनने में किसी को किसी प्रकार की बाधा न होती थी। विद्वान, व्रती और महिलाओं आदि के बैठने के अलग स्थान थे। पशु पक्षी भी उनका भाषण सुनने के लिए आकर बैठ जाते थे।

भगवान की देशना के मुख्य विषय सर्व जीव समभाव सर्व जाति समभाव और सर्व धर्म समभाव थे। हिंसा, साम्प्रदायिकता और जाति कुल आदि का अहंकार जब तक मन से न हटे धर्म तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, धर्म का मूल स्त्रोत अहिंसा है और वह अहिंसा अनेकान्त दृष्टि से प्राप्त किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती—आदि विषयों पर भगवान के समवसरण में गहन चर्चायें होती थीं। जगत की अस्थिरता के विषय में भगवान की दिव्यवाणी का सार था कि जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उसका विनाश नियम से होगा। पर्याय दृष्टि से जगत का कोई भी पदार्थ शाश्वत नहीं है। पदार्थ के उत्पादन में ही उसका विनाश छिपा पड़ा है। जन्म के साथ मृत्यु, सम्पत्ति के साथ विपत्ति और यौवन के साथ जरा लगी हुई है। लक्ष्मी का अभिमान कभी मत करो। वह आज तक किसी के पास स्थिरता से नहीं रही। जो केवल उसका संचय करता है और जमीन में गाड़ कर उसकी रक्षा करना चाहता है वह मूर्ख है। वह उसे पाषाण बनाना चाहता है।

भगवान के ग्यारह प्रधान शिष्य थे। ये गणधर कहलाते थे। ये ही भगवान महावीर के भाषणों का संकलन करते थे। इनमें इन्द्रभूति गौतम प्रधान थे। इन्होंने भगवान के भाषणों एवं उनके लोकोत्तर आचार एवं विचारों से प्रभावित होकर जैन धर्म धारण किया था। इनको संबोधित कर भगवान ने अनेक जगह अपनी अमूल्य शिक्षायें दी है एक जगह उन्होंने कहा है:—

दुम पत्तए पंडुपए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥

जैसे वृक्ष के पत्ते पीले पड़ते हुए समय आने पर पृथ्वी पर पड़ जाते हैं उसी तरह मनुष्य जीवन भी

(आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है) हे गौतम ! समय भर के लिये भी प्रमाद न कर ।

कुसग्गे जह ओस बिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ।।

जैसे कुश की नोक पर लटका हुआ ओस बिन्दु कुछ ही समय के लिये टिकता है, वैसे ही मनुष्य जीवन भी है । हे गौतम ! समय भर के लिये भी प्रमाद न कर ।

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहु णाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम मा पमायए ।।

आयु ऐसा ही नाशवान और स्वल्प है और जीवन में विघ्न बहुत हैं । पूर्व संचित कर्मरूपी रज को शीघ्र दूर कर । हे गौतम ! समय भर के लिये भी प्रमाद मत कर।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिर कालेण वि सव्व पाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए ।।

निश्चय ही मनुष्य भव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियों को वह बहुत दीर्घकाल के बाद मिलता है । कर्मों के फल बड़े गाढ़—तीव्र होते हैं । हे गौतम ! समय भर के लिए भी प्रमाद मत कर ।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सोयबले य हायई, समयं गोयम मा पमायए ।।

दिन दिन तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, तेरे केश पककर श्वेत होते जा रहे हैं और तेरी इन्द्रियों (कान, आंख, नाक, जीभ और शरीर) का बल घटता जा रहा है । हे गौतम । तू समय भर के लिये भी प्रमाद न कर ।

इस प्रकार भगवान के सब भाषण उस समय की लोक भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत में होते थे ।

इस तरह भगवान ३० वर्ष तक भारत के विभिन्न भागों में अपनी देशना का दिव्यामृत भक्तों को पिलाते रहे । उनका विशाल संघ, जहां भी वे जाते थे उनके साथ रहता था । उनके युग में हिंसा, सम्प्रदायवाद और जाति वाद भारतीय राष्ट्र की शक्तियों को छिन्न भिन्न कर रहे थे । भगवान ने इन शैतानों को मानव मानस से निकालने के लिए जो अविश्रांत प्रयास किया उसे इतिहास कभी नहीं भूल सकता । किन्तु उस अमर देशना की आज भी न केवल हमारे देश को अपितु सम्पूर्ण विश्व को उसी प्रकार आवश्यकता है जिस प्रकार महावीर के युग में थी। यदि हमें मानवता को वास्तविक और स्थायी मान देना है तो तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को जन जन के हृदय तक पहुंचाना चाहिए ।

भगवान की मुख्य शिक्षाएँ ये हैं

(१) जगत के सब जीव बराबर हैं, कभी किसी को मनसा, वाचा, कर्मणा, पीड़ा न पहुंचाओ ।

(२) जगत के सब धर्मों को गहराई से देखो । उनमें समन्वय की भावना रखो, आग्रह नहीं, क्योंकि आग्रह ही विग्रह पैदा करते हैं ।

(३) जाति और कुल आदि किसी भी वस्तु का अभिमान मत करो । आदमी जन्म से नहीं कर्म से बड़ा होता है ।

(४) धन का संग्रह मत करो, किन्तु उसका पात्रों में वितरण करो ।

(५) सम्पूर्ण जगत के साथ सत्य और स्वच्छ व्यवहार करो ।

इस प्रकार जगत को कल्याण मार्ग का निर्देश करते हुए भगवान महावीर ने ७२ वर्ष की अवस्था में आज के २५६० वर्ष पहले बिहार की "पावानगरी" में निर्वाण प्राप्त किया ।

श्री प्रवीणचंद्र जैन
प्रिंसिपल डूंगर कालेज, बीकानेर

जैनधर्म के प्रति एक दृष्टि

> इस संस्कृति के निर्माण में भारत के सभी धर्मों का चाहे वे इस देश की और चाहे वे विदेश की उपज हैं, परम प्रशंसनीय योग रहा है। सभी धर्मों ने मानव के चरित्र को पावन से पावनतम एवं प्रशस्त से प्रशस्ततम बनाया है। धर्मों के इस अनुदान से न केवल मानवों की अपितु प्राणीमात्र की मूलभूत एकता का दर्शन हुआ है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने जैन धर्म पर आधुनिक दृष्टि से विचार व्यक्त किया है।

भारतीय संस्कृति की लम्बी कहानी है। यह ऐसी कहानी है जिसे पढ़ कर किसी भी विचारवान् मानव का सिर गौरव से उन्नत हो सकता है, कोई भी भावुक उसके प्रति श्रद्धावनत हुए बिना नहीं रह सकता। आरम्भ से लेकर अब तक की इस कहानी में मानवमात्र के सुन्दर विचारों और लोक हितकारी कामों को यथेष्ठ आदर मिला है। निर्भयता के साथ विचारों को प्रस्तुत करने की तथा निरंकुशता के साथ कर्म करने की जो स्वतन्त्रता मानव को है उसे यहां पूरा प्रश्रय मिला है। इसीलिए भारतीय संस्कृति त्याग-प्रधान, सहिष्णुता-प्रधान तथा समन्वय प्रधान है। इन गुणों के कारण इस संस्कृति का विशिष्ट स्वरूप है। उद्भ्रान्त एवं पथ-भ्रष्ट मानव को इससे सदा ही सम्बल मिला है। उसके मन में निराशा के स्थान पर आशा का संचार हुआ है। कल की गलती को उसने आज निःसंकोच भाव से मान लिया है, और आगे के लिए उसकी प्रगति का, विकास का, द्वार खुल गया है।

इस संस्कृति के निर्माण में भारत के सभी धर्मों का चाहे वे इस देश की और चाहे वे विदेश की उपज हैं, परम प्रशंसनीय योग रहा है। सभी धर्मों ने मानव के चरित्र को पावन से पावनतम एवं प्रशस्त से प्रशस्ततम बनाया है। धर्मों के इस अनुदान से न केवल मानवों की अपितु प्राणीमात्र की मूलभूत एकता का दर्शन हुआ है। देश और काल की सीमाओं से अतीत तात्विक एकता, समता तथा बन्धुत्व की भावना के प्रकाश में भौतिकता के तम से पराभूत मानव को एक दिशा मिली है। नर-भव की उच्चता की स्थापना हुई है। दिव्य एवं दानवीय प्रवृत्तियों पर अंकुश रख कर मानव उस सुख का अधिकारी हुआ है जिसे परमानन्द, निर्वाण, मुक्ति आदि नामों से बार-बार अभिहित किया गया है।

आज मैं जैन धर्म के अनुदान को अन्य धर्मों के समन्वय प्रधान परिवेष में प्रस्तुत करना चाहता हूं। इन पंक्तियों को लिखते समय मेरे मन में जैन धर्म की उच्चता का अथवा अन्य धर्मों की हीनता का भाव अणुमात्र भी नहीं है। हां, यह भाव तो अवश्य है कि जिस प्रकार अन्य धर्मों ने मानवता का उपकार किया, उसी प्रकार जैन धर्म ने भी अपना महत्वपूर्ण योग मानवीय गुणों के विकास-कार्य में दिया है। इस धर्म के सिद्धान्तों में भी वही जीवन-तत्व प्रतिष्ठित है जो अन्य धर्मों में है। जैन धर्म स्वयं स्याद्वादनय के सहारे दूसरे धर्मों के वैशिष्ट्य को मानता रहा है। जीवन के भौतिक रूप तो अपनी अपनी आवश्यकताओं और मर्यादाओं के अनुसार प्रायः सभी देशों में अलग-अलग रहे हैं, और इस पार्थक्य के कारण शाखाओं तथा सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। शाखाओं तथा सम्प्रदायों में जो अनिष्ठता अथवा संकीर्णता होती है

उसका दर्शन जैन सम्प्रदायों और उनकी शाखाओं में भी निरन्तर देखा जा सकता है। यह एक तथ्य है, इससे मैं इनकार नहीं करता बल्कि यह कहना चाहता हूं कि यह तो स्वाभाविक है, नहीं होना एक अस्वाभाविकता है, जो चल नहीं सकती। पर जैन तीर्थंकरों और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने जहां जीवन के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उसके विकास की बात कही है, उनकी दृष्टि प्रायः व्यापक ही रही है। ऐसा करते समय उन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति देश और काल के अथवा समाज या वर्गों के आरोपित बन्धनों को स्वीकार नहीं किया है।

पहले जैनों के प्रार्थना-मन्त्र को ही लें। इसे हम णमोकार मन्त्र कहते हैं। इसका जप मन्त्र की तरह किया जाता है। शक्ति-संग्रह के लिए इस मन्त्र में हमारी पूर्ण निष्ठा अभिव्यक्त होती रही है। इस मन्त्र में सिद्ध से लेकर साधक तक की कोटियों के सारे विकास-मार्ग के पथिकों के लिए नमस्कार हैं। विकास की चरम स्थिति को प्राप्त स्थित प्रज्ञ योगिराज अर्हंत् कहलाते है, वे स्वयं तो प्रबोधमयी स्थिति में रहते ही हैं, दूसरे प्राणियों को भी विकासोन्मुख करते हैं। उनकी देशनाएं धर्म-चक्र को प्रवर्तित करती रहती हैं। दूसरी स्थिति होती है सिद्धों की जिन्होंने अपने चरम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लिया है। वे स्वयं देशना नहीं देते, किन्तु उनके गुणों का चिन्तन मानव के लिए आगे बढ़ने में स्फूर्तिमयी प्रेरणा का रूप धारण कर लेता है। तीसरी स्थिति में वे साधक आते हैं जो अर्हंत एवं सिद्ध के आदर्श को अपने सामने रखते हुए ज्ञानाचार आदि पांच आचारों को व्यवस्था के साथ लोक के समक्ष उसके हित की दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। अपने ज्ञान और अनुभव की साक्षी में सिद्धांतों को भाषा देते हैं। चौथी स्थिति उन साधकों की होती है जिनमें आचार्यों के आप्त वासी समाविष्ट होते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। ये उपाध्याय अर्हंत्-प्रतिपादित और आचार्य-सिद्धान्तित धर्म के स्वरूप को समझते और फिर उसकी व्याख्या करते हैं। इनका मुख्य कार्य अपने संघ स्थित मुनियों को नाना विध वाङ्मय का अध्ययन कराना है। पांचवीं स्थिति भी साधकों की ही है। इस स्थिति में शेष समस्त साधुजन आते हैं जो अपने विकास के साथ साथ लोक के विकास में प्रवृत्त हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व-साधुओं को जो नमस्कार किया गया है, उसमें उन सारे व्यक्तियों के प्रति विनति का भाव है जो विकास में आस्था रख कर प्रगति के साथ आगे बढ़ रहे हैं या सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं। समाज में 'सु' का प्रतिष्ठापक संपूर्ण जीवन-तत्त्व इन पांच स्थितियों में समाहित है। इस मन्त्र में व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, संप्रदाय विशेष का आग्रह नहीं है, तथा विकास के अतिरिक्त अन्य किसी कामना या एषणा के इसमें कहीं संकेत नहीं है। सब स्थानों में ऐसे सिद्धों और साधकों का महान् व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुआ है, और होता रहेगा। जैनों का यह महामन्त्र सर्व धर्म समभाव को लिए हुए है और इसमें विनय की चरम अभिव्यक्ति हुई है। यह मन्त्र किस को ग्राह्य नहीं होगा ? कौन इसका जप नहीं करना चाहेगा ?

मुक्ति का सिद्धान्त सभी धर्मों को मान्य है। वैदिक एवं उत्तर वैदिक धर्मों में अहङ्कार के विलय को मुक्ति कहा गया है, चाहे वह ज्ञानमार्ग से हो, चाहे भक्ति मार्ग से। गीता ने इस स्थिति को स्थित प्रज्ञता की संज्ञा दी और उसकी प्राप्ति के लिए अनाशक्ति-योग का, कर्म-योग का, उपदेश दिया। एक व्यापक चिर-तत्व की अनुभूति को विभिन्न रूपों में वैदिक धर्मों में अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं शेष सभी साधुओं ने कहा, गाया और अपने अपने कर्मों में उसकी अवतारणा की। इस्लाम की मुक्ति का आदर्श भी ईश्वर की सर्व व्यापक एवं सर्वोच्च सत्ता के स्वीकार में ही निहित है। जो ईश्वरीय नियमों को पहचानकर उनका पालन करता है, वह ईश्वर के सान्निध्य को पाता है, ईश्वर ही हो जाता है। व्यापक तत्व का यह साक्षात्कार ईश्वर ही का साक्षात्कार है, और साक्षात्कार ही मुक्ति है। यहूदी लोग भी यही मानते आये हैं। जैसे शरीर में आत्मा का अधिवास है, वैसे ही ईश्वर में ईश्वर का। जैसे आत्मा का स्वभाव अमूर्त होते हुए व्यापकता है, वैसे ही ईश्वर का स्वरूप भी अमूर्त एवं सर्वव्यापक है। इस व्यापकता की अनुभूति ही मुक्ति है।

बौद्ध जब अपने आपको ब्रह्म, महाब्रह्म और सर्वोच्च कहता है तो इसका अर्थ भी व्यापकता की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया जा सकता। सिखों का अकाल ब्रह्म रूपवान होते हुए भी रूपातीत है। वह सर्वोच्च है, सर्वातीत है। यहां भी व्यापकता की अनुभूति ही मुक्ति है। इसी व्यापकता की अनुभूति को जैनधर्म में भी निर्वाण कहा है। आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख आदि अपने स्वरूप को प्राप्त होना ही तो मुक्ति है। यह अनन्तता क्या है? यदि हम गहराई से देखें तो यह भी एक प्रकार से व्यापकता की ही अनुभूति है। अनन्तता की उपलब्धि, अथवा उसका भान, बन्धनों से मुक्त होने पर ही होता है। कर्म-बन्धन से मुक्त होना ही तो मोक्ष है।

अत: मानव-जीवन का उद्देश्य थोड़े हेर-फेर से प्राय: सभी धर्मों में एक ही है। जैनधर्म ने भी मोक्ष अथवा व्यापकता की अनुभूति को ही परम पुरुषार्थ कहा है।

इसी व्यापकता का दर्शन मानव मात्र को अपना बंधु मानने से आरम्भ होकर समस्त चित्-तत्व को अर्थात् प्राणि मात्र को अपना बन्धु मानने की अवस्था तक होता रहता है। इसके आगे तन्मयता की स्थिति होने से ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। मिट ही जाना चाहिए। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है तुम में कौन ऊंचा और कौन नीचा? इसलिए सब मिलकर यत्न करो, समृद्धि को पाओ। उपनिषदों में एक ही विश्वात्मा को नाना शरीरों में विभक्त कहा गया है। पुराणों में विश्वात्मा को सर्वोच्च मानकर समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम-भाव फैलाने का उपदेश दिया है। हितोपदेश का नीतिकार समस्त वसुधा को एक कुटुम्ब मानता है। मुहम्मद साहब का कहना है—याद रखो कि तुम सब भाई-भाई हो। सारे मानव ईश्वर की दृष्टि में समान हैं। बाइबल में मानव-जाति को ईश्वर की प्रतिकृति अथवा प्रतिमूर्ति कहा है। यहूदी कहते हैं—मानव मात्र का पिता एक है। वही सब का सर्जक है। तो फिर, एक भाई दूसरे भाई के साथ विश्वास-घात क्यों करे? सिखों की गुरुवाणी है—राष्ट्रीयता व्यर्थ की चीज है, नामों का भेद व्यर्थ है। तथ्य तो यह है कि सारे प्राणियों का मूल एक है। शिन्तो धर्म वाले कहते हैं—सारे मानव भाई हैं। सब को एक ही ईश्वर से वर मिलते हैं। इस संसार में कोई पर नहीं है। विश्वबन्धुत्व का यही भाव जैनधर्म को भी मान्य है। जब जीव किसी भी योनि को धारण कर सकता है, जब उसका लक्षण एक है तो फिर भेद-भाव कैसा? आदि पुराण के इस कथन में ऊपर जो कुछ कहा गया उसका मानो सार है—समता की भावना रखकर अपना कर्तव्य करो। वही कार्य सर्वोत्तम है जिससे समस्त आत्माओं की समता प्रतिष्ठित होती है। मानवता तो एक ही है, जाति, वर्ग तथा वर्ण आदि के भेद कृत्रिम हैं, नश्वर हैं।

विश्व-बन्धुता का सहायक तत्व है हृदय में उत्पन्न होने वाला प्रेम-भाव। भाव से ही सेवा की उत्पत्ति होती है। भावना कर्म की जननी है, और श्रेष्ठ कर्म वह है जो कर्ता को विनय शील बनावे और जिसके लिए वह किया गया है उसे वह अधिकाधिक ग्राह्य हो। इस प्रकार प्रेम और सेवा विश्व-बन्धुत्व के ही दो पक्ष हैं। सभी धर्मों ने इन पक्षों को मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। महर्षि व्यास ने कहा है-जो समस्त प्राणियों का मित्र है और जो मन, वचन और कर्म से उनके हित में रत है, वही धर्म के रहस्य का ज्ञाता है। अथर्ववेद का यह कथन कितना प्रेरणा मय है—हम आपस में प्रेम भाव रखें, आपस में प्रियवचन कहें। इससे हमारा जीवन मधुर होगा और हम सब अपने दुखों और सुखों को बांट लेंगे। श्री कृष्ण ने गीता में कहा है—जो किसी भी प्राणी के प्रति घृणा का भाव नहीं रखता, सब के प्रति मित्रता का भाव रखता है, दयालु है, वही मुझे सर्व प्रिय है। इस्लाम मानता है, ईश्वर की समस्त सृष्टि उसका परिवार है। जो व्यक्ति इस परिवार से प्रेम करता है, उसकी सेवा करता है, वही तो उसका प्रिय है। ईसा मसीह ने कहा था-हृदयों को जीतने का उपाय प्रेम है, और प्रेम के प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन है मानवमात्र की सेवा। गुरु नानक का कहना है-जीवन तो उसी का है जो प्रेम करता है। शरीर भी वही सार्थक है जो मानवता की सेवा में काम

आता है। कबीर माला, जप, जोग आदि की उसके लिए आवश्यकता नहीं समझते जिसका जीवन प्रेममय है, सेवामय है, त्याग और वैराग्यमय है। यहूदियों के धर्म ग्रन्थ में लिखा है–धर्म का सार है प्रेम, और कर्म का सार है सेवा। धम्मपद का सन्त कहता है वही मानव सुखी है जो विश्व में सब को प्यार करता है। जो भी उसके सम्पर्क में आता है उसकी सेवा करता है। प्रियदर्शी अशोक पूछते हैं—धर्म क्या है ? स्वयं ही उत्तर देते हैं--परहानि से विरत रहना, परोपकार में रत होना, प्रेम, दया, सत्यता तथा स्वच्छता, इन भावों को जीवन में उतारना। प्रेम और सेवा की महत्ता को जैनधर्म में भी पूर्णत: प्रतिष्ठित किया गया है। प्राणि मात्र के प्रति मैत्रीभाव को जीवन के सभी व्यवहारों की आधार--शिला कहा गया है। यदि अपने जीवन के दान से भी किसी का लाभ हो सके तो मानव को अपना जीवन सहर्ष दे देना चाहिए।

बाइबल में आचरण के विषय में एक सुनहरा नियम है–वह यह कि मानव अपने पड़ोसियों से उसी प्रकार प्रेम करे जैसा वह स्वयं से करता है, और उनके साथ वैसा ही आचरण करे जैसा वह अपने प्रति दूसरों से चाहता है। आचरण के सम्बन्ध में इससे उत्तम मापदण्ड प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। महाभारत में कहा गया है कि जो बात तुम्हें प्रतिकूल लगे वह बात तुम दूसरे के प्रति मत करो। मुहम्मद साहब का कथन है—सर्वश्रेष्ठ धर्म है, जिसे तुम अपने लिए प्रिय समझो उसी का आचरण दूसरों के लिए करो। जो तुम्हें दुखदायी है, वह दूसरों के लिए भी वैसा ही है। यहूदियों का यह कथन मर्मस्पर्शी है, तुम यह चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ अमुक प्रकार का व्यवहार न करें, तब तुम उनके साथ क्यों वैसा व्यवहार करते हो ? उदानवर्ग में आता है, जिससे तुम्हें कष्ट पहुंचता है, उससे तुम भी दूसरों को कष्ट मत दो। गुरु अंगद ने अपने शिष्यों से कहा था, तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी करो। मत करो वह काम, जिसे तुम अपने लिए ठीक नहीं समझते। कनफ्यूशस का यह वाक्य स्मरणीय है—दूसरों के प्रति तुम वह काम न करो जिसे तुम अपने प्रति किया जाना पसन्द नहीं करते। अगर तुमने प्रतिकूल आचरण किया तो निश्चय ही तुम्हारा व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक (सामाजिक) जीवन संकटपूर्ण हो जायगा। अरस्तू ने भी अंगद की भांति अपने शिष्यों से कहा था, अपने मित्रों के साथ तुम्हें वैसा ही आचरण करना चाहिये जैसा तुम उनसे चाहते हो। इस सारी पृष्ठभूमि में जैनधर्म के इस वाक्य को देखा जा सकता है—सुख में, दुख में, हर्ष में, विषाद में हमें सारे जीवों को अपनी स्वयं की साक्षी में देखना चाहिये, तभी हम दुराचरण से बच कर दूसरों को उस दुख से बचा सकेंगे जो यदि हम पर घटित होता तो हमें दुखी बनाता।

अहिंसा और क्षमा का प्रतिपादन सभी धर्मों ने किया है। इनका स्थूल से स्थूल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन मानव ने अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार किया है। यदि अहिंसा एक भाव है तो क्षमा तज्जनित एक कर्म है। मानव मात्र के लिए अहिंसा एक संक्रामक भाव है। कोई उसके अनुभाव से बच नहीं सकता। महाभारत में अहिंसा को उच्चतम कर्तव्य माना गया है। उससे भी पहले वेदों में कहा गया था, हिंसा का जवाब हिंसा से न दो। प्रहार और अभिशाप पाकर भी शुभ कामनाओं की वर्षा करो। इस्लाम धर्म में कहा गया है कि सच्चा मुसलमान वही है जिसके वचन और कर्म की मधुर एवं शीतल छाया में मानवता सुरक्षित है। अब्दुल्ला अन्सारी ने कहा था, तुम फूल बनो, कांटा नहीं; तुम मित्र बनो, शत्रु नहीं। एक बार ईसा मसीह अपने कुछ शिष्यों के साथ एक ऐसे व्यक्ति के पास से गुजरे जो उन्हें देखते ही जोर जोर से गालियां देने लगा। जीसस ने जवाब में केवल यही कहा, ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि दे।' तुम्हारा भला करे। शिष्यों ने आश्चर्य से गुरुदेव की ओर देखा और पूछा, इसने तो आपको गालियां दीं, आपने उसे आशीर्वाद क्यों दिया ? मसीह ने हंसकर संक्षेप में कहा—जिसके पास जो होता है वही तो वह दे सकता है। क्षमा का यह उदाहरण कितना मर्म स्पर्शी है। बुद्ध ने एक बार कहा था, घृणा से घृणा नहीं हटती, क्रोध से क्रोध नहीं हटता उसका शमन तो अहिंसा से ही होता है। गुरु अर्जुन ने

अपने शिष्यों से कहा, यदि तुम वास्तविक सुख चाहते हो तो किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। जापान में एक कहावत है, तुम उस वृक्ष के समान बनो जो उसे हिलाने वाले के हाथों को फूलों से ढंक लेता है। महात्मा गांधी का जीवन तो अहिंसा के, क्षमा के प्रयोगों से भरा पड़ा है। इस सबसे हम यह अनुमान करते हैं कि अहिंसा और क्षमा की महिमा सर्वत्र गायी गयी। अहिंसा के प्रति अहिंसा अथवा क्षमा के प्रति क्षमा का व्यवहार भी एक बड़ी बात है, और उससे भी बड़ी बात है अहिंसा के वातारण में, क्रोध और रोष की लपटों से चारों ओर घिरा हुआ मानव सब कुछ सह जाय और जवाब में मुसकुरा कर कह दे, भाई, खुश रहो। शान्त होकर देखो हिंसा के अतिरिक्त और भी बहुत से काम हैं जिन्हें तुम कर सकते हो। जैन धर्म तो अहिंसा का ही धर्म कहलाता है। दुनियां ने उसे इसी रूप में जाना पहचाना है। सच तो है यह। इस धर्म में अहिंसा की जीवन-व्यापी समीक्षा है। भगवान महावीर ने कहा था, मन, वचन अथवा कर्म से या तीनों से की गयी, करायी गयी अथवा अनुमोदित हिंसा से दूर रहो। इसके लिए संयम का अभ्यास करो। तुम देखोगे कि तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ा है। और जिसने तुम्हारा बिगाड़ किया है वह भी अपने किये पर पछता रहा है और उसने अपना मार्ग बदल लिया है। अहिंसा ही तो वह सर्वश्रेष्ठ भाव है जिसे परमानन्द या ब्रह्मानन्द कहा गया है। एक सूत्र में मानव की इस भावना को बड़ी सुन्दरता से कहा गया है—मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं :(उनके अस्तित्व को स्वीकार करता हूं), वे भी मुझे क्षमा करें (मेरे अस्तित्व को सहन कर लें)। (सह अस्तित्व को स्वीकार कर लेने के कारण) मेरे मन में सब के प्रति मैत्री भाव है, किसी के प्रति मेरी शत्रुता नहीं है। यदि जरा ध्यान से देखेंगे तो समझ में आ जायगा कि अहिंसा और क्षमा एक ही बात को कहने के दो शब्द हैं, वस्तुत: वे एक ही हैं। यह भी कह सकते हैं कि अहिंसा माता है और क्षमा उसकी पुत्री है और अहिंसा में ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

सदाचार के ऐसे अनेक पहलू और हैं जिनका वर्णन सभी धर्मों में मिलता है। ऊपर तो कुछ उदाहरण ही प्रस्तुत किये जा सके हैं। इससे धर्मों के प्रति आदर भाव उत्पन्न हो सकता है। मैं तो केवल यही कहना चाहता हूं कि सभी धर्मों में मानव को ऊंचा उठाने की क्षमता है।

अब केवल जैन धर्म के ही सम्बन्ध में एक दो बातें और कहना चाहता हूं।

जैन धर्म ने जिसे मोक्ष कहा, उसको पाने का मार्ग भी बड़ा प्रशस्त बताया। उसे मुझ जैसा अल्प-बुद्धि मानव भी इस तरह समझ लेता है। पहले यह संकल्प करो कि जो कुछ तुम करोगे अच्छा करोगे। सत्-संकल्पी बनो। संकल्प करते ही तुम्हारे सामने भले और बुरे सभी प्रकार के प्राणी आ जायेंगे जिनके प्रति तुम्हें आचरण करना है। तुमने यह तय किया है कि जो कुछ करोगे अच्छा ही करोगे। इसलिए यह जरूरी हो जायगा कि 'कु' और 'सु' में विवेक करो। यह पता लगाओ कि अमुक परिस्थिति में तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस बात का ध्यान रखो कि परिस्थिति कैसी भी हो जो कुछ भी तुम करोगे अच्छा ही करोगे। यह विवेक तुम तभी कर सकते हो जब तुम्हारी दृष्टि शुद्ध हो और उसका प्रयोग तुम्हें भली प्रकार आता हो। शुद्ध दृष्टि की सही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब तुम्हें पता चल जाय कि अमुक आचरण करणीय है, और अमुक नहीं, तो फिर आचरणीय कर्म की गहराई में प्रवेश करो। गहराई में जाना पहले कठिन था, पर शुद्ध दृष्टि से आचरणीय कर्म को तुमने चुना है, इसलिए अब तुम्हारे सामने कठिनाई नहीं रही। गहराई में पैठकर तुमने उस कर्म का सर्वाङ्ग निरीक्षण कर लिया तो समझो वह तुम्हारा सम्यग्ज्ञान है। इसके बाद तुम्हारा जो अगला कदम होगा उस कर्म का योजना पूर्ण आचरण, अर्थात् सम्यक् चारित्र। दर्शन, ज्ञान और चारित्र, तीनों के साथ सम्यकत्व जो जुड़ा हुआ है वही तुम्हें अनाशक्ति, निवृत्ति अथवा कर्मफल से नि:सङ्गता दिलाने वाला है। अनाशक्ति, निवृत्ति, अथवा नि:सङ्ग का चरमोत्कर्ष ही तो मोक्ष है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से प्राप्त सम्यकत्व तुम्हारे जीवन को सफल कर

देखा। यदि तुमने भौतिकता के बीच भी यह दृष्टि देखी तो भी वह तुम्हारे काम की है, क्योंकि, आखिरकार, सारे रास्ते एक ही जगह तो आकर मिलते हैं। वहीं तुम पहुंच जाओगे जहां सारे धर्म तुम्हें ले जाना चाहते हैं।

जैन धर्म का अनेकान्तवाद भी समझने की चीज है, इसलिए कि इससे दृष्टि शुद्ध होती है। मानव अपनी सीमाओं में आबद्ध है। उसके देखने, सुनने, सूंघने, चखने छूने और समझने, कहने और करने आदि में एक काल में किसी वस्तु का कोई एक ही, शायद उसका भी एक अंशांशमात्र ही स्वरूप तो जाना जा सकता है। फिर तुम ही अकेले व्यक्ति नहीं हो जो उस स्वरूप का परिचय देते हो। जिस तरह तुम अपनी जगह सच्चे हो दूसरा भी तो अपनी जगह सच्चा है। यदि वह तुम्हारी बात नहीं समझता, या वह तुम्हारे कथन के विपरीत भी कहता है तो भी तुम्हें शान्ति से उसे सुनना चाहिये, उसकी परिस्थिति या दृष्टि को समझना चाहिये जो वैसा कहने में कारण बन रही है। जब तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें जरूर यह जान पड़ेगा कि वह कहता तो ठीक है। अमुक अपेक्षा से या अमुक परिस्थिति में ऐसा भी हो सकता है। तब तुम यह भी देखोगे कि उसने भी तुम्हारी बात को सुनी और समझा है। जिस तरह उसकी बात को सही परिवेष में तुमने समझा और यदि आवश्यक हुआ तो तुमने उसका आचरण भी किया, उसी प्रकार वह भी कर सकेगा, यह बिलकुल स्वाभाविक है। इसी का नाम स्याद्वाद है और इसी दृष्टि से किसी वस्तु के अनेक पक्षों का ज्ञान संभव है। स्वतन्त्र मानव के लिए इस दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता है। उसकी स्वतन्त्रता की स्थायिता का रहस्य इसी दृष्टि में निहित है। स्पष्ट है कि इसी दृष्टि से सहिष्णुता का भाव बढ़ता है और मानव और मानव के बीच सत्सम्बन्धों की प्रतिष्ठा हो सकती है।

अन्तिम दो अनुच्छेदों में मैंने 'तुम' का प्रयोग पाठकों की साक्षी में अपने लिए किया है। मैं जानता हूं कि यह सारा लेख एक अधूरा वाक्य है, जो शायद मुझसे कभी पूरा न होगा। इस अधूरे वाक्य के द्वारा मैं यही कहना चाहता हूं कि जैन धर्म विश्व के समस्त धर्मों का सहयोगी धर्म है, इसका भी मानवता को अपने स्तर पर लाने या स्थिर रखने में महत्व पूर्ण योग है। इसके प्रकाश से भी मानवता धन्य हुई है।
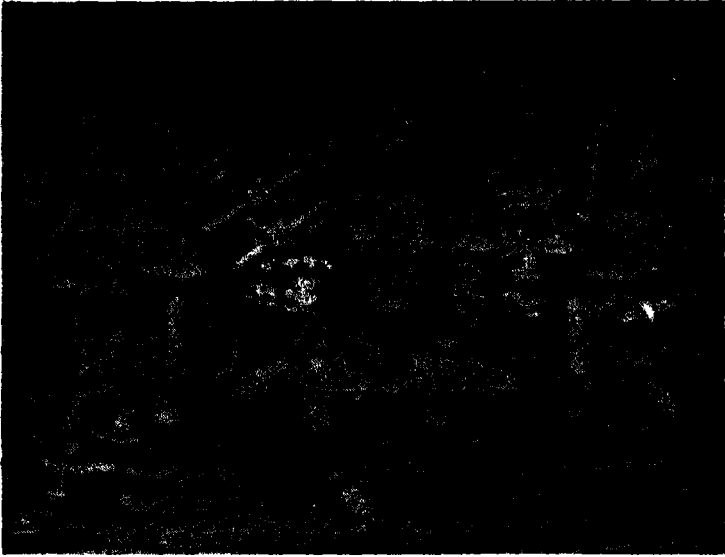
जैन मन्दिर माउन्ट आबू में दीवारों पर सुन्दर मूर्तियां

देलवाड़ा जैन मन्दिर माउन्ट आबू का एक भीतरी दृश्य

डा० मोहनलाल शर्मा

एम. ए. एम. लिट. पी-एच. डी.

जैन धर्म और दर्शन

जैन धर्म का प्रादुर्भाव सुदूर अतीत में लुप्त है। यहां तक कि ऋग्वेद के मंत्रों में जैन धर्म के दो तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। इन दो तीर्थंकरों में प्रथम तो इस धर्म के संस्थापक ही माने जाते हैं। ये थे स्वामी ऋषभदेव। वेदों में ही क्यों, स्वामी ऋषभदेव का उल्लेख तो विष्णु पुराण और भागवत पुराण में भी मिलता है। ये पुराण तो इन्हें विष्णु का ही अवतार मानते हैं। ऋग्वेद में जिन दूसरे संत का उल्लेख मिलता है वे हैं भगवान अरिष्टनेमि। ये भी जैनधर्म के तीर्थंकर ही थे। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म उतना ही पुराना है जितना वैदिक धर्म। जिस धर्म की प्राचीनता इतिहास के सुदूर गर्भ में लुप्त हो, उसके ऐतिहासिक पहलू पर कुछ विस्तार से निस्संकोच होकर कहना कठिन ही प्रतीत होता है, किन्तु इससे जन-विश्वासों पर आधारित तथ्यों की असत्यता कदापि सिद्ध नहीं होती है, इसलिए जैनधर्म के २३ तीर्थंकरों के साथ जो जो घटनाएं जनमानस ने संबद्ध कर रखी हैं, वे उन मूल तथ्यों की ओर प्रेरित करती हैं जिन पर आधारित होकर जैन धर्म का सिंहासन अब तक स्थिर बना रहा। २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी तो महान् ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं। इन्होंने जनता के समक्ष तप-साधना का जो आदर्श रखा वह वस्तुत: अनुपम है। वैसे तो विद्वानों ने तेईसवें तीर्थंकर स्वामी पार्श्वनाथ जी को भी ऐतिहासिक व्यक्ति घोषित किया है, किन्तु महावीर स्वामी के अदम्य साहस, आत्म बलिदान, तथा जन कल्याण की भावना से मानव हृदय गद्गद् हो उठता है।

महावीर स्वामी ने स्वयं ही अपनी समस्त सम्पत्ति को ठुकरा दिया था। त्याग और आत्मोत्सर्ग पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए उन्होंने जिन धर्म तत्वों को प्रसारित किया वे त्रिकालाबाधित सत्य हैं। आज भी उनकी मौलिकता ज्यों की त्यों बनी हुई है। उनकी महत्ता विज्ञान के विपुल एवं चकाचौंध करने वाले प्रकाश में भी नष्ट नहीं हो सकती।

> **मूलत: अहिंसा जैन धर्म का वह मूल मंत्र बन गई जिससे इस धर्म में नवीन उद्‌भावनाएं आईं और वह समाज के सम्मुख एक देदिप्यमान दर्शन के साथ उपस्थित हो गया जिसे साधारण जन से लेकर प्रकांड पंडितों तक ने सहर्ष गले लगाया। और तो और यह महलों में पलने वाले राजाओं का भी आकर्षण केन्द्र बन गया।**

अहिंसा का दिव्य प्रकाश तो उन्हें ऐसा मिल गया था जिसका सहारा लेकर पूज्य बापू तक ने विश्व विजय कर लिया था। महावीर स्वामी ने जीव और अजीव ऐसे दो तत्वों का उपदेश दिया है। इन्हीं से विश्व का निर्माण होता है। उनका तत्वज्ञान द्वैतवादी था। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में दो अंशों का समावेश माना गया है—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक तत्व नश्वर तथा दूसरा तत्व शाश्वत और विकासशील होता है। उन्होंने आत्मा पर लगे हुए बन्धन को स्वीकार किया है, यह बन्धन प्रारब्ध का होता है। पूर्व जन्म में जिस प्रकार की भी वासनाएं और अभिलाषाएं होती हैं, उनका गहरा प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, वासनाएं जितनी

कम होंगी, आत्मा पर लगा हुआ बन्धन उतना ही शिथिल होगा। इन्हीं सिद्धान्तों के संदर्भ में महावीर स्वामी ने यह प्रतिपादित किया था कि आत्मा के बन्धनों को हटाने के लिए वासनाओं को नष्ट करना चाहिए तथा उसे निर्मल निष्पाप बनाने के लिए जहां तक भी हो सके अभिलाषाओं का त्याग करना चाहिए। उनके अनुसार आत्मा अथवा जीव की मुक्ति क्या है ? बस कर्म की शक्तियों का विनाश। इसका मूल उपाय कषायों एवं वासनाओं का दमन करना है। इससे पूर्व के संचित कर्म शनैः शनैः नष्ट हो जायेंगे। कर्मों के नष्ट होने के साथ ही साथ आत्मा के गुणों का विकास होगा, और वह पूर्ण आभा और अनन्त महानता को प्राप्त करके भव्य और देदिप्यमान हो जायगा।

महावीर स्वामी ने गृहस्थ तथा परिव्राजक साधुओं के लिए नैतिक नियमों का निर्धारण किया था। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है, जिसके लिए उसे नये कर्म नहीं करना चाहिए, साथ ही पूर्व के संचित कर्मों को भी नष्ट करना चाहिए। व्यक्ति यदि गृहस्थ आश्रम का पालन कर रहा है तो उसे पांच प्रतिज्ञाएं माननी पड़ती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इनसे उसके आचार विचारों में संयम आता है। इसी को सम्यक व्यवहार कहते हैं।

महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित मत को वैदिक धर्म से पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता था, किन्तु फिर भी उसका विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। उसका कारण था उनके मत में अनुभूति–जन्य सरलता तथा नवीन उद्–भावनाएं। वैदिक धर्म ने किसी शक्ति विशेष को इस समस्त विश्व का सृष्टा समझा तथा यह विश्व उसी सत्ता के द्वारा नियंत्रित माना गया। महावीर स्वामी यह मान कर चले कि विश्व का सृजन नहीं हुआ और न कोई सर्वोपरि सृष्टा ही है। उनके अनुसार ईश्वर 'उन शक्तियों का उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्ति–करण है जो मनुष्य की आत्मा में निहित होती है।' सब जीवों में समान शक्ति होती है। प्रयत्न करने पर कोई भी मुक्तात्मा बन सकता है और वही ईश्वर या परमात्मा कहलाता है। महावीर स्वामी ने वैदिक कर्म काण्डों का घोर विरोध किया। कर्म कांडियों का प्रभुत्व समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ था और जन–कल्याण के लिए ही नहीं आत्मा के विकास पर भी एक घोर पाबन्दी के रूप में वह सम्मुख उपस्थित हो रहा था। वैदिक क्रिया विधियों के द्वारा न तो हृदय की पावनता का विचार किया जाता था और न आत्मा की शुद्धि का ही। मोक्ष प्राप्ति के लिए कठोर तप और संयम जैसी कोई बात महावीर को वहां प्राप्त नहीं हो सकी। इसी कारण उन्होंने तप और संयम तथा नैतिक सदाचरण पर पूरा बल दिया।

जैन धर्म की मूल आत्मा है अहिंसा। अहिंसा केवल शरीर से ही नहीं मन से भी आवश्यक होती है। किसी अपावन विचार को मन में लाना हिंसा के अन्तर्गत आता है। अहिंसा के शारीरिक और मानसिक पक्षों से उसका अतीव विस्तार हो गया। इन्द्रियों के द्वारा किसी अपवित्र भाव को मस्तिष्क तक ले जाना हिंसा के अंत–र्गत समाविष्ट हो गया। अहिंसा की रक्षा के लिए ही इन्द्रिय निग्रह आवश्यक माना गया। ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति जिससे दूसरों को कष्ट का आभास हो, हिंसा है। अतएव अहिंसा जीवन का वह पहलू बन गया जिससे जीवन नियंत्रण और सुखी तो बने ही, साथ साथ इससे कैवल्य की भी प्राप्ति हो सके। कर्मों के बंधन से छुटकारा पाने के लिए अहिंसा अनिवार्य हो गई। मूलतः अहिंसा जैन धर्म का वह मूल मंत्र बन गई जिससे इस धर्म में नवीन उद्भावनाएं आईं और वह समाज के सम्मुख एक देदिप्यमान दर्शन के साथ उपस्थित हो गया जिसे साधा–रण जन से लेकर प्रकांड पंडितों तक ने सहर्ष गले लगाया। और तो और यह महलों में पलने वाले राजाओं का भी आकर्षण केन्द्र बन गया।

———

डा० कैलाशचन्द्र जैन
एम. ए. पी-एच. डी, अजमेर

नरेणा का इतिहास

> नरेणा राजस्थान में फुलेरा जंक्शन से करीब बारह मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत प्राचीन है तथा ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में समृद्ध अवस्था में था। इस लेख में विद्वान् लेखक ने नरेणा के इतिहास पर प्रकाश डाला है।

नरेणा राजस्थान में फुलेरा जंक्शन से करीब बारह मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत प्राचीन है तथा ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में समृद्ध अवस्था में था। शिलालेखों और साहित्य में इसके प्राचीन नाम नरानयन,[1] नराण[2] और नराणक[3] मिलते हैं। इस पर सांभर और अजमेर के चौहानों का राज्य था। उस समय यह सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान समझा जाता था। ११७२ ई० में पृथ्वीराज तृतीय ने यहां पर अपना सैनिक कैंप (पड़ाव) डाला था।[4] इसका सैनिक महत्व राणा कुंभा के समय (१४३३-६८) तक चलता रहा। वह इसको प्रसिद्ध किलों में उल्लेख करता है जिसको कि जीतना व तोड़ना बड़ा कठिन है।[5]

नरेणा पर प्रारम्भ में मुसलमानों के आक्रमण हुए जान पड़ते हैं। १००६ ई० में महमूद गजनी ने नरायणा पर आक्रमण किया। यहां का राजा बड़ी बहादुरी से अपने देश की रक्षा के लिए लड़ा किन्तु उसकी हार हुई। सुल्तान ने बुरी तरह से यहां की मूर्तियों को तोड़ा तथा बड़ी लूटमार करके गजनी को लौट गया। प्राचीन समय में व्यापार की दृष्टि से भी इसका महत्व था क्यों कि इसका व्यापार भारत के कोने कोने तथा विदेशों से होता था। प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम ने इस स्थान को अलवर के पास वाला नराणपुर बतलाया है। अन्य विद्वानों ने भी इसको स्वीकार कर लिया है[6] किंतु यह विचार ठीक नहीं ज्ञात होता है। अलवर के पास वाला नरायणपुर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में नरायण के नाम से प्रसिद्ध नहीं था। इसके विपरीत नरेणा प्राचीन समय में नरायण के नाम से विख्यात था। यह नगर उस समय समृद्धिशाली था तथा यहां धनी व्यक्ति बसते थे। यहां पर जमीन से निकली हुई दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्तियां इस बात को सिद्ध करती हैं कि इस स्थान पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ था। जो राजा महमूद गजनी से लड़ा था, वह शाकंभरी के दुर्लभराज का पुत्र गोविन्दराज (द्वितीय) था। फिरिश्ता भी इस बात का उल्लेख करता है कि महमूद सांभर की तरफ से सोमनाथ की ओर आया था।[7]

---

१. खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २२।
२. पाटण के जैन भंडारों की सूची, पृ० ३१२-३६१।
३. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द २६, पृ० ८४।
४. खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २५।
५. आर्कियालाजिकल सर्वे इंडियन एनुअल रिपोर्ट १९०७-०८, पृ० २०५।
६. दी स्ट्रगल फोर अम्पायर, पृ० १०।
७. वही पृ० २३।

चौहानों के राज्य में नरेणा जैन धर्म का बड़ा केन्द्र होगया था। बारहवीं सदी के लेखक सिद्धसेन सूरि ने इसको अपने सकल तीर्थस्तोत्र में जैनियों के प्रसिद्ध तीर्थ रूप में वर्णन किया है।[८] जैन साधु इस स्थान पर रहा करते थे। १०२६ ई० की पादुका पर जैन आचार्य का नाम खुदा हुआ है।[९] ११७० ई० के बिजोलिया के शिलालेख के अनुसार प्राग्वाट् जाति के लोल्लक के पुरखे पुन्वराशि ने यहां पर वर्द्धमानस्वामी का जैन मंदिर बनवाया।[१०] १०७९ के यहां से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार प्राग्वाट् जाति के मथन नाम के व्यक्ति ने अपने परिवार के सदस्यों सहित मूर्ति प्रतिष्ठा की।[११] इन शिलालेखों से यह विदित होता है कि पोरवाल जैन यहां पर रहते थे। पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा ९५२ ई० की है।[१२] यहां पर अन्य प्राचीन जैन मूर्तियां भी हैं। यहां से प्राप्त जैन देवियों की मूर्तियां कला की दृष्टि से उच्च हैं। सरस्वती की प्रतिमा पर १०४५ ई० का शिलालेख अंकित है।[१३] इसके अतिरिक्त दो श्वेत पाषाण तथा एक काले पत्थर की सिंह पर बैठी बहुत ही कलापूर्ण सिंहवाहिनी की मूर्तियां हैं। ग्यारहवी शताब्दी के लेखक धनपाल अपनी कविता 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' में यहां के महावीर स्वामी के मंदिर का उल्लेख करता है।[१४] संभव है जो प्राचीन मूर्तियां, स्तंभ तथा तोरणद्वार सैकड़ों के मन्दिर के समीप से प्राप्त हुए हैं, वे सब महावीर के मंदिर के प्राचीन अवशेष हों। ऐसा लगता है कि यह समस्त मंदिर संगमरमर का बना हुआ हो तथा अपनी पूर्ण अवस्था में कला का एक अद्भुत नमूना होना चाहिए। यह मंदिर बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया क्यों कि इस मंदिर में बाद की मूर्तियां नहीं मिलतीं।

११९२ ई. में मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज तृतीय को हराने के पश्चात नरेणा पर देहली के सुलतानों का अधिकार हुआ। १३८८ ई. में फिरोज तुगलक की मृत्यु के बाद मुसलमानों का साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा। जफरखाने जो नागोर का स्वतंत्र शासक हो गया था, नागोर का राज्य अपने भाई शम्सखां को दिया। शम्सखां के पश्चात फिरोजखां सुल्तान हुआ। इस समय नरेणा भी नागोर के अंतर्गत था। मोकल जो १४२० ई. में मेवाड़ का महाराणा हुआ, उसने नागोर के सुल्तान फिरोजखां को हराकर समस्त सपादलक्ष को जीत लिया।[१५] इस प्रकार नरेणा भी मोकल के अधिकार में आगया। बाद में फिरोजखां के छोटे भाई मुजेरखां ने मोकल को हराकर नरेणा को फिर से हस्तगत किया। १४३७ ई. मे उसने किले तथा तालाब की मरम्मत करवाई तथा अपने नाम पर तालाब का नाम रखा।[१६] यहां के मुसलमान सुल्तानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़ा। मुजेदखान ने यहां के प्राचीन कला पूर्ण हिन्दू मंदिरों को नष्ट करके

---

८. पाटन के जैन भंडारों की सूची पृ० ३१२–१६।

९. संवत १०८३ माघ सुदी १४ आचार्य गुणचन्द्रस्य इदं पाद युग्म।

१०. एपिग्राफिया इंडिका. जिल्द २६, पृ० ८४ (श्लोक, ३६)।

११. संवत ११३५ फागुन सुदि प्राग्वाट् आत्य श्रेष्टि सुजन सुत मथन सुश्रेयोर्थं पितृपय भातृ माल्हा भार्या मथन सुत चाहड़ सहिता भार्या प्रथम मनमख बाहुबलि देव निज श्रेयोर्थं प्रतिष्ठापिर्तं।

१२. संवत १००९ वैशाख बुदि १।

१३. संवत ११०२ वैशाख सुदि ९ श्री नेमिनारवीय समस्त बालमो प्रतिष्ठा कारिति, ओं ह्री सो सरस्वती नमः।

१४. जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अंक १।

१५. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९२४–२५, नं० ६।

१६. एपि ग्राफिया इंडो मुस्लिमिका, १९१३–२४. पृ० १५। अभी इस तालाब को गौरीशंकर तालाब कहते हैं।

जामा मस्जिद बनवाई। इस मस्जिद के स्तम्भ अब भी हिन्दू कला का दिग्दर्शन कराते हैं। मस्जिद के समीप ही एक विशाल दरवाजा है जो त्रिपोलिया के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी प्राचीन हिन्दू मंदिरों के अवशेषों से बना है। अब भी कलापूर्ण आकृति के खुदे हुए चित्र इसकी शोभा बढ़ाते हैं। मेवाड़ का फिर से नरेणा पर अधिकार होगया। राणा कपूर के १४३६ के शिलालेख से पता चलता है कि मेवाड़ के राणा कुंभा ने फिर से नरेणा के किले को जीत लिया। अकबर के राज्य (१५५६ ई०–१६०६) यह नगर अजमेर सरकार के अधीन था।[१७] १६०५ ई. के शिलालेख के अनुसार अकबर स्वयं इस स्थान पर आया था। [१८]

मुगलों के समय में नरेणा पर कच्छावों का राज्य रहा। आम्बेर के राजा पृथ्वीराज के पुत्र जगमल ने तेजसिंह और हम्मीरदेव को हराया और जोबनेर और नरेणा पर अपना अधिकार कर लिया। सम्राट् अकबर ने उसको एक हजार का इनामत दिया।[१९] महाराणा प्रताप के विरोध में लड़ने के लिए वह मानसिंह के साथ गया। जगमल के दो पुत्र थे। एक का नाम खंगार और दूसरे का नाम रामचन्द्र। बड़े पुत्र खंगार से खगारवंश प्रारम्भ हुआ जो जोबनेर और नरेणा पर राज्य करता था। उसके छोटे लड़के ने जम्बू राज्य की स्थापना की और इस कारण वह काश्मीर के राजाओं का पुरखा समझा जाता है। राव खंगार एक बहादुर सेनापति था जिसने सिरोही के राव सुल्तान तथा बून्दी के राव दुर्जनसाल हाड़ा को हराया। राव खंगार के नारायणदास तथा मनोहरदास दो पुत्र थे जिनको नरेणा तथा जोबनेर की अलग अलग जागीर दी गई। नारायणदास के तीन लड़के दुर्जनसाल, शत्रुसाल और गिरधरदास अयोग्य तथा निकम्मे होने के कारण मुगल सम्राट जहांगीर को अपनी सेवाओं से खुश नहीं रख सके। इस कारण जहांगीर ने २४६००० की नारायणदास की जागीर बीकानेर के राजा सूरसिंह को दे दी।[२०] तथा नरेणा नारायणदास के भतीजे भोजराज को दे दिया। भोजराज एक वीर सैनिक था। उसने जहांगीर के जनाने की खुरम के अचानक आक्रमण से रक्षा की। उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर सम्राट ने उसका मन्सब बढ़ा दिया। वीर होने के साथ-साथ भोजराज को धर्म के प्रति भी रुचि थी। उसने नरेणा को दादुपंथी संप्रदाय के संस्थापक दादुदयाल को दान में दे दिया। इसके पश्चात नरेणा इस संप्रदाय का एक बड़ा केन्द्र होगया।

मध्यकालीन युग में भी नरेणा के लोग जैन धर्म का पालन करते थे। प्रायः जैन साधु इस समय यहां पर आते जाते रहते थे। १६६१ ई. में ईडर के भट्टारक क्षेमेन्द्र कीर्ति और चाकसू के भट्टारक जगतकीर्ति एक ही समय में इस स्थान पर आये और उनके उपलक्ष में एक बड़ा उत्सव लोगों के द्वारा मनाया गया।[२१] भक्तामर स्तोत्रवृत्ति की प्रति नयनरुचि ने इसी स्थान पर तैयार की।[२२]

सामाजिक दृष्टि से भी नरेणा का बड़ा महत्व है क्यों कि साढे बारह वैश्यों की जातियों में नरेणा जाति का भी उल्लेख है जैसा १६३६ ई० में लिखी हुई सिंहासन बत्तीसी से पता चलता है[२३]। अब भी कुम्हारों के गोत्रों में इस स्थान के नाम पर नरेणा कुम्हार मिलते हैं।

---

१७. आइने अकबरी, जिल्द २, पृ० २७३।

१८. आर्कियालाजिकल सर्वे इंडियन एनुअल रिपोर्ट १६२५–२६, पृ० १२८।

१९. वीर विनोद, पृ० १६७।

२०. दयालदास की ख्यात, पृ० १५२।

२१. उदयपुर के संभवनाथ के मंदिर में भट्टारक पट्टावली, देखो ग्रंथ संख्या ४३०।

२२. बून्दी के शास्त्रभंडार का ग्रंथ नं० २४७।

२३. जैन गूर्जर कवियों, जिल्द १ पृ० २३५।

डा० हरिवंश कोछड़, नैनीताल

अपभ्रंश साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

समाज और साहित्य का अटूट सम्बन्ध है। समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और वह उसे साहित्य में प्रतिबिम्बित करता है। किसी काल के साहित्य को देख कर उस काल के समाज की विविध प्रवृत्तियों का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। कोई कवि या लेखक जिस साहित्य का निर्माण करता है उसमें उसके वैयक्तिक विचार अभिव्यक्त न हों, यह असंभव है। लेखक के वैयक्तिक विचारों की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है। व्यक्ति के वैयक्तिक विचार तत्कालीन समाज से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत विचार, सामाजिक भावना और साहित्य परस्पर सम्बद्ध होते हैं।

जैन साहित्य में जैन विद्वानों या जैन साहित्यकारों के विचार की झांकी उपलब्ध होती है। व्यापक जैन साहित्य को न लेकर हम अपने विचार जैन साहित्यकारों द्वारा लिखित अपभ्रंश-साहित्य तक ही सीमित रखेंगे। अधिकांश अपना साहित्य जैनाचार्यों द्वारा ही रचित हुआ है—जैन ग्रंथागारों में अतएव वह सुरक्षित भी रह सका। इसलिये हमारे विचार में अपभ्रंश-साहित्य का वह भाग जो जैन कवियों और आचार्यों द्वारा लिखा गया, जैन साहित्य का ही एक अंश समझना चाहिए। जैन कवियों ने किसी राजा, राजमन्त्री, या गृहस्थ की प्रेरणा से अपभ्रंश काव्यों की रचना की थी अत: इन कृतियों में उन्हीं की कल्याणकामना के लिये किसी व्रत का माहात्म्य-प्रतिपादन या तीर्थंकर या जैन धर्मावलम्बी महापुरुष के चरित्र का व्याख्यान किया गया है। वैसे तो सारा ही भारतीय साहित्य धर्म पर आश्रित है किन्तु जैन साहित्य में यह धार्मिक भावना अधिक उदग्ररूप में दृष्टिगत होती है। जैन कवि की यह अभिलाषा रही कि नैतिक और सदाचार सम्बन्धी जैन धर्म के उपदेश अधिक से अधिक जन साधारण तक पहुंच सकें।

> जैन मतानुसार जीव चैतन्यमय है ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। वह स्वभाव से अनन्तज्ञान विशिष्ट है, परन्तु कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्यरूप हमारी दृष्टि से सदा ओझल रहा करता है। सम्यक्-चरित्र के पालन करने से जीव अपने शुद्ध रूप को फिर से प्राप्त कर सकता है—वह कैवल्य एवं सर्वज्ञता से मण्डित हो रहा है। प्रस्तुत लेख में अपभ्रंश साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरम् का वर्णन किया गया है।

जैन मतानुसार जीव चैतन्यमय है। ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। वह स्वभाव से अनन्तज्ञान विशिष्ट है, परन्तु कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्यरूप हमारी दृष्टि से सदा ओझल रहा करता है। सम्यक्-चारित्र के पालन करने से जीव अपने शुद्ध रूप को। फिर से प्राप्त कर सकता है—वह कैवल्य एवं सर्वज्ञता से मण्डित हो सकता है।

जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन माने गये हैं—सम्यक् दर्शन; सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। इन्हीं तीनों साधनों को "रत्नत्रय" का नाम दिया गया है। सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिये अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पांच महाव्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है।

आचार मीमांसा जैन दर्शन का महत्वपूर्ण अंग है। इसका जैनधर्म में भी महत्व है और साहित्य में भी प्रमुख स्थान है।

किसी भी साहित्य के उत्कर्षापकर्ष के लिये नाना कसौटियां आलोचकों ने निर्धारित की हैं। काव्य के लक्ष्य का विचार करते हुए काव्य प्रकाशकार ने निर्देश किया है कि "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।" अर्थात् कोई कवि, काव्य की रचना यश के लिये, धन के लिये, व्यवहार ज्ञान के लिए और अमंगल के विनाश के लिए तत्काल ज्ञान की प्राप्ति के लिए एवं मधुर रूप से उपदेश दान के लिए करता है। इनमें से प्रथम तीन का तो कवि या साहित्यकार के निजी व्यक्तित्व से साक्षात् सम्बन्ध है, "शिवेतर क्षतये" निजी व्यक्तित्व के अतिरिक्त समाज से भी संबद्ध है। अर्थात् साहित्यकार के वैयक्तिक अमंगल का नाश और समाज के अमंगल का नाश, दोनों ही साहित्य के प्रयोजन होते हैं। इसी को लक्ष्य कर के कुछ आलोचक यह मानते हैं कि साहित्य को सत्य, शिव और सुन्दर होना चाहिए। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' साहित्य के उत्कर्ष की एक कसौटी है। दूसरे शब्दों में जो साहित्य सत्य, शिव, और सुन्दर होगा वही सर्वोत्कृष्ट होगा। इन तीनों गुणों का समाहार अभीष्ट है। साहित्यकार अपनी प्रकृति के अनुसार इन तीनों में से किसी एक को अधिक महत्व दे सकता है किन्तु किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता।

सत्यं, शिवं, सुन्दरं शब्द यूनानी दार्शनिक प्लेटो द्वारा प्रतिपादित The True, the Good, The Beautiful के शाब्दिक अनुवाद हैं। इन शब्दों का महत्व श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रतिपादित है।

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

१७.१५

सत्य, प्रिय (सुन्दर) और हित (शिव) कारी वाक्य वाङ्मय तप का अङ्ग है। वाणी का तप होने के कारण यह साहित्य का भी आदर्श माना गया।

साहित्य में सत्य का अभिप्राय निरावरण सत्य या वैज्ञानिक सत्य या ऐतिहासिक सत्य नहीं। साहित्यकार उसे ही सत्य मानता है जिसे उसका हृदय सत्य समझता हो। वह अपनी भावना के अनुकूल वस्तु को या घटना को काट छांट कर, घटा बढ़ा कर उपस्थित करता है। इस दृष्टि से साहित्यकार एक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक से भिन्न समझा जाता है। साहित्यकार दोनों से भिन्न वस्तुगत सत्य या घटनागत सत्य की अपेक्षा अपने हृदयगत सत्य को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। कवि या साहित्यकार अपने काव्य जगत् का विधाता है–प्रजापति है। वह अपनी रुचि के अनुसार अपने संसार में परिवर्तन कर लेता है। इतना होने पर भी वह किसी वस्तु को या घटना को इतना परिवर्तित नहीं कर सकता कि उसके हृदय के सत्य का, लोक के सत्य के साथ सामंजस्य न हो सके।

सत्य के साथ साहित्य में शिवत्व की प्रतिष्ठा भी साहित्यकार को अभीष्ट होती है। शिव या मंगल की भावना का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ और समाज के साथ है—इस लोक और परलोक के साथ भी है। अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस, आयुष्मिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के अभ्युदय की प्रतिष्ठा करने वाला साहित्य–धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। यही व्यापक लक्ष्य साहित्यकार के सामने होता है।

सत्य और शिव की साधना करने वाला साधक कवि अपनी साधना के विषय को सुन्दर और हृदयग्राही रूप में जब पाठक के सामने उपस्थित करता है तभी वह आकर्षक और ग्राह्य होता है और तभी उसे सद्यः परिनिर्वृति मिल सकती है। इसी बात को मम्मट ने 'कान्ता सम्मितयोपदेश युजे' वाक्य से अभिव्यक्त किया था। कड़वी कुनीन की गोली भी शर्करा से लिपटी हुई आसानी से ग्राह्य हो जाती है।

इस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दर की साधना करने वाला साहित्यकार, इनसे आप्लावित हुआ जब अपने पाठक को भी इनका साक्षात दर्शन कराता है तो पाठक इस लोक से ऊपर उठ कर एक दूसरे ही लोक में पहुंच जाता है। यही साधक की साधना का लक्ष्य है और यही साधक की साधना की सफलता की कसौटी है।

अपभ्रंश साहित्य का विचार यदि इस कसौटी से किया जाय तो हमें उस साहित्य की महत्ता का ज्ञान हो सकेगा। साहित्यकार वास्तविकता के पार्थिव धरातल पर

विचरण करता हुआ समय आने पर उस धरातल से ऊपर उठ आदर्श के धरातल पर पहुंच जाता है। इस प्रकार वह लोक मंगल का पावन सन्देश प्रस्तुत करता है। किसी भी ग्रन्थ को पढ़िये, प्राय: यही कथानक मिलेगा कि कथा का नायक अपने जीवन में यौवन काल में नाना प्रकार के भोग विलासों और ऐश्वर्यों का उपभोग करता है। भौतिक दृष्टि से पूर्णत: जीवन की सब आवश्यकताओं की पूर्ति उसे हो जाती है। भौतिक दृष्टि से इस उच्च धरातल पर पहुंच कर सहसा कथानायक के जीवन में किसी महात्मा या जैन धर्माचार्य के सम्पर्क से परिवर्तन आ जाता है। वह भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर मुड़ जाता है। उसका जीवन योग से त्याग की ओर उन्मुख हो जाता है। संसार के विषय भोगों से उसे विरक्ति हो जाती है। शृङ्गार रस में रगा हुआ कथानायक शान्त रस का आस्वादन करने लगता है।

णाय कुमार चरिउ में नाग कुमार अनेक वर्षों तक विषय सुख का आस्वादन करता हुआ और राज्य भोगता हुआ अन्त में तपस्वी हो जाता है और पुन: मोक्ष प्राप्त करता है। यशोधर का चरित्र भी इसी प्रकार का है। जंबू स्वामी के चरित्र में भी योग और त्याग का मिश्रण है। सुदर्शन, करकंडु, सुकुमाल, सनतकुमार, जिनदत्त, नेमिनाथ, चन्द्रप्रभ इत्यादि अनेक नायकों का चरित्र इसी प्रकार का है। ये नायक प्राय: युवावस्था में स्वस्थ, सुन्दर और शक्तिशाली शरीर से नाना रूपवती स्त्रियों को आकृष्ट करते और साथ ही अपने पराक्रम से शत्रुओं को पराजित करते हुए राज्य सुख भोगते हैं तथा अन्त में अपने पूर्वजन्म का स्मरण कर या किसी जैन साधु के उपदेश से विरक्त हो निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए आदर्श की प्रतिष्ठा अपने काव्य में की है। कवित्व की दृष्टि से वीर रस के साथ शृङ्गार रस के भी वर्णन मिलते हैं और दोनों रसों का पर्यवसान अन्ततोगत्वा शान्त रस में हो जाता है। फलत: शारीरिक सौन्दर्य और शृङ्गार के सुन्दर वर्णन भी उपलब्ध होते हैं, वीरता एवं पराक्रम कार्यों के वर्णनों की भी प्रचुरता है और संसार की अनित्यता एवं क्षण भङ्गुरता के प्रतिपादक हृदयस्पर्शी वर्णन भी मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों और उपनिषदों द्वारा बताये हुए त्यागपूर्वक योगमय जीवन के मधुर उपदेश की झांकी हमें अपभ्रंश साहित्य में भी उपलब्ध होती है। मानव के लिए योग भी अभीष्ट नहीं और न केवल त्याग। दोनों में सामंजस्य की आवश्यकता है और त्याग से मानव नि:श्रेयस की ओर प्रवृत होता है। योग, राष्ट्र में भौतिक विकास करता है और त्याग, राष्ट्र को आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाता है। समाज एवं राष्ट्र की उन्नति के लिए योग और त्याग दोनों अपेक्षित हैं। योग और त्याग के इस सामंजस्य में या तो दोनों का पौर्वापर्य भाव हो सकता है अथवा योगमय जीवन में भी 'कमल पत्र मिवाम्भसा' रहते हुए त्याग को अपनाया जा सकता है। इसी प्रकार के जीवन में मानव का कल्याण है, समाज का कल्याण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में सत्य, शिवं और सुन्दरं की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। इस साहित्य में निस्सन्देह स्थान-स्थान पर अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों का भी उल्लेख हुआ है। इस प्रकार की घटनाओं को पढ़ कर आज का वैज्ञानिक इन्हें अस्वाभाविक मान कर, साहित्य में भी संभवत: असत्य का आक्षेप कर बैठे। किन्तु ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि वैज्ञानिक सत्य और कवि सत्य में भेद है। भारतीय हृदय इस प्रकार की अलौकिक घटनाओं में प्राचीनकाल से विश्वास करता आ रहा है। इसलिए इस साहित्य में भी इस प्रकार की आशंका निर्मूल समझनी चाहिए।

अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार महाकवि तुलसीदास ने घोषणा की 'कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कँह हित होई।' अर्थात् काव्य वही उत्कृष्ट है जो सब का कल्याण करे। इसी प्रकार अपभ्रंश कवि भी अपने प्रतिपादक विषय द्वारा कल्याण मार्ग की व्यंजना करता है और उसी मार्ग की ओर पाठक को प्रवृत होने की प्रेरणा देता है। इस साहित्य में प्राप्त सौन्दर्य की झांकी तो अनेक उपयुक्त उद्धरणों से ही मिल सकती है। विस्तारभय से उनका दिग्दर्शन यहां नहीं कराया जा सकता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश-साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरं के त्रित्व की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा मिलती है।

× × ×

ईस्वी पूर्व २०० वर्ष, खारबेल (उदयगिरि) के लेख के प्रारम्भ में श्रीवत्स

कुषाणकालीन मूर्ति पर श्रीवत्स

विविध युगों में श्रीवत्स के रूप

ईस्वी पूर्व ६०० वर्ष भगवान महावीर कालीन, श्रीवत्स चिन्हांकित चांदी का सिक्का-कार्षापण (वर्धित आकार)

ई० पू० २०० वर्ष खण्डगिरि-उदय-गिरि

कुषाण कालीन, ई० प्रथम शताब्दी

गुप्तकालीन

ई० की १०वीं से ११वीं शताब्दी

ई० की १२वीं शताब्दी—वर्तमानकाल

ई० की ६वीं शताब्दी
हस्तपादविहीना लक्ष्मी

तीर्थंकर के वक्षस्थल की दाहिनी ओर त्रिकोणाकार श्रीवत्स

प्रो० देवेन्द्र कुमार जैन,
हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, रायपुर

भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का योग-दान

> भारतीय वाङ्मय को जैन साहित्य की देन अनुपम है। यद्यपि यह विपुल साहित्य आज भी हजारों ग्रन्थों की संख्या में भण्डारों में सुप्त पड़ा है तथापि उपलब्ध रचनाओं की तोल कम नहीं है। वस्तुतः भारतीय साहित्य को अनु प्राणित बनाये रखने में इस साहित्य का विशेष योग हैं। इस साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियां आज भी-भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन साहित्य की विशद् विवेचना की है।

भारतीय संस्कृति, दर्शन और साहित्य में जो ऐकात्म्य भाव लक्षित होता है उसका मूल कारण इस देश की आध्यात्म विद्या है। यह विद्या सनातन है। इसमें लौकिक तथा अति लौकिक वृत्तों का प्रतिष्ठान है। सांसारिक और निर्विकल्पात्मक आनन्द की उपलब्धि इसका लक्ष्य है। प्राणी मात्र सुख के लिए लालायित है। सुख आनन्द मूलक है। यही भारतीय जीवन का परम उपास्य रहा है।

वाङ्मय के दो भेद हैं—शास्त्र और काव्य। इसके अन्तर्गत मानव जीवन के विभिन्न अंगों का तात्विक तथा मानसिक ज्ञान समाहित है। यद्यपि भारतीय परम्परा में आगम-शास्त्रों का विशेष महत्व है पर काव्य को भी जीवन का अंग माना है। विविध शास्त्र और ग्रन्थ 'काव्यसंज्ञक' हैं। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में ही नहीं अन्य भाषाओं में भी ऐसी रचनाओं की बहुलता है।

प्राचीन जैन-साहित्य में अंग—उपांग सूत्र, संहिता, चूर्णि, धवल, वार्तिक, प्राभृत आदि विविध विधाएं दृष्टिगत होती हैं। समूचे भारतीय वाङ्मय की यदि अतुल निधि का मूल्यांकन संभव हो तो मेरा अनुमान है कि परिमाण में नहीं तो भाव–रचना की दृष्टि से लगभग आधा भाग जैन-साहित्य का होगा। आत्म-तत्व का जैसा सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन एवं साहित्य में है कदाचित् ही वैसी अन्यत्र तर्कयुक्त और सटीक हो। किन्तु खेद है कि देश और काल की सीमाओं से असंयुक्त होकर भी विपुल राशि इस साहित्य की प्रभूत हुई थी उसका अधिकांश भाग विद्रोहियों का हविष्य बन गया और जो अवशिष्ट है वह आज भी बहुत कुछ अंध-कार की मोटी तहों में लिपट कर सोया हुआ है। एक समय था जब साम्प्रदायिक भावनायें ईर्ष्या की दृष्टि से जल उठती थीं और आज भी हम भेदक रेखाओं में ऐसे बंट गये हैं कि मन ही मन कुढ़ते और जलते रहते हैं। इस साहित्य में लौकिक गाथाओं तथा कथाओं का विशेष स्थान है। वे जीवन के अधिक निकट हैं। उनमें भारतीय परिवार, समाज और देश का प्रतिबिम्ब है। वैदिक साहित्य के सूत्र की तरह यहां अति लौकिक घटनाओं को मुख्य रूप प्राप्त नहीं है क्योंकि वे जीवन का अंग न होकर आख्यान मात्र हैं। आज पड़ता है कि

रहस्यात्मक शक्ति प्रदर्शन के निमित्त ही उन्हें यह ढांचा दिया गया है। जैन कथा-साहित्य में यह बात नहीं है।

प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य

संस्कृत की भांति प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी मुख्यत: पौराणिक है। दर्शन के अनन्तर पुराण शास्त्र का स्थान माना जाता है किन्तु मेरे विचार में पुराणों का विकास पहले हुआ है। वर्षों तक ये मौलिक रूप में प्रचलित रहे हैं। पुराण शास्त्र और दर्शन शास्त्र ही भारतीय विद्या की रीढ़ है। पुराणों में जिन मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है उनके बीज या तो उपनिषदों में बिखरे हुए मिलते हैं अथवा अंग-उपांग सूत्रों में। वेदों में मतवादों का विवेचन नहीं है। विचारों के सैद्धान्तिक विभेदों में 'ब्रह्म की कल्पना' का अतिशय योग रहा है। इतिहास इसका सबसे सबल प्रमाण है।

जैन साहित्य का आदि भाग मूलत: प्राकृत में लिखा गया है। प्राकृत सदा से इस देश की जनभाषा रही है। प्राचीन आचार्यों ने इसे 'बालभाषा' भी कहा है। मराठी तो आज तक 'प्राकृत' कही जाती है। महाराष्ट्र में इसे प्राकृत कहने का चलन है। विद्यापति ने काव्य की रचना 'देशीवचन' में की है। उनके मत में 'देसिलबअना सबजन मिट्ठा' है। अपभ्रंश-काव्यों ने अपनी भाषा को 'देशी' कहा है। प्राकृत के कवि कोऊहल की 'लीलावई' कथा भी देशी भाषा में निबद्ध है। यही नहीं, जन भाषाओं का 'प्राकृत' नाम कदाचित् पहले पहल वैयाकरणों और आलंकारिकों ने निर्दिष्ट किया है। 'अपभ्रंश' शब्द का पता हमें व्याडि, भर्तृहरी तथा पतञ्जलि के 'अपशब्द' से मिलता है। अपशब्दों की बहुलता देखकर ही देशी भाषा 'अपभ्रंश' कही जाने लगी। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य जैन साहित्य ही है। बौद्धों के चर्यापद, अब्दुल रहमान का 'सन्देश-रासक' तथा कतिपय रासो रचनाओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण अपभ्रंश वाङ्मय जैन-साहित्य है। प्राकृत में इस परम्परा का भली प्रकार स्रोत मिलता है। जैन साहित्य में प्राय: सभी विषयों पर बहुत कुछ सामग्री है। उदाहरण के लिए-व्याकरण, छन्द: शास्त्र, कोश, अलंकार, नाटक, रूपक काव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पू, रासो, ऐतिहासिक एवं प्रेमाख्यानक काव्य, खण्ड काव्य, करुणगीति, कथा काव्य, चरित, अनुयोग, पृच्छा, वेलि, चर्चरी, फागु, बारहमासा, चूनरी, दूहा, चउपई, ढाल, गीत, कोष, दूतकाव्य, अनुप्रेक्षा, कथ्य, स्तोत्र, स्तुति, कुलक, अभिषेक, कल्याणक, संधि आदि।

अनुपम देन

साहित्य के अतिरिक्त आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष, वास्तु शास्त्र, शिल्पविधि, मन्त्र-तन्त्र, योग, रमलविद्या, होरा शास्त्र, यन्त्र, जातक, काम शास्त्र, धर्म शास्त्र, तथा वनस्पतिशास्त्र इत्यादि विभिन्न विषयों के ग्रन्थोंकी रचनाएं मिलती हैं जिनको देखने पर सरलता से निश्चय हो जात। है कि भारतीय वाङ्मय को जैन साहित्य की देन अनुपम है। यद्यपि यह विपुल साहित्य आज भी हजारों ग्रन्थों की संख्या में भण्डारों में सुप्त पड़ा है तथापि उपलब्ध रचनाओं की तोल कम नहीं है। वस्तुत: भारतीय साहित्य को अनुप्राणित बनाये रखने में इस साहित्य का विशेष योग है। इस साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियां आज भी-भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। यथा-मराठी, गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी में प्रयुक्त अनेक मात्रिक छन्दों का स्रोत प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में निहित है। 'भाखा' में लिखी गई प्रारम्भिक जैन रचनाओं की बारहमासा, षट् ऋतु वर्णन, चरित-वर्णन, रासो आदि की विविध पद्धतियां हमें परवर्ती जायसी, तुलसीदास, सूरदास, विद्यापति आदि की रचनाओं में दिखाई पड़ती हैं। अपभ्रंश की अर्द्धचतुष्पदी (दुवई) को मराठी ने बहुत अपनाया है। मराठी का 'ओवी' छन्द और धवलगीत अपभ्रंश-परम्परा से विकसित हुए हैं। 'गाथा' तथा 'दूहा' जैन-साहित्य के सर्वाधिक प्रिय एवं लाडले छन्द हैं। राजस्थान का अधिकांश साहित्य 'दूहा' में निबद्ध है। उत्तर भारत में ही नहीं दक्षिण भारत में भी दूहा, चउपई (द्विपदी, चतुष्पदी), गाथा आदि छंदों को पहले पहल जैन कवियों ने अपनाकर साहित्य रचना की। मराठी के दुहरा, दुपदा, त्रिपदा, पंचपद, सवाईया आदि

ग्रन्थ प्राकृत के जान पड़ते हैं। वस्तुत: देशी भाषा और मात्रिक छन्दों के पुरस्कर्त्ता जैन विद्वान् एवं मुनि कहे जा सकते हैं।

आदिकालिक रचनायें

भाषाविषयक खोज से पता लगता है कि हिन्दी के आदिकाल की प्रारम्भिक रचनाएं जैन-साहित्य है। प्राय: जैन लेखकों ने जनभाषा को अपनाया है। 'भाषा' में भी पांच सौ से अधिक काव्य मिलते हैं। आदि काल में इतनी अधिक रचनाओं की उपलब्धि आश्चर्य और गौरव की बात है। भाषा की दृष्टि से इन रचनाओं का अत्यन्त महत्व है। शुक्लजी के शब्दों में भले ही कुछ रचनाएं 'नोटिस मात्र' रही हों पर ये वस्तुत: साहित्यिक तत्वों से समन्वित है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी कतिपय रचनाएं उपयोगी हैं। कुछ रचनाओं में हमें मुगलकालीन भारत की अच्छी झलक मिल जाती है। हिन्दी के विकास की सारिणी को समझने के लिए जो महत्व अपभ्रंश भाषा का आंका जाता है उससे कम इन रचनाओं की भाषा का नहीं है।

प्राकृत में ई० पू०–३००–४०० के लगभग लिखा गया 'ज्योतिष करण्डक' जैसा उपादेय तथा सुलझा ग्रन्थ कहा जाता है वैसा भारतीय वाङ्मय में विरल है। कदाचित् तभी आर्यभट्ट प्रथम ने 'आर्यभटीय' संस्कृत में लिखा था जिसमें पृथ्वी की परिधि ४९६७ योजन कही गई है। किन्तु सूर्य-सिद्धान्त सम्बन्धी युक्तियुक्त विवेचन ऋषिपुत्र ने सबसे पहले किया था। इनका प्रभाव विराट मिहिर पर भी हैं।[1] ज्योतिष और सम्बन्धी विचारों में भी विभेद दिखाई देता है।

अन्यदर्शनों की भांति जैनदर्शन में भी मौलिकता और नवीनता के दर्शन होते हैं। इस दर्शन के प्राय: सभी ग्रन्थ न्याय-पद्धति पर प्रौढ़ संस्कृत भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। भाषा की दृष्टि से भी अंग-सूत्र, आगम, कथाकोष, काव्य, पुराण आदि का विशेष महत्व है। आचार्य सोमदेव का यशस्तिलक, धनपाल की तिलकमञ्जरी वादीभ सिंह की गद्यचिन्तामणि, एवं क्षत्र चूडामणि, हरिचन्द्र का धर्म शर्मा भ्युदयादि संस्कृत-रचनाएं तथा पउम चरिउ, समराइच्च कहा, लीलावती, वासुदेव हिण्डी प्राकृत के ग्रन्थ और–भविसयत्त कहा, पउम चरिउ, महापुराण, रासो –अपभ्रंश की महत्वपूर्ण हैं। इनमें लोक–जीवन की झांकी के साथ ही–देशी शब्दों की बहुलता दिखाई देती है।

अन्य भाषाओं में भी

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में ही नहीं गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़, तमिल तथा व्रज में भी विपुल जैन–साहित्य रचा गया है। गुजराती, राजस्थानी तथा कन्नड़ भाषा और साहित्य का आरम्भ जैन–रचनाओं से माना जाता है। गुजराती का प्राचीन साहित्य तेरहवीं शताब्दी का कहा जाता है। इस काल की मुख्य रचनाएं हैं: भरतेश्वर बाहुबलिरास (शालिभद्रसूरि), रेवन्तगिरि-रास (विजयराजेन्द्रसूरि) बुद्धिरास (शालिभद्रसूरि) तथा गयसुकुमाल रास (देवेन्द्र सूरि) इत्यादि।

उपलब्ध रचनाओं में कन्नड़ की सबसे प्राचीन रचना 'कविराजमार्ग' है। इसके रचयिता जैन कवि श्री विजय माने जाते हैं। 'वड्डाराधने' शिवकोट्याचार्य की प्रसिद्ध गद्य–रचना है जिसमें महापुरुषों का जीवन-चरित्र वर्णित है। कन्नड़–साहित्य पर 'पम्प रामायण' का विशेष प्रभाव कहा जाता है। इस साहित्य के इतिहास में 'पम्प–युग' (९५० ई०—११५० ई०) अत्यन्त समृद्ध है जो 'स्वर्णकाल' के नाम से भी–प्रसिद्ध है। इस काल का दूसरा नाम है 'जैनयुग', क्योंकि इस अवधि में कन्नड़–साहित्य की श्रीवृद्धि करने में जैनमतावलम्बी कवियों का हाथ मुख्य रहा है। प्रत्येक कवि ने धार्मिक काव्य के साथ ही—लौकिक अथवा शुद्धकाव्य रचे हैं।[2] वैदिक साहित्य की भांति जैन साहित्य में भी–राम तथा कृष्ण चरित विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। जैन सम्प्रदाय में भी—सीता–उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो तरह

१. विस्तृत विवरण के लिए, 'भारतीय ज्योतिष' नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० १२८

२. 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० १८७।

की मान्यताएं तथा तत्सम्बन्धी साहित्य है। दक्षिण भारत से लेकर उत्तर तक की राम चरित विषयक विविध धारणाएं जैन साहित्य में अनुस्यूत है।

यद्यपि तमिल-साहित्य की सर्वप्राचीन रचनाएं अनुपलब्ध हैं पर उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर पता लगता है कि 'संघोत्तर-काल' या काव्य-काल में जैनियों का अत्यन्त योगदान रहा। इस युग में 'पञ्चबृहत्‌काव्य' तथा 'पञ्च लघु काव्य' की रचना मुख्य बताई जाती है। पांच महाकाव्यों में से इलगो विरचित 'शिलाप्पदिकारम्' और जैन मुनि तिरुत्तक्कदेवर-कृत 'जीवक-चिन्तामणि' प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य हैं। जीवक चिन्तामणि की रचना महत्वपूर्ण है। इसमें नीति और रीति का भी उचित समावेश है। पांच लघु काव्य हैं—नीलकेशि, शूलामणि, यशोधरकावियम्, नागकुमार कावियम् और उदयगान् कई। कौतूहल का विषय यह है कि ये दसों काव्य जैन एवं बौद्ध मुनियों-कवियों द्वारा रचित हैं।[1] तेलुगु में भी —जैन कवि अथर्वण, विजयराघव आदि उल्लेखनीय हैं। कन्नड़-साहित्य के पम्प-युग में जैन कवियों ने जिस चम्पू शैली का प्रचलन किया था वह अत्यन्त लोकप्रिय होने से कालान्तर में वीर शैव कवियों के द्वारा भी अपनाई गई।[2] इस प्रकार प्रबन्ध काव्यों की तन्त्रात्मक तथा शैलीगत विकास का श्रेय-जैन-कवियों को प्राप्त है।

इस साहित्य के सूक्ष्म तथा गम्भीर अध्ययन से कई ऐसे तथ्य प्रकाशनीय हैं जो केवल साहित्य-जगत् में ही नहीं अपितु गणित, विज्ञान, आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल तथा वास्तु एवं शिल्प विषयक विभिन्न जानकारी से पूर्ण होंगे। अभी तक जैन साहित्य का पूरा अन्वेषण नहीं हुआ है इसके अनेक कारण हैं। जैन मतानुयायियों की संख्या वैसे भी अल्प है। फिर इस कठोर साधना में लगने वालों की संख्या तो ऊंगलियों पर गिनाई जा सकती है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो यह साहित्य अपने आन्तरिक परिधान में कहीं भी-साम्प्रदायिक नहीं दिखाई देता है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि मूल साहित्यिक दार्शनिक ग्रन्थों में कहीं भी-किसी तीर्थ विशेष या मतवाद का प्रतिपादन नहीं है। जीवन की सहज अनुभूतियों के साथ मनुष्य को उन्नति शील बनाने के लिए बाह्य तथा आन्तरिक नियमों एवं सिद्धान्तों का सांकेतिक रूप में स्थान-स्थान पर उल्लेख हैं। वस्तुतः ये नियम व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। इनका 'मत' और 'वाद' से कोई सम्बन्ध नहीं है और-इस तरह के नियम लगभग सभी धर्म और मजहबों में पाये जाते हैं। ××

जैन-धर्म सर्वथा स्वतंत्र है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है। और इसलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्व ज्ञान का, धर्म पद्धति का अध्ययन करने वालों के लिये वह बड़े महत्व की वस्तु है।

—डा० हर्मन जैकोबी

---

१. 'तमिल और उसका साहित्य,' पूर्ण सोमसुन्दरम् पृ० १३।
२. 'हिन्दी साहित्य कोश', १९१।

श्री छोटेलाल जैन F.R.A.S.

श्रीवत्स चिन्ह

श्रीवत्स चिन्ह शुभ लक्षण का प्रतीक है। जैनों के अष्टमंगल–दर्पण, ध्वजा, कलश, स्वस्तिक आदि में श्रीवत्स भी है। तीर्थंकरों के शरीर में १००८ लक्षण और व्यञ्जन होते हैं, जो सामुद्रिक शास्त्रों के अनुसार महापुरुषों के शरीर के शुभ चिन्ह या सुलक्षण माने गये हैं। वे सम्भवत: भगवान की स्तुति करने के आधार मालूम होते हैं क्योंकि श्री जिनसेनाचार्य ने लिखा है—

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरांपतिम्
नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये

इसलिये "जिन सहस्रनाम" में श्रीवत्स का भी उल्लेख है—

श्रीवत्सलांछन: श्रीमानच्युनो नरकान्तक:
विश्वक्सेनश्चक्रपाणि: पद्मनाभो जनार्दन: ।।१०२।।

अर्थात् आप श्रीवत्स लांछन हैं। इसकी व्याख्या करते हुये श्री श्रुतसागरी टीका में लिखा है कि 'श्रीवत्स नामा वक्षसि लाञ्छनं रोमावर्तो यस्य स श्रीवत्सलाञ्छन:। आपके वक्ष:स्थल पर श्रीवत्स नामका लांछन अर्थात् रोमावर्त है, इसलिये आप श्रीवत्सलांछन कहलाते हैं।

अभिधानराजेन्द्र (सप्तम भाग, पृष्ठ ८६४) के अनुसार सिरिवच्छ—श्रीवत्स—माङ्गलिक चिन्हभेद। महापुरुषाणां वक्षोऽन्तर्वर्तिनि अभ्युन्नतावयव लाञ्छन विशेषे।

पुरुषों के वक्ष:स्थल (छाती) पर बाल स्वभावत: होते हैं। किन्तु महापुरुषों की छाती पर यह रोमराशि संभवत: किसी आकार को लिये होती हो। घोड़े के शुभाशुभ होने की परीक्षा करते हुये उसके माथे पर भंवरी वगैरह के आकार को देखा जाता है। इसका समर्थन मोनियर विलियम्स ने अपनी संस्कृत–इंगलिश डिक्शनेरी में किया है। "श्रीवत्स" के लिये लिखा है—

A particular mark or cure of hair on the chest of Vishnu or Krishna (and of other divine beings, said to be white and represented in pictures by a symbol resembling a cruciform flower the emblem of the tenth Jina.

अर्थात् महापुरुषों के वक्ष:स्थल पर धवल घुंघरवा बालों की गुच्छी जिसका चित्रांकन क्रासनुमा फूल अर्थात् ४ पंखुड़ियों के पुष्प की तरह होता है। इसी शब्दकोश में "श्रीवत्सांकिन्" का अर्थ लिखा है–a horse having a curl of hair on his breast (resembling that of Vishnu) अर्थात् वह अश्व जिसकी छाती पर घुंघरवा बाल हो।

अस्तु; यह संभव है कि महापुरुषों के वक्ष:स्थल की रोमराशि के विन्यास के अनुसार श्रीवत्स चिन्ह के रूप की सृष्टि हुई हो।

ई० पू० द्वितीय शताब्दी में जैन तीर्थ (सिद्ध क्षेत्र) खंड गिरि पर्वत की अनन्त गुफा के द्वार के ऊपर जो लक्ष्मी अंकित है वह पूर्ण सांगोपांग है और उसी द्वार के तोरण के ऊपर श्री वत्स भी अंकित किया गया है। यहां लक्ष्मी और उसका प्रतीक श्री वत्स दोनों एक साथ उपलब्ध हैं। इसी गुफा की भीतर की दीवाल पर मंगल चिन्ह स्वस्तिक, ध्वजा के साथ श्री वत्स भी अंकित है। और यहां उदयगिरी की रानी गुफा के द्वार के तोरण पर भी ऐसा ही श्री वत्स है। बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत की जैन मूर्तियों के वक्ष स्थल पर श्री वत्स नहीं होता है। इस प्रकार विद्वान लेखक ने इस लेख में श्री वत्स पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है।

यह चिन्ह बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर के समय अर्थात् ई० पू० ६०० में जो आहत (कार्षापण) सिक्के प्रचलित थे उनमें कुछ आहत (Punch marked silver coins) अर्थात् छेनी या ठप्पे द्वारा अंकित चान्दी के सिक्के श्रीवत्सांकित हैं—उन पर इस चिन्ह का रूप चित्र नं० १ जैसा है।

प्राचीन शिल्प में चक्र, स्वस्तिक आदि अन्य शुभ चिन्हों की तरह श्रीवत्स के निदर्शन, हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों सम्प्रदायों में उपलब्ध होते हैं।

भगवान बुद्ध परिच्छद सहित थे इसलिये उनकी प्रतिमूर्ति में श्रीवत्स का दिग्दर्शन संभव नहीं था किन्तु अन्य शुभ लक्षण उनके शरीर (हाथ पावों) पर मिलते हैं। तो भी बौद्धों के अन्य शिल्प में श्रीवत्स चिन्ह का व्यवहार सांची, भरहुत, अमरावती आदि में उपलब्ध होता है।

श्री विष्णु भगवान के वक्षःस्थल के मध्य में श्रीवत्स होता है। इसके प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। गुप्तकाल की केवल कुछ ही विष्णुजी की मूर्तियों पर यह चिन्ह अंकित है, अधिकतम विष्णु मूर्ति पर इसका अभाव है। बंगाल की मध्यकालीन विष्णु प्रतिमा पर यह चिन्ह मिलता है। किन्तु उनका वक्षःस्थल हारादि अलंकारों से भूषित होने के कारण इस लक्षण को स्पष्ट रूप से अंकित करना कठिन था। इसलिये कहीं कहीं उनके हार के झूमका के और कोस्तुभ रत्न के साथ इसका अंकन किया गया है। पर वह श्रीवत्स ऐसा मिल गया है कि स्पष्ट नहीं मालूम होता है। इसलिये वक्षस्थल के मध्य में इसका अंकन बहुत कम हुआ है। मध्यकाल में उत्तर भारत और पश्चिम भारत के केवल विष्णु ही नहीं किन्तु अन्य देवताओं के वक्षस्थल पर भी चतुर्दल पुष्पाकार से श्रीवत्स उपलब्ध होता है।

विष्णु भगवान का वक्षस्थल हारादि से भूषित होने के कारण उनके वक्षस्थल के दक्षिण भाग में इस चिन्ह का प्रतीक समभुजा-त्रिकोण रूप से प्रदर्शित करने की प्रणाली चोल काल में दक्षिण भारत में अपनाई गई। इस समभुजा-त्रिकोण को श्रीदेवी की वेदी का द्योतक माना जाता है। विजयनगर काल में श्रीवत्स का अन्तिम विकास इस त्रिकोण रूप से प्रचलित हो गया।

मद्रास म्यूजियम में ६ वीं शताब्दी की पद्मासन लक्ष्मी की दो मूर्तियां हैं—जो हस्तपाद विहीना है। अर्थात् देवी के हाथ पांव इस प्रकार गोलार्द्ध से मुड़े हुवे हैं कि इसके मुख मंडल को छोड़कर इसकी बहिर्रेखा (परिधि की रेखा) मात्र से प्राचीन श्रीवत्स चिन्ह सूचित होता है। इससे एक ऐसी पद्धति का भान होता है जिसमें लक्ष्मी की शारीरिक आकृति (सशरीर) और उसका (देवीका) प्रतीक श्रीवत्स दोनों का संयोग प्रदर्शित किया गया है।

लक्ष्मी के प्रतिरूप की (हस्तपादविहीना) इस कल्पना का कारण है। धन या ऐश्वर्य का उपार्जन पुरुषार्थ (प्रयत्न) करने से होता है। क्योंकि लक्ष्मी न तो अपने हाथों से देती है और न स्वयं पांवों (पैरों) से चल कर आती है। कहा है कि—

उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मीः
दैवं हि दैव मिति का पुरुषा वदन्ति।

इसीलिये ६ वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में लक्ष्मी की प्रतिमूर्ति हस्तपादविहीना रूप से भी निर्मित की गई। किन्तु यह अपवाद-रूप से उपलब्ध है। वैसे सर्वत्र लक्ष्मी की सब प्राचीन मूर्तियां और परवर्ती काल की भी मूर्तियां पूर्णतः सांगोपांग (अवयवयुक्त) ही होती रही हैं।

ई० पू० द्वितीय शताब्दी में जैन तीर्थ खंडगिरि पर्वत की अनन्त गुफा के द्वार के ऊपर जो लक्ष्मी अंकित है वह पूर्ण सांगोपांग है और उसी द्वार के तोरण के ऊपर श्रीवत्स भी अंकित किया गया है। यहां लक्ष्मी और उसका प्रतीक श्रीवत्स दोनो एक साथ उपलब्ध है। इससे यह सूचित होता है कि प्राचीन काल में हस्तपाद-विहीना लक्ष्मी की कल्पना नहीं हुई थी। इसी गुफा की भीतर की दीवाल पर मंगल चिन्ह स्वस्तिक, ध्वजा के साथ श्रीवत्स भी अंकित है। और यहां उदयगिरि की रानी गुफा के द्वार के तोरण पर भी ऐसा ही श्रीवत्स है।

खंडगिरि से संलग्न उदयगिरि है, जिसकी सुप्रसिद्ध हाथी गुफा में जैन सम्राट कलिंग-चक्रवर्ती श्री खारवेल का ई० पू० द्वितीय शताब्दी का बृहद् शिलालेख अंकित

है। इस शिलालेख के प्रारंभ में स्वस्तिक और श्रीवत्स अंकित है। इस श्रीवत्स को सभी पुरातत्व वेत्ताओं ने भ्रम से a crown like symbol अर्थात् एक मुकुट की तरह का चिन्ह लिखा है। किन्तु यह स्पष्ट श्रीवत्स है। शिल्पी ने इसकी चौड़ाई अधिक करदी है, इससे भ्रम हुआ जान पड़ता है।

जैन मूर्तियों पर जो श्रीवत्स चिन्ह अंकित मिलते हैं उन पर अब विचार करना है। इससे यह ज्ञात होगा कि प्राचीन काल से अर्थात् भगवान महावीर के समय से और परवर्ती शताब्दियों में श्रीवत्स के रूप में किस प्रकार परिवर्तन हुये हैं। और भारत के विभिन्न प्रान्तों की जैन मूर्तियों पर श्रीवत्स किस रूप में उपलब्ध होते हैं। इससे मूर्तियों के काल और स्थान निर्णय में सुविधा प्राप्त होगी।

श्री जयसेनाचार्य ने प्रतिष्ठापाठ के श्लोक १५१–१८३ में "बिम्बनिर्माणविधि लिखी है। किन्तु तीर्थंकरों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह की जगह श्रीवृक्ष लिखा है। "श्रीवृक्षभूषि हृदय" श्लोक-१५२। यह पाठ अशुद्ध मालूम देता है क्योंकि श्रीवृक्ष (अशोक तरु) तो अष्ठ प्रातिहार्यों में है और श्रीवृक्ष का छाती पर अंकित करने का प्रमाण कहीं उपलब्ध नहीं होता है। अभी तक एक भी प्रतिमा ऐसी उपलब्ध नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त अजैन ग्रन्थों में भी श्रीवत्स ही छाती पर होना लिखा है न कि श्रीवृक्ष।

गुप्त काल में रचित वराहमिहिर की बृहत्संहिता के अध्याय ५८, श्लोक ४५ में—

अर्हतां देवस्य लक्षणम् में कहा है कि—
आजानु लम्बाबाहुः श्रीवत्साङ्कप्रशान्तमूर्तिश्च
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देव।
श्री भट्टोत्पल ने इसकी टीका में लिखा है–
अर्हतां देवो जिन आजानुलम्बबाहु कार्यः
जानु सम्प्राप्तहस्तः
श्री वत्साङ्कः श्रीवत्समङ्कं चिन्ह विशेषो यस्य सः
प्रशान्तमूर्तिः

जितेन्द्रियो रागद्वेषरहितः दिग्वासा नग्नः
तरुणो यौवनोपेतः रूपवान् सुशोभनवपुः।

अर्थात् अर्हंत भगवान की मूर्ति का रूप घुटनों तक लंबे हाथ, वक्षस्थल के मध्य श्रीवत्सचिन्ह, प्रशान्त-मूर्ति, जितेन्द्रिय, रागद्वेष रहित, दिगम्बर, यौवन और रूप से सुशोभित हो।

"मानसार" शिल्प शास्त्र के अध्याय ५५ के श्लोक ७१ से ९५ तक में जिनबिम्बनिर्माणविधि में लिखा है कि—

निराभरण–सर्वांगं निर्वस्त्रांग मनोहरम्
सव्य–वक्षस्थले हेम–वर्णं श्रीवत्स लाञ्छनम्

अर्थात् भगवान जिनेन्द्र का बिम्ब आभरण रहित, वस्त्र रहित, मनोहर और वक्षस्थल की दांई तरफ श्रीवत्स लक्षण सहित हो। सव्य का अर्थ बायें या दाहिने दोनों होता है–मूर्ति का तो दक्षिण भाग और शिल्पी या दर्शन करने वाले के बांई तरफ। यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि जैन प्रतिमा के वक्ष स्थल की दाहिनी ओर श्रीवत्स चिन्ह का बनाना क्यों लिखा। ऊपर कहा गया है कि भगवान विष्णु का वक्षस्थल हारादि अलंकारों से आच्छादित (भूषित) होने के कारण, दक्षिण भारत में उनके वक्षस्थल की दाहिनी ओर श्रीवत्स बनाया जाता था। यह विधि दक्षिण प्रान्त की पांच सात तीर्थंकर मूर्तियों में जो बहुत बाद के समय में बनी, उनमें अपवाद रूप से उपलब्ध होती है।

टी० ए० गोपीनाथ राव ने भी अपनी Elements of Hindu Iconography के जिल्द १ भाग १ के पृष्ठ २२०–२१ पर जहां जैन प्रतिमा का वर्णन लिखा है उसमें श्रीवत्स के सम्बन्ध में लिखा है कि यह चिन्ह छाती की दाहिनी ओर अंकित पाया जाता है और उसका रूप समान भुजा वाला त्रिकोण जिसकी नोक ऊपर की ओर हो–ऐसा मिलता है।

यहां यह बताना आवश्यक है, कि बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण प्रान्त की तीर्थंकर मूर्तियां श्रीवत्स चिन्ह रहित होती हैं।

दक्षिण के कांची पुरम (जिन कांची) उत्तर आर्काट आदि स्थानों में पांच सात तीर्थंकर मूर्तियां जो मध्यकाल के बाद की हैं उनकी छाती के दाहिने तरफ समत्रिभुजाकार त्रिकोण चिन्ह है। यह अंकन विष्णु भगवान की दक्षिण प्रान्त में उपलब्ध मूर्तियों का पूरा अंधानुकरण है।

उपरोक्त तीन प्रान्तों को छोड़कर अन्य सब प्रान्तों के जैन बिम्बों पर श्रीवत्स अंकित है–वह भी वक्षस्थल के मध्य में ही–और त्रिकोणाकार नहीं। कुछ मूर्तियां श्रीवत्स रहित भी उपलब्ध हुई हैं।

श्रीवत्स का प्राचीनतम उदाहरण भगवान महावीर के समय में अर्थात् ई० पू० ६ ठी शताब्दी में उपलब्ध होता है–जैसा ऊपर बताया गया है। परवर्ती कई शताब्दियों तक इसके रूप में बहुत कम परिवर्तन हुये हैं। संलग्न चित्र में श्रीवत्स की आकृति के विभिन्न परिवर्तन प्रदर्शित किये गये हैं जिनसे स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि विगत शताब्दियों में कैसे कैसे परिवर्तन हुये।

शुंग काल और कुषाण काल तक तो इसका रूप प्रायः ई० पू० छठी शताब्दी जैसा ही रहा। कहीं कहीं नं. जैसा भी था। इस रूप को लेखकों ने श्रीवत्स न कहकर पहिले "दोनाग चिन्ह" संज्ञादी। क्योंकि इनका रूप SS जैसा था गुप्त काल में यही "दो नाग" जैसा अर्थात् एक सीधी खड़ी रेखा के बांई ओर अंग्रेजी अक्षर S और उसी रेखा के दक्षिण तरफ भी वैसा ही उल्टा हुआ S रूप श्रीवत्स का हुआ और वह ६ ठी शताब्दी तक प्रचलित रहा। (उत्तर भारत में) मध्यकाल में इसका रूप विषम कोणी–सम–चतुर्भुज रूप अर्थात् चतुंदल पुष्प जिसके पार्श्व के दल छोटे और विस्तृत और शीर्ष और तल दल किंचित् दीर्घ थे। तदनन्तर सम चतुंभुज पुष्पाकार रूप हो गया।

दक्षिण भारत के प्राचीन शिल्प में श्रीवत्स का रूप कुषाण कालीन जैसा ही था, जैसा अमरावती के बौद्ध स्तूप में उपलब्ध हैं। परिवर्ती पल्लव काल में भी इसकी पूर्वाकृति ही रही।

राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के अभिरक्षक श्री शिवराममूर्ति से मुझे जो सहायता–इस लेख के लिये प्राप्त हुई है, उसके लिए उनका आभारी हूं।

नोट—कालक्रम—भगवान महावीर ई० पू० ६०० वर्ष
मौर्यकाल–ई० पू० ३२५ से १८४ वर्ष
शुंगकाल–ई० पू० १८४ से ७२ वर्ष
शुंगकाल–मथुरा–ई० पू० ५७ से २० वर्ष
कुषाणकाल सन १ से सन १७६
गुप्तकाल–सन ३२० से सन ६००
पूर्व मध्यकाल–सन ६०० से सन ९००
और उत्तर मध्य काल सन ९०० से १२००

डा० हरीश एम. ए., डी. फिल.
एम.बी. कालेज, उदयपुर

आदिकाल की प्राचीनतम हिन्दी कृति "भरतेश्वर बाहुबली घोर"

हिन्दी साहित्य की विषय प्रधान रचनाओं में एक अपने ही प्रकार की रचना "भरतेश्वर बाहुबली घोर" [1] है जो अद्यावधि प्राप्त रचनाओं में पर्याप्त प्राचीनतम है। सं० १२४१ में शालिभद्रसूरि विरचित भरतेश्वर बाहुबली रास ही अब तक सबसे प्राचीन कृति समझी जाती रही है। परन्तु यह रचना इससे भी पुरानी है। रचना की मूल प्रति जैसलमेर के खरतरगच्छीय पंचायती भंडार में सं० १४३७ की संग्रह प्रति में लिखी हुई है। एक रचना श्री भंवरलाल नाहटा ने प्रकाशित करदी है। [2] रचना की पुष्पिका [3] तथा ग्रन्थ विवरण को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पर्याप्त महत्वपूर्ण और प्राचीनतम है।

घोर संज्ञक रचनाएं अद्यावधि एक से अधिक नहीं उपलब्ध हो सकी तथा घोर नाम से कोई छन्द विशेष या रचना प्रकार का भी उल्लेख नहीं मिलता अपितु इसके विषय को देखकर यह कहा जा सकता है कि भरतेश्वर और बाहुबली की युद्ध जन्य भयानकता के कारण ही कवि ने इसका नाम घोर रख दिया है।

भरतेश्वर और बाहुबली के युद्ध का प्रसंग नया नहीं है। प्राकृत और संस्कृत में इस कथा पर कई विस्तृत

> हिन्दी साहित्य की विषय प्रधान रचनाओं में एक अपने ही प्रकार की रचना भरतेश्वर बाहुबली घोर है जो अद्यावधि प्राप्त रचनाओं में पर्याप्त प्राचीनतम है।
>
> यह रचना इससे भी पुरानी है। रचना की मूल प्रति जैसलमेर के खरतर गच्छीय पंचायती भंडार में सं० १४३७ प्रति में लिखी हुई है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने इस रचना पर खोज पूर्ण प्रकाश डाला है।

उल्लेख मिल जाते हैं। [4] साथ ही अनेक मंदिरों और मूर्तियों में भी भरत और बाहुबली की मूर्तियां तज्जन्य इतिहास को स्पष्ट करती हैं। प्रति में कहीं भी रचना काल नहीं मिलता पर क्यों कि इसके रचनाकार वज्रसेन सूरि के गुरु देवसूरि का काल सं० ११७४ तक था अतः इसका रचनाकाल १२ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अथवा १३ वीं के पूर्वार्द्ध के प्रथम दो दशकों में ही कहीं रहा होगा। रचना प्राचीन है और युद्ध की भयंकरता को कवि ने कुल

---

१. पंचायती भंडार जैसलमेर-स्वाध्याय पुस्तिका कुल पत्र ४४० पत्रांक ३६२–३६८।
२. शोध पत्रिका भाग ३ अंक २ पृ० १४१–१४७ पर श्री भंवरलाल नाहटा का लेख।
३. पुष्पिका—सं० १४२७ वैशाख सुदि द्वितीया दिने सुगुरु श्री जिनराजसूरि सदुपदेशेन पं० देदापुत्र देव गुर्वाज्ञा चिन्तामपि विभूषते मस्तकया माक श्राविकया खात्म पुण्यार्थं स्वाध्याय पुष्पिता लिखिता वाच्यमाना आचंद्रार्क नंदतु ६॥
४. वर्द्धमान सूरि रचित आदिनाथ चरित (जैसलमेर)

४८ छंदों में संजोया है। १३ वीं शताब्दी में गुजरात और राजस्थान में युद्ध चल ही रहे थे। अतः कवियों की समयानुकूल प्रेरणा स्वाभाविक थी जिसके फलस्वरूप घोर और उसके प्रसंग को परवर्ती रास संज्ञक दोनों रचनाएं लिखी गईं।

घोर की इस भाषा में प्राचीनता दृष्टिगोचर होती है। कृति में रचना स्थान भी कहीं नहीं मिलता। पर बहुत संभव है कि यह राजस्थान में ही रचा गया होगा क्योंकि वादिदेव सूरि के शिष्यों की प्रसिद्धि नागौर से हुई, जो मारवाड़ का प्राचीन नगर रहा है।

रचना नमस्कार से प्रारम्भ हुई है। काव्यात्मक दृष्टि से यह कृति वीर रस की सुन्दर रचना है। क्योंकि पूरा काव्य युद्ध के प्रसंग को लेकर शान्त रस में जाकर समाप्त हुआ है। कथा में भरतेश्वर की दिग्विजय ही प्रमुख प्रसंग है। प्रथम पंक्ति से १० पदों तक एक छन्द और ११ वें पद से अन्त तक दूसरा छन्द प्रयुक्त किया है। भरतेश्वर के गर्व पर बाहुबली का चित्र कवि प्रारम्भ में ही चित्रित कर देता है :—

पहु भरहेसर ऐव, बाहुबलिहि कह्रा वियउ
अह बहु अम्नहि सेव तो प्रणवउ संग्रामिघिउ
गएणा एकइ नांव, दुवोलिहिं गंजण बहिय
सो बाहुबलि ताव दूअउ गलइ लियावियउ[1]

भाषा की सरलता, वर्णन का प्रवाह और काव्य की सुगंठितता का अध्ययन युद्ध के इस वर्णन से हो जाता है। ओज का प्रवाह रस निष्पत्ति में पूर्ण योग देता है। कवि ने विविध दृष्टान्तों द्वारा काव्य में युद्ध के वातावरण को उभारा है। कुछ विविध चित्र देखिये:—

खतह गांगह तीरि दडउ जेव उच्छालियउ
धाउ न होउ सरीरि पडत उदय करिझालियउ
तं वीसरिय आजु, भरहेसरू भय भिमलऊ
अइ करिलाघउ राजु तकि अम्ह सेव मना विस्पह
गंग सिंधु दुइ रांड मनु अइ नाहल साहिया
अं तीसण दह खंड जीतउं मानइ आगरउ (१५-१७)

× × ×

कोवानल पज्जलिउ ताव, भरहेसरू अंपइ
रे रे ! दियहु पियाण ढाक, जिमु महियलु कंपइ
गुलु गुलंत चालिया हाथि मं गिरवर जंगम
हिसारवि अहिरिय दियंत हल्लिय तुरंगम
धर डोलइ खलभलइ, सेनु दिसियक छाइज्जइ
भरहेसरू चालियउ कटकि कसु ऊपम दीजइ
तं निसुणे विणबाहु बलिए सीवइ गय गुडिया
रिण रहसि हिव उरंग दलिहि वे उपासा जुडिया
अति चाविऊं पाडरं होइ अति ताणि उत्तूटइ
अति मथियं होइ कालकूट अति मरिय फूटइ(२०-२४

इस प्रकार कवि की नीतिज्ञता भी साथ-साथ स्पष्ट होती है जिससे काव्य के अर्थ गांभीर्य का परिचय मिलता है।

दोनों भाई रण में अनल वेग की भांति जूझे। और अन्त में दोनों के द्वन्द युद्ध निश्चित हुए पर भरतेश्वर के अमर्यादित होने पर बाहुबली को वैराग्य हो आया। द्वन्द युद्ध वर्णन का प्रवाह कुछ सोरठों में देखिए:—

जइ बूझसि तउ बूझि काइं मांडलिए मारिए
पहरण वारवइ भूमु अंगो अंगिहि की जिसइ
तउ धुरि जोवंताह आखिहिं पाणिउ आइयउ
वादहि बोलंताइ भरधहि पडिऊ तरू नहि
भ्रूकुवि मुग्रदंडेहि मल्ल भ्रूकुतहि निम्मियं
भूठिहि अरुदंडहि भरहुजीतु बाहूबलिहि

× × ×

करियालि चक्कु धरेवि, जाल फुल्लंगा मेल्हतऊं
मूकउं बलि अवखेवि, प्रवहइ नाहइं गोत्रियह (३७)

× × ×

तो पाऐ लागेवि भर हेसरि मनावियउ
बंधव। मुज्झु खमेहि तइं जीतउ मइं हारियउ
ऊतरू ताव न देइ, बाहुबलि भरतहेसरह
राणे सरिसउ ताव, भरहेसरू घरि आइयउ (४१)

× × ×

भावण तिव भावेउ, जिव भावी भरहेसरिहिं
तउ केवल पावेहु (ए) राजु करंतां तेणजिव (४८)

रचना की समाप्ति शान्त रस में हुई है। उक्त उद्धरणों से रचना की काव्यात्मकता स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः रचना पर्याप्त प्राचीन होने से इसका ऐतिहासिक और काव्यात्मक महत्व है। ★

---

१. भरतेश्वर बाहुबली घोर : पद ११-१२ पृ० १४४ शोधपत्रिका अंक २।

अनूपचन्द जैन, न्यायतीर्थ जयपुर

आमेर गादी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवा

जैन समाज में भट्टारकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर के पश्चात् विभिन्न गण, गच्छ एवं आम्नायों के रूप में सैकड़ों भट्टारक हुए जिनका उल्लेख पट्टावलियों, ग्रंथ-प्रशस्तियों, मूर्ति एवं शिला लेखों, भट्टारकीय गीतों आदि में हमें उपलब्ध होता है। इन भट्टारकों ने जैन धर्म के प्रचार एवं साहित्य तथा संस्कृति के विकास में जो अपना महत्वपूर्ण योग दिया था उसकी हमें किसी प्रामाणिक इतिहास के अभाव में कोई जानकारी नहीं मिलती। वास्तव में देखा जावे तो ये भट्टारक अनुमानतः एक हजार वर्ष तक जैन धर्म एवं साहित्य पर छाये रहे और उसके विकास में उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य समय का सदुपयोग किया। बागड़ एवं गुजरात प्रदेश में भट्टारक सकलकीर्ति जैन धर्म के ह्रास को देख कर ही गृहस्थ से साधु बने तथा आठ वर्ष तक घोर परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके उस प्रदेश में जैन धर्म एवं साहित्य की ऐसी नींव डाली कि उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वह परम्परा ३०० वर्षों तक उसी रूप में चलती रही। ये भट्टारक जहां धर्म गुरु थे वहां जैन समाज के एक प्रकार से सम्राट भी कहलाते थे।

> जैन समाज में भट्टारकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर के पश्चात् विभिन्न गण गच्छ एवं आम्नायों के रूप में सैकड़ों भट्टारक हुए जिनका उल्लेख पट्टावलियों, ग्रंथ-प्रशस्तियों, मूर्ति एवं शिला लेखों, भट्टारकीय गीतों आदि में हमें उपलब्ध होता है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने भट्टारकों की परंपरा पर विशद प्रकाश डाला है।

भट्टारक परंपरा का प्रारंभिक इतिहास—

भट्टारक पट्टावलियों[1] के अनुसार सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु संवत् ४ में भट्टारक हुए और उसके पश्चात् गुप्त गुप्ति माघनंदि, जिनचन्द्र कुन्द कुन्द उमास्वामि, लोहाचार्य आदि आचार्य भी भट्टारकों की परम्परा में ही होने वाले मान लिये गये। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में ये भट्टारक नग्न होते थे लेकिन बाद में परिस्थितियों वश शिथिलता आने के कारण इन्होंने वस्त्र धारण करने की परम्परा डाल दी। इस परम्परा को सबसे अधिक बल मुस्लिम काल में मिला जिसका एक प्रमाण निम्न उल्लेख से मिलता है।

"संवत् १३१६ के सालि दिल्ली में भट्टारक प्रभाचंद्र जी राघोचेतन स्यु वाद कियो तब जीत्या। तब हुरमां पातिस्याह पेरोजसाहि ने कही जु हम बस अतीत का दरसन करें तब खाणा खावेंगे। तब पातिस्याह अरज करी अर गूजर चांदोपिता पापडीवाल न की अरज कराई तब कपडा १३१६ के सालि पहरया भट्टारक प्रभाचन्द जी कलंकी अलावदी के पाछै १२ पाटि सारंग-

१. देखिये भट्टारक पट्टावलि शास्त्र भंडार डूंगरपुर में संग्रहीत

शाह ग्रोसवाल के चरणादार पेरो ज्यौ सिकराका वैठ्या करि पाटि बैठो २७ लाख घोडा को धणी हुवौ"

(गुटका नं० १५२ मंदिर पाटोदी जयपुर पत्र सं० १८)

भट्टारक प्रभाचन्द भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। ये बड़े प्रभावशाली विद्वान् एवं मंत्र तंत्र के जानने वाले थे। दिल्ली में जाने पर बादशाह फिरोजशाह द्वारा अद्वितीय राजकीय ठाठ बाट से स्वागत किया गया। इसे देख विद्वान राघव को ईर्ष्या हुई। उसने मंत्र बल से भट्टारकजी की पालकी को कीलित कर दिया। भट्टारकजी ने तुरन्त ही अपने विद्याबल से पालकी को चला दिया। इसके अतिरिक्त यमुना नदी में घड़ों की नाव से अघर के अघर राघव को पार कर देना तथा अमावस्या को पूर्णिमा बना देना आदि चमत्कारों से बादशाह भट्टारकजी से बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा उन्हें रावल पद से विभूषित किया। उक्त चमत्कारों का उल्लेख ठोलियों का मन्दिर जयपुर के गुटका नं० ६२ में निम्न प्रकार संग्रहीत है—

"दिली सुथान करता प्रवेस।
आया सामहुणी नर नरेस।
पालिकी चलत किलीय प्रतखि
छिण एक मांझ मुनिराज लखि।
विद्याविलास करि इष्ट पाण।
पालिकी चली उतर प्रमाण।
कमंडल सु वाद कीयो प्रचंड।
राघव वचन कीय खंड खंड।
जमना जल तरणी कुंभ भार।
राखिया राघौ मैं मझार।
मुनिराज कुंभ ते विघटि दीय।
कुंजाझिलमिल भानु अरुणकीय।
पतिसाहुचाव देखेइ अपार।
राघौ ने मुनिवर ततसार।
अमावस हुत पुन्यौ प्रमाण।
मोदी राघव तणी माण।
पतिसाहु बंदै मुनिराज पाव।
जग ऊपर मोटा जतीपराव।
रावल पद दीयो दिलीय नाथ।
तुम बड़े सुगुरु हम कीयेसनाथ।

दोहा

तुम सनाथ हम को कियो बहुयोड दिली सबोल।
श्री प्रभाचन्द वाचां तिलक कीय पेरोज सतोल।।

विभिन्न गण एवं गच्छों की स्थापना

प्रारम्भ में भट्टारकों का एक ही गण (संघ) था किंतु फिर यह मूल संघ, सैन संघ काष्ठा संघ तथा फिर देशीय गण बलात्कार गण सेनगण आदि अनेक गण एवं गच्छों में बंट गया। ज्यों ज्यों भट्टारक संघ लोकप्रिय होने लगे त्यों त्यों उनने अपने २ पाट स्थापित किए और अपने अपने प्रदेश भी बांट लिये। भट्टारकों का यह विकास संवत् १८०० तक व्यवस्थित एवं अबाधितरूप से चलता रहा।

भट्टारकों की साहित्य सेवा

अधिकांश भट्टारक बड़े भारी विद्वान हुए हैं। साहित्य निर्माण एवं ग्रंथ संग्रह की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। गांवों एवं नगरों में बहुत से शास्त्र भंडार उन्ही की प्रेरणा से स्थापित किये गये थे। व्रतोद्यापन एवं प्रतिष्ठा समारोहों के अवसर पर ये श्रावक श्राविकाओं को जैन ग्रंथ लिखवाने के लिये प्रेरित करते और फिर उन्हें विभिन्न शास्त्र भण्डारों में विराजमान करते। आज भी नागौर, आमेर, अजमेर, ऋषभदेव कुचामण जयपुर आदि स्थानों में जो बड़े भण्डार मिलते हैं वे सब इन्ही भट्टारकों की देन हैं। ये स्वयं विद्वान् होते थे और श्रावकों के आग्रह से ग्रंथ रचना किया करते थे। भ० सकल कीर्ति, शुभचन्द्र, ब्र. जिनदास, भ० रत्न कीर्ति, ज्ञान भूषण आदि कितने ही भट्टारकों नेजो ग्रंथ रचना की थी उसमें अधिकांश श्रावकों की ही प्रेरणा थी। भट्टारकों के संघ में आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियां एवं पंडित हुआ करते थे जो पठन पाठन ग्रंथ लेखन आदि का कार्य किया करते थे।

भट्टारकों का ऐश्वर्य

पहले भट्टारक सवस्त्र होते पर भी मुनियों के समान जीवन बिताते थे; किंतु फिर ये मंदिरों के एक भाग में

ही रहने लगे। यहां यह वर्ग साधुत्व की ओर से हट कर धीरे धीरे शासकत्व की ओर झुक गया। ये लाल वस्त्र धारण करते थे तथा स्वयं को राजगुरु एवं जैन सम्राट कहते थे। इनका पट्टाभिषेक राजामहाराजाओं की तरह बड़ी धूमधाम से होता था। इनको राज्याश्रय प्राप्त था इसलिये पट्टाभिषेक के समय राज्य की ओर से भी इन्हें भेंट मिला करती थी। राजा के समान ही इन्हें पालकी, छत्र मोरछल आदि के उपयोग करने की छूट थी। राज्य की ओर से इन्हें बड़ी बड़ी जागीर मिली हुई थी और उसका प्रबंध भी इन्हीं को करना पड़ता था। इस प्रकार ये धीरे शान शौकत की ओर बढ़ने लगे और जिस उद्देश्य से इस संस्था का जन्म हुआ था वह धीरे धीरे समाप्त होने लगी।

आमेर गादी के भट्टारक

भट्टारक पट्टावलियों के देखने से ज्ञात होता है कि दिल्ली के भट्टारक पट्ट से आमेर का सीधा संबंध था। दिल्ली में बलात्कार गण की शाखा स्थापित थी। वहीं से नागौर तथा ग्वालियर के पट्ट भी अलग हुए। संवत् १६६२ फागुण बुदी ऽऽ को भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति ने चाकसू (चंपावती) में अपनी स्वतंत्र गद्दी स्थापित की। इसके पश्चात् संवत् १६६१ कार्तिक बुदी ८ को सांगानेर में भट्टारक नरेंद्र कीर्ति का पट्टाभिषेक हुआ और वहां एक गद्दी की शाखा स्थापित की। संवत् १७२२ में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति आमेर में आये और उनका पट्टाभिषेक भी यहीं हुआ। इसके बाद जयपुर तथा श्री महावीरजी में भट्टारक केन्द्र स्थापित हुए। चाकसू तथा सांगानेर जयपुर की गणना में है अतः देवेन्द्रकीर्ति के पट्टस्थ होने से वर्तमान तक भट्टारकों की नामावली नीचे दी जाती है।

				पट्टाभिषेक होने का स्थान
१	भट्टारक	देवेन्द्रकीर्ति	सं. १६६२	चाकसू
२	,,	नरेन्द्रकीर्ति	,, १६६१	सांगानेर
३	,,	सुरेन्द्रकीर्ति	,, १७२२	आमेर
४	,,	जगत्कीर्ति	,, १७३३	,,
५	,,	देवेन्द्रकीर्ति	,, १७७०	,,
६	,,	महेंद्रकीर्ति	,, १७९२	दिल्ली
७	,,	क्षेमेन्द्रकीर्ति	,, १८१५	जयपुर
८	,,	सुरेंद्रकीर्ति	,, १८२२	,,
९	,,	सुखेन्द्रकीर्ति	,, १८५२	,,
१०	,,	नरेन्द्रकीर्ति	,, १८८०	,,
११	,,	देवेन्द्रकीर्ति	,, १८८३	,,
१२	,,	महेंद्रकीर्ति	,, १९१८	,,
१३	,,	चन्द्रकीर्ति	,, १९७४	,,

इस प्रकार आमेर की भट्टारकीय गद्दी पर १३ भट्टारक हो चुके हैं। इन सभी भट्टारकों ने जैन धर्म साहित्य एवं संस्कृति की महत्वपूर्ण सेवाएं की थीं जिनका उल्लेख मंदिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों के लेख, ग्रंथों एवं उनकी प्रशस्तियों तथा पट्टावलियों से मिलता है। अब यहां कुछ प्रमुख भट्टारकों की सेवाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति

राजस्थान में भट्टारक परम्परा की नींव डालने वाले भट्टारकों में देवेन्द्रकीर्ति को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। ये भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। ये अपने समय के प्रतिभाशाली विद्वान भट्टारक थे। इन्होंने अपनी अलग ही परम्परा स्थापित करने का निश्चय किया। चाकसू जिसे प्राचीन समय में चंपावती कहते थे उस समय साहित्य एवं संस्कृति का केंद्र था। इसलिए इन्होंने भी अपना यहीं पट्टाभिषेक किया। इस समय इनकी क्या अवस्था थी इसका तो कहीं उल्लेख नहीं मिलता लेकिन इन्होंने २८ वर्ष ७ मास तथा २५ दिन तक जैन समाज पर आध्यात्मिक शासक के रूप में शासन किया। देवेन्द्रकीर्ति की गादी स्थापित होते ही राजस्थान में प्रतिष्ठा महोत्सवों एवं मंदिर निर्माण का कार्य इन्हीं की प्रेरणा से होने लगा। संवत् १६६४ में मोजमाबाद में महाराजा मानसिंह के अमात्यनानू गोधा द्वारा जो विशाल प्रतिष्ठा हुई थी उसके प्रतिष्ठाचार्य यही भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति थे। संवत् १६८० में तक्षकगढ़ (टोडारायसिंह) के पहाड़ पर एक जिनालय निर्माण करवाने का भी इन्हीं को श्रेय है। आज भी इनके नाम का शिलालेख मंदिर के द्वार पर लगा हुआ है।

भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक बने। इनका पट्टाभिषेक बाकसू के स्थान पर सांगानेर में संवत् १६६१ कातिक बुदी ८ के दिन हुआ। उस समय जैन समाज में सुधार का जो आन्दोलन चला था सांगानेर ही उस का प्रमुख केन्द्र था। देवेन्द्र कीर्ति एक अच्छे विद्वान् एवं वक्ता थे। इनके कितने ही शिष्य एवं प्रशंसक अच्छे साहित्य सेवी थे। कितने ही स्तोत्रों की हिन्दी गद्य में टीका लिखने वाले अखयराज इन्हीं के शिष्य थे तथा सं० १७१७ में उन्होने संस्कृत मंजरी की प्रति इनको भेंट की थी। टोडारायसिंह के प्रमुख विद्वान् एवं कवि जगन्नाथ भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के प्रमुख शिष्यों में थे। ये संस्कृत के अधिकारी विद्वान् थे। एक अन्य कवि बख्तराम साह ने मिथ्यात्व खंडन नामक पुस्तक में नरेंद्रकीर्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि तेरहपंथ (शुद्धाम्नाय) जिसका कि पहले आगरा और कामा में प्रचार हुआ था वह अब इन्हीं भट्टारक के समय सांगानेर में उदय[1] हुआ। इससे पता चलता है कि उसी समय से भट्टारक संप्रदाय एवं उनकी कार्य विधियों से लोगों में अनास्था भी फैलने लगी। एवं उन्हें काफी विरोध का सामना करना पड़ा होगा।

भ० नरेंद्रकीर्ति साहित्य सेवी तो थे ही साथ में बड़े भारी प्रतिष्ठाकारक भी थे। इन्होंने चांपापुर (सं० १७००) गिरनार (सं. १७०६) मालपुरा (सं. १७१०) हस्तिनापुर (सं. १७१६) में प्रतिष्ठायें करवायी।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति भ. नरेन्द्रकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे तथा उनके बाद भट्टारक बने। भट्टारक बनने से पूर्व इनका नाम दामोदर दास था तथा ये कालागोत्रीय खंडेलवाल थे। ये प्रारम्भ से ही एक अच्छे विद्वान् थे तथा व्रत नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। अनेक नगरों एवं ग्रामों में विहार करके जब भ० नरेन्द्रकीर्ति[2] सांगानेर आये तो दामोदर दास व संघपति जीवन को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए और दामोदरदास से दीक्षित होने को कहा। प्रारम्भ में उन्होंने ४ मास के लिए दीक्षा ली। भ० नरेन्द्रकीर्ति आमेर में गद्दी स्थापन करना चाहते थे। अत: उन्होंने आमेर के तत्कालीन सभी पंचों को लिखा। इस पर संघपति कल्याण ने सभी की सम्मति ले भ० नरेन्द्रकीर्ति को यह लिख भेजा कि योग्य एवं समर्थ विद्वान होने के कारण दामोदरदास[3] ही को भट्टारक पद दिया जाना चाहिए। पट्टाभिषेक के लिए सभी प्रकार की सामग्री एकत्रित की गई। स्वर्ण के कलशों से पंचामृताभिषेक कर बड़े ठाठबाठ से महोत्सव किया तथा

---

१. प्रथम चल्यो मत आगरे श्रावक मिले कितेक।
सोलह सै तिपासिये गह्यो कितू मिलि टेक॥
फिरि कामा में चल परयों ताही के अनुसारि।
रीति सनातन छांडि कें नई गही अघकारि॥
भट्टारक आंबेरि के नरेन्द्रकीर्ति सुराम।
यह कुपंथ तिनके समै नयो चल्यो अघधाम॥

गुटका नं. ६२ ठोलियों का मंदिर जयपुर

२. श्री गुरु सांगानइरि मधि आये करण प्रकास।
मुझ काया लो एम गति देखि दमोदरदास॥

३. कागद मधि एही परकास दीजे पाट दमोदरदास।
बडो जोग्य पंडित सु अपर बल सुन्दर सील काइ अति निर्मल॥
यो जैन धरम लाइक परमाण एम कह्यो संगपति कल्याण।

उनका नाम सुरेन्द्रकीर्ति रखा। यह महामहोत्सव [1] संवत् १७२२ सावण बुदी ८ मंगलवार को भ० नरेन्द्रकीर्ति के हाथों से ही हुआ। सुरेन्द्रकीर्ति आमेर की गद्दी के सर्व प्रथम भट्टारक थे। ये अपने समय के अच्छे विद्वान थे। इनको आदित्यवार कथा सं० १७४४ की हिन्दी की अच्छी रचना है। साहित्य सेवी होने के कारण इनकी अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाने की ओर विशेष अभिरुचि थी।

भट्टारक जगत्कीर्ति

भट्टारक जगत्कीर्ति अपने गुरु सुरेन्द्रकीर्ति से भी अधिक प्रभावशील विद्वान थे। इनकी अधिक अभिरुचि मंदिर निर्माण एवं पंच कल्याणक प्रतिष्ठाओं में थी।[2] संवत् १७३३ में इनका आमेर में पट्टाभिषेक हुआ और तभी इन्होंने करवर (सं० १७४१) तक्षकगढ़ (सं० १७४१) चांदखेड़ी (सं० १७४६) जोबनेर (सं० १७६१) आदि स्थानों में बड़ी बड़ी प्रतिष्ठाओं का संचालन किया। चांदखेड़ी में जो प्रतिष्ठा हुई वह अपने ढंग की राजस्थान में अकेली प्रतिष्ठा थी जहां हजारों मूर्तियां प्रतिष्ठित होकर राजस्थानके विभिन्न मंदिरों में विराजमान की गई। ये ३७ वर्ष तक भट्टारक रहे तथा साहित्य एवं संस्कृति की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करते रहे। इनके कितने ही विद्वान शिष्य थे। उन में नेमिनाथ रास के लेखक नेमिचन्द्र का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। अपनी रचना में इन्होंने भट्टारक जगत्कीर्ति का वर्णन करते हुए लिखा है:—

भट्टारक सब उपरै जगकीरति जगजोति अपार तो
कीरति चहुं दिसि विस्तरी पंचाचार पाले सुभसारतो।
प्रमत्त मैं जीते नहीं चहुं दिसि मैं सब तांही आणतो
खिमा खडग स्यौ जीतिया चौराण वै पटनायक भाणतो॥

भट्टारक महेन्द्रकीर्ति

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। देवेन्द्रकीर्ति स्वयं भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे जिन की विविध कथाओं एवं पूजाओं का जैन समाज में अच्छा प्रचार रहा है। इन्हीं के शिष्य महेन्द्रकीर्ति का संवत् १७९२ में देहली में पट्टाभिषेक हुआ। ये खंडेलवाल जाति के पापड़ीवाल गोत्रीय श्रावक थे। इन्होंने स्थान स्थान पर विहार करके धर्म एवं साहित्य का प्रचार किया। आमेर शास्त्र भण्डार का इनके समय में अत्यधिक विकास हुआ। इसलिये इस शास्त्र भण्डार को महेन्द्रकीर्ति शास्त्र भण्डार भी कहा जाने लगा था। भण्डार में आपने प्राचीन ग्रन्थों का जो उत्तम संग्रह किया वह आपकी साहित्य प्रियता का द्योतक है। इसी भण्डार में जम्बूस्वामी चरित्र (सं० १७९३) पार्श्वनाथ चौपई (सं० १७९१) सम्यक्त्व कौमुदी (सं० १७९३) हरिवंश पुराण (सं० १७९२) त्रिलोक दर्पण (सं० १७९३) यशोधर चरित्र (सं० १८०१) वर्द्धमान पुराण (सं० १८०४) सीता चरित्र (सं० १८०८) आदि कितने ही ग्रन्थों की प्रतिलिपियां आपने करवाई। दयाराम सोनी इनके प्रमुख शिष्य थे जिनके द्वारा लिखे हुए सैंकड़ों ग्रन्थ जयपुर के भण्डारों में मिलते हैं। सं० १७९४ की प्रतिष्ठा के लेखों में इनकी परम्परा में भ० अनन्तकीर्ति का भी नाम पाया जाता है किन्तु उनका पट्टावलियों में कहीं नाम नही मिलता।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

ये जयपुर के भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे।

---

१. सत्रासै साल भणं बाइसै संजम सावण मधि ग्रह्यो।
सुभ आठै मंगलवार सही जोतिगमिले पखि किसन कह्यो।
गुटका सं. २६ ठोलियों का मंदिर जयपुर—

१. संवत् सत्रासै अर तेतीसै सावण बुदी पंचमी भणि।
पदवी भट्टारक अचल विराजित घणादान धणराज तणं।
आंबेरि नइरि अपराम राज मधि विमलदास निधि सहित दीप।
परिमल भरि पंच कलस प्रति कुंदन पंचा मिलि कल्याण दीप।
सांखोण्या वंस सिरोमणि सब विधि दुनिया धम उपदेश दीप।

सं० १८२२ में इनका जयपुर नगर के पाटौदी के मंदिर में पट्टाभिषेक हुआ। ये संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे विद्वान थे तथा जैन संस्कृति एवं साहित्य के प्रबल प्रचारक थे। यद्यपि इनके समय में जयपुर में महा पंडित टोडरमलजी ने समाज में व्याप्त अंधविश्वासों एवं कुरीतियों के विरोध में सुधार का बीड़ा उठाया था तथा भट्टारक संस्था के विरुद्ध समाज में प्रबल जनमत का निर्माण किया था। लेकिन सुरेन्द्रकीर्ति के प्रभाव में कोई विरोध कमी नहीं आई क्योंकि ये स्वयं भी साहित्यिक थे और पूजा स्तोत्र एवं कथा आदि विषयों पर १५ से भी अधिक रचनायें लिखी जिनमें अष्टान्हिका कथा (सं० १८३१) ज्ञानपच्चीसी (सं० १८४०) महावीर द्वात्रिंशिका, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति (सं० १८३३) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जयपुर में रहते हुए उन्होंने पाटोदी के मंदिर के शास्त्र भण्डार में ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया। ५० से भी अधिक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवा कर जयपुर के विभिन्न मंदिरों में संग्रहित की गई। प्रतिष्ठाचार्य की दृष्टि से इन्होंने सं० १८२३, १८२६ (सवाई माधोपुर) तथा सं० १८३६ (धूलेट नगर) में प्रतिष्ठायें करवाई।

जैन दर्शन बहुत ही ऊंची पंक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं। ऐसा मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव है। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान आगे बढ़ता जाता है, जैनधर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करता है और मैं जैनियों को इस अनुकूलता का लाभ उठाने का अनुरोध करता हूँ।

अहिंसा सभ्यता का सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट दरजा है। यह निर्विवाद सिद्ध है और जबकि यह सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट दरजा जैनधर्म का मूल है तो इसकी ओर सर्वाङ्ग सुन्दरता के साथ यह कितना पवित्र होगा, यह आप खुद ही समझ सकते हैं। जैनी लोग अहिंसा देवी के पूर्ण उपासक होते हैं और उनके आचार बहुत शुद्ध और प्रशंसनीय होते हैं, उनके व्रत और सप्त व्यसन वगैरह बातों के जानने से मुझे बहुत खुशी हुई और उनके चरित्र की तरफ मेरे दिल में बहुत आदर उत्पन्न हुआ। जैन मुनियों के आचार देखने से मुझे वे अति कठिन जान पड़ते हैं लेकिन वे ऐसे तो पवित्र हैं कि हर एक के अन्तःकरण में बहुत भक्तिभाव और आदर उत्पन्न करते हैं। ऐसे चरित्र से सर्व साधारण पर प्रभाव पड़ता है।

मैं इस निश्चय पर आ पहुँचा हूँ कि मैं भी जहां तक बने जैनधर्म के मुख्य नियमों के अनुसार चलूं।

—डा० एल० पी० टेसीटोरी इटालियन

—धर्म देशना से
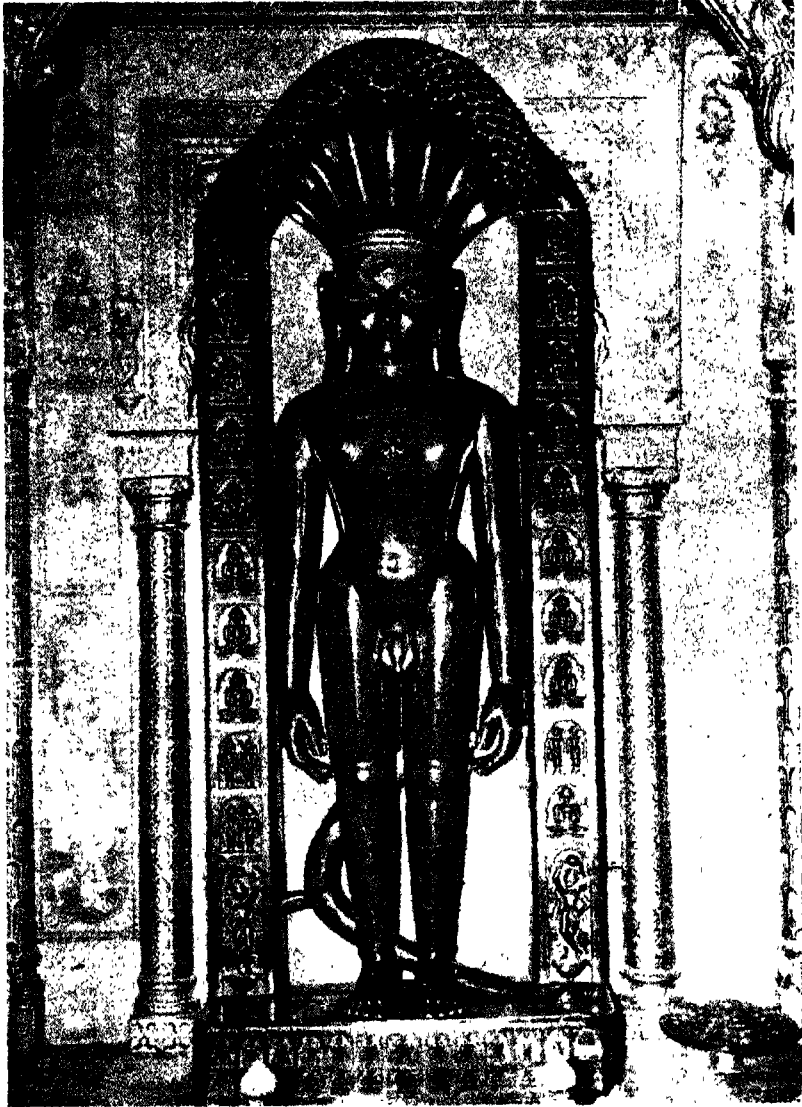
पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति — दि. जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, जयपुर

वीतराग - पञ्चकम्

— १ —

अध्यात्मवाद तरणे ! जगदेकबन्धो !
सद्ज्ञान-सच्चरण—सत्करुणैकसिन्धो !
संतप्त-भूतल-पयोद ! महामुमुक्षो !
त्वद् वीतरागपदवी प्रणमामि भक्त्या !

— २ —

त्वं विश्रुतोच्चकुल-राजकुमार आसी,
र्लक्ष्मी त्वदीय पदपङ्कज-सेविकाऽऽसीत् ।
सर्वं सुखं त्वदनुगं; न रुचिर्मदीया,
त्वद् वीतराग-शुचितां शिरसाऽभिवन्दे ॥

— ३ —

त्वं सेवितोऽसुरसुरैः सुरनायकैश्च,
लक्षाधिकै र्जनगणै रभिवन्दितोऽपी ।
आवेष्टितो विभुतया: न ममाऽत्र निष्ठा,
त्वद् वीतरागसरणे: शरणं प्रपद्ये ॥

— ४ —

छत्र-त्रिकं, कुसुमवृष्टि रशोक वृक्षो,
भामंडलं, धवलचामर-दीव्यभाषा ।
नैके वरा अतिशया; न मयि प्रभाव,
स्त्वद् वीतराग गरिमां किल कीर्तयामि ॥

— ५ —

रागादिदोष-दनुजा मनुजान् तुदन्ति,
सीदन्ति सज्जनजना: स्वजना: श्वनन्ति ।
आलोकपुञ्ज ! तिमिराकुल-मङ्गलाय,
त्वद्वीतराग महिमां विवृणोमि लो ॥

सागरमल जैन 'साथी'

★

Dr. Kastoor Chand Kasliwal,
M A., Ph.D , *Shastri, Jaipur.*

Importance of the Jaina Grantha Bhandars

The author, who has worked extensively in the research of Jaina Bhandars throws in this article a vivid light on their importance. Grantha Bhandars were literary centres in the true sense. They helped the scholars and the public in enhancing their knowledge But apart from their literary importance, these Bhandars are the store-houses of Indian Art, Cultural and Historical works and the manuscripts lying hidden in the pothies of these Bhandars, if properly scrutinised, may throw a new light on the history of our country.

SINCE the Adoption of system of writing, manuscripts were probably being written and placed in the Grantha Bhandars. Grantha Bhandars are, therefore, amongst the earliest literary institutions of the Country. The collections are not of today but centuries old. They are the results of hard and continuous efforts from generation to generation. Before the manufacture of paper, the manuscripts were written on palm leaves, cloth and other material but when the plam leaves industry was replaced by paper industry, all the manuscripts were re-written on paper.

These Grantha Bhandars were literary centres in the true sense. They provided help to the scholars and public in enhancing their knowledge, But their importance lies not only in this but also in the fact that they saved the treasure of knowledge from destruction. In this respect the contribution of Jainas is really great. Even today the earliest and authentic manuscripts of several works written by scholars other than the Jainas are preserved only in these Bhandars.

But apart from literary importance of these Bhandars their importance may be acknowledged also from other points of view. They quenched the thirst of scholars and provided help to the lovers of History, Art and Culture also. There is a great scope for research in these subjects on the basis of collections in these Bhandars. The manuscripts were collected from the place where the Grantha Bhandar exists but they were brought from various places which were the centrcs of literature, culture and of political activity.

Amongst such places are Delhi, Agra, Ajmer, Abu, Nagaur, Todaraisingh, Chatsu, Sanganer, Bharatpur, Jaisalmer, Jodhpur, Jaipur, Surat, Sikandarabad, Bundi, Mandalgarh, Dungarpur, Chittor, Ranthambhor and Udaipur. The manuscripts written or copied in those places provide information regarding names of the places, names of rulers by whom they were got copied, after being copied to whom they were presented and lastly

sometimes they mention also the cost incurred in obtaining them. This information is available in most of the manuscripts. The Authors of Apabhramsa and Hindi works also give some description about the rulers of their time. The city or town where the manuscripts were written and the general conditions of the people there are described, which information if collected and coordinated would provide good material for a cultural history of the times. These Bhandars have played a great part in the development of the educational and cultural life of the Country, because in the past they were literary centres and continue to be so even at present. There are many manuscripts on the basis of which love of the common people for Art and Painting at that time can be judged. Taking into consideration all these points, we shall now judge the importance of the Grantha Bhandars under the following heads :—

(1) Historical Importance
(2) Literary Centres
(3) Educational Centres
(4) Material for Art and Painting
(5) Treasure houses of earliest manuscripts and
(6) Treasure Houses of non-Jaina works.

1 Historical Importance

The Grantha Bhandars are very important from the historical point of view. There are several works exclusively on the subject of History. Besides, we find that the authors and copyists of the manuscripts give some description of the rulers, the cities or towns where they wrote or copied and the patrons who encouraged learning. Such colophons called Prasastis, are written generally either at the end or in the beginning of the works. On the basis of these, the time of many rulers can be determined, history of old cities and towns can be prepared. As manuscripts dated from 10th Century on wards are available, so a history of past one thousand years can be reconstrurcted also on the basis of the material found in the Jaina Grantha Bhandars.

There is a manuscript in the Shastra Bhandar of Pandya Lunakaran of Jaipur which gives the description of emperors who had been on the Delhi throne. It also describes the history of the foundation of Delhi. According to it, it was in the time of ANANGAPAL that the city was founded and called Dhilli. The same word 'Dhilli' for Delhi was used by Sridhara, an Apabhramsa scholar of the 12th Century in his PARSVANATHA CHARITA (1). Similarly in the Shastra Bhandar of Jaina temple Terapanthi, Jaipur there is a manuscript called "RAJAVAMSA VARNANA" which presents a complete description of the rulers of Delhi from the Pandavas onwards. It gives years and months of the reign of various rulers. For

---

१. विक्कमणरिंद सुपसिद्ध कालि, ढिल्ली पट्टणि धणकणविसालि ।
सणवासी एयारहसएहिं, परिवाडिए वरिसह परिगएहिं ।
कसणट्ठमीहिं आगहणमासि, रविवारि समाणिउ सिसिरमासि ।

example about Prathvi Raja of Delhi the author says :—

पृथ्वीराज महिपालः क्रमात् षोडशवत्सरः ।
एकविंशदिनास्तत्र मासैक घटिकां त्रयं ।। ७ ।।

In the same way, the manuscript of 'Pati Sahika Beora" the author narrates the reasons of downfall of Prathaviraja as follows :—

तब राजा पृथ्वीराज संजोगता परणी । जीह राजा कैसा कुल सोला १६ सूरी का १०० हुआ त्याके भरोसे परणी ल्यायो । लड़ाई सावता करी । पणी राजा जैचंद पूंगलो पूग्यो नहीं । संजोगता सरूप हुई । तहि के बसी राजा हुवो । सो म्हैला ही का रहो । महीना पंदरा बारा ने नीसरयो नहीं ।

We find references not only to the rulers of Delhi but also to rulers of states, Governors of Provinces and Districts and Big Jagirdars. Information also obout the rulers of various Rajput states of Jaipur, Jodhpur Bikaner, Udaipur, Bundi, Kotah, Bharatpur and others can be collected. The references show that some of the Rajput Rulers and Administrators were great patrons of literature and Art and under their rule several manuscripts were written. They encouraged scholars and patronized them.

Apart from the independent historical works, there are several works in which the authors make casual or incidental references. They are also sometimes helpful.

Banarsidasa, a famous poet of 17th Century makes brief but correct references to Akbar and Jahangira and Sahjahan in his "ARDHA KATHANAK", a life history of the poet himself.

संवत् सोलहसै बासठा,
आयो कातिक पावस नठा ।
छत्रपति अकबर साहि जलाल,
नगर आगरे कीनो काल ।। २४६ ।।
आई खबर जोनपुर मांह,
प्रजा अनाथु भई बिनु नाह ।
पुरजन लोग भए भयभीत,
हिरदै ध्याकुलता मुख पीत ।। २४७ ।। आ

Referneces like the following, in the Prasastis of Adipurana written in Sanskrit by a scholar in Sambat 1693 (1636 A. D.) are found in many manuscripts :—

संवत् १६६३ वर्षे श्रावण सुद ५ भौमवासरे नगरे चोग्रदुर्गाख्ये ।

साहिजहां – दिल्ली – पते राज्यं सेवकोग्रसिहे धम्मपूर्वं कुर्वंति ।। ५ ।।

In the SATMALA VARNAN, a Hindi work of 1764 A. D. the poet Srutasagar gives an enlogic description of Bharatpur and its founder Surajmal.

देस काठहड विरजि में, बदनस्यंघ राजान ।
ताकै पुत्र है भलो, सूरिजमल गुणधाम ।।
तेजपुंज रवि है भलो, न्यायनीति गुणवान ।
ताको सुजस है जगत में, तपै दूसरो भान ।।
तिनह जु नगर बसाइयो, नाम भरतपुर तास ।
सा राजा समदिष्टि है, परविच्यार उपवास ।।

Manna Lala Scholar of Jaipur wrote "CHARITRASARA" in the year 1814 A. D. and at the end of the work he describes Jaipur as follows :—

तहां सवाई जयपुर नाम,
लसत नगर रचना अभिराम ।
बहु जिन मन्दिर सहित मनोग्य,
मानू सुरगण बसने जोग्य ।। ४ ।।
जगतसिंह राजा तसु आन,
कंपत अरिगन करै प्रनाम ।
तेजवंत जसवंत विशाल,
रीझत गुनजन करत निहाल ।। ५ ।।

The writer of Padmanandi Panhca-Vinsati, Jagat Rama writes about Aurangzeb :

नवखंड में जाकी आंन, तेजवंत दीपै जिम भांन।
राज करै श्रीअवरंगसाहि, जाकै नहीं किसी परवाहि ॥

Lohat, a famus poet of Hindl literature completed his Yasodhar Chaupai in the year 1664 A. D. He gave some description of the Raja of Bundi named Bhavsingh in the following way :—

बूंदी इन्द्रपुरी जखिपुरी कि कुबेरपुरी,
रिद्धि सिद्धि भरी द्वारिका सी धरी धर में।
धौलहर धाम घर घर में विचित्र बाम,
नर कामदेव जैसे सेवे सुखसर में।
वापी बाग बारूण बाजार वीथी विद्या वेद,
विबुध विनोद जानि बोले मुखि नर में।
तहां करै राज भावस्यंघ महाराज,
हिन्दुधर्म लाज पातिसाहि आज कर में।

There are hundreds of the references in the Prasastis of the .texts written by the Jaina authors.

Apart from the historical material about the rulers, there is material for the Jaina Devans and Administrators of States like Jaipur, Jodhpur, Bikaner, Udaipur and Bundi. Jainas occupied high posts in the States and always remained loyal to their Rulers. The Devans and Administrators served the Rulers not only in the time of peace and prosperity but also in the time of the war and troubles.

For the history of some ancient cities and towns not only of Rajasthan but also of India, the manuscripts preserved in these Bhandars can supply material because in the most of the Prasastis the names of the cities and towns are invariably mentioned and some descriptions supplied.

Literary Centres

The Rulers of Rajasthan States took great interest in literature and patronised poets and scholars, Charanas and Bhats who were court poets and created poetic literature. In the States there were Grantha Bhandars or Pothikhanas established by these Rulers. Such Bhandars are of great importance and exist in Jaipur, Alwar, Udaipur, Bikaner etc. The capitals of these States were the literary centres as the prominent Scholars used to live in the Darbars of these Rajput Rulers. The Darbars of Udaipur. Amer, Bikaner, Jodhpur and Bharatpur were well known among them. In the ancient time the cities like Champavati, Toda-Jaisingh, Malpura, Chittor, Nagaur, Merta, Jalore, Ranthambhore, Mandalgarh and Kumbhalgarh etc., were main centres.

But apart from these libraries patronised by the Rulers, there were several literary centres which were related to Jainas. These literary centres were generally called the Grantha Bhandars where the work for writing of new works and copying out the old ones used to be done by Scholars. The Grantha Bhandars or literary centres were under the spiritual heads of Jaina Church or scholars of high calibre. Jaisalmer, Nagaur, Ajmer, Baran, Fatehpur, Bikaner, Kotah, Ranthambhore, Dungarpur were the centres under the Bhattarkas or Jatis while the Bhandars of Sanganer, Jaipur, Bundi, Campawati, Udaipnr and Sagwara were under the scholars who were generally

requested by the house holders to compose works for the laity.

These Grantha Bhandars remained the centres of literary activities of many scholars. Padmanandi, Harisena (10th Century), Hari Bhadra Suri, Asadhar (13th Century), Bhattaraka Sakal Kirti (15th century), Bhuwan Kirti (16th Century), Subha Chandra (16th Century) Rajmalla (16th Century), Todarmal (18th Century), Jaya Chandra (19th Century), and hundreds of others composed new works sitting in these Bhandars. The work of copying out the manuscripts was also continuously done for years together in the Bhandars of Todaraisingh, Malpura, Jaisalmer, Nagaur, Ajmer, Amer, Champawati, Sagawara Udaipur, Dungarpur, Agra, Delhi, Patna, Surat, Khampat. These Cities remained big literary centres.

Educational Centres

The importance of the Jaina Grantha Bhandars is not only from the historical and literary point but they are equally important from the educational point also. These Grantha Bhandars were great educational centres also. In the big centres like Amer, Ajmer, Jaisalmer, Nagaur, Sagwara, Bikaner, there were arrangements for imparting education to the adults and children. After primary education the students were taught Prakrit and Samsakrit. At least for every Jaina child primary education was socially compulsory and after completing his education, the students used to read Grammar, Kosa, Kavya, Dramas and books of Philosophy. The books on grammar, Kosa and Kavya were not restricted to works written by Jaina authors only, but the famous books on grammar like Saraswata, Siddhanta Chandrika, Katantra Rupmala etc. were also read. In lexicography, the books like Amar Kosa and Namamala of Dhananjaya were taught. In the Kavya literature, the Kavyas written by poets like Kalidasa, Bharvi, Harsa etc. were often studied.

In this respect the services of Bhattarakas like Shubha Chandra (2) (1393 to 1450 A. D.) Jina Candra (1450 to 1514 A. D.). Prabha Chandra (15th century A. D.), Sakal Kirti (15th Century), Subha Chandra (16th Century) Gyana Bhusana (16th Century) Davendra, Kirti (17th Century), etc. are remarkable. They were the main propogators of education. Under each of them there were hundreds of students getting education. Like Bhattarakas, Acharyas also rendered some services towards enhancement of education. There were hundreds of students under Acharya Hemachandra receiving education on various subjects. There was no systematic or classewise education but the students were educated on the basis of books.

Material for Art & Painting

The Grantha Bhandars of Rajasthan are equally important for illustrated manuscripts. The Jaina monks and Shravakas both took great interest in beautifying the manuscripts. They were the lovers of art and painting. These illustrated manuscripts are use-

ful for a study of the History of India miniature and painting. There are three kinds of illustrated manuscripts namely those of Palm leaves, paper and cloth. Besides these three main kinds, there are also wooden plates which have some coloured paintings. Illustrated Palm leaf manuscripts are found only in Jaisalmer Bhandars while the other kind of illustrated manuscripts are found in several Bhandars and mainly in the Bhandars of Jaipur, Mozmabad, Ajmer, Nagaur, Bharatpur, Baswa and Bundi. Though there is not a big number of the illustrated manuscripts yet the material which is found in these Bhandars of Rajasthan are sufficient to establish the importance of the Bhandars regarding painting and miniature.

Palm Leaf Manuscripts

In preservation of early paintings on Palm leaves, the Jaisalmer Bhandar is the foremost one. Though this Grantha Bhandar was established in the 15th Century the collection of the illustrated manuscripts throws light on the art of painting from the 12th to the 16th Century. There are 35 illustrations in all and the 2 illustrations which are related to Assembly Hall of Jinadatta Suri clearly shows that the old system of Paintings of Elora gardually developed further. There are many good illustrations on the mixture of Buddhistic and Jaina paintings. The illustrations on the life of Lord Neminatha reveal that the painters of the 12th Century were not limited to the paintings of the portraits only but they were experts also in making other paintings. The most wonderful paintings which has been found on the palm leaves relates to the illustration of lotus Creeper. The date of this painting must be about 12th Century. The system of this Patrika is just like the painting in Bharat and Bahubali Chand. But there is some special art in the ornaments. In one of the paintings, two ladies are shown enjoying boating.

Treasure Houses Earliest Written Manuscripts

The importance of these Grantha Bhandars is not only that these have thousands of manuscripts, but also on the basis that these Bhandars are the centres of earliest written manuscripts, whether the manuscript is on palm leaves or on paper. The Jain Grantha Bhandar possess earliest written manuscripts. The earliest manuscript written on palm leaves is of Samvat 1117 i. e. 1060 A. D. The name of the manuscript is Ogha Nirjukti Vratti composed by Dronacharya. The original book is in Prakrit while the commentary is in Samskrit. The Prasasti of the maunscript is as follows :—

संवत् १११७ मंगले महाश्री ।। छ ।।
पहिलेन लिखितम् मंगलं महाश्री ।। छ ।।

Now we shall give two important Prasastis of old manuscripts availble in the Granth Bhandars of Jaisalmer and wirtten on palm leaves :

(1) *Panchasara Prakarana Laghu Vritti* : (पंचसार प्रकरण लघुवृत्ति) The manuscript was writen in the year 1064 A. D.

by Jasodhara. It is preserved in Birhad Gyana Bhandar, Jaisaimer, the Prasasti of which runs as under :—

संवत् ११२१ ज्येष्ठ सुदि ११ बुधदिने जसोधरेण लिखितम् ॥

(2) *Kuvalayamala Katha* (कुवलयमाला कथा) of Udyotan Suri was written in the year 1082 A. D. The work is in Prakrit and has 254 folios of 25¼" X 2" size. In the Prasasti only name of the year has been mentioned.

संवत् ११३९ फाल्गुन बदि ? रविदिने लिखितमिदं पुस्तकमिति ।

Treasure Houses For Non-Jaina Works

The Grantha Bhandars are not only the treasure houses for the books written by the Jaina writers but they are also the good centres for the manuscripts written by the scholars other than Jainas. The Sadhus and also the house-holders made no difference while collecting the manuscripts for these Bhandars and they collected giving them the some importance to the manuscripts wriiten by non-Jaina scholars also. Some of the manuscripts are also such which are available in these Jaina Bhandars alone. In this respect the Grantha Bhandars of Amer, Jaipur, Nagaur, Bikaner, Jaisalmer Churu, Kotah, Bundi and Ajmer are important.

The Jaina Scholars not only saved the manuscripts from destruction but also wrote commentaries, Vrittis, and Bhasyas on them. They translated them into Hindi and gave full support for their wide circulation.

The manuscripts relating to the subject of Kavya, Katha, Vyakarana, Ayurveda, Jyotisa and subjects of other general interest are found in good number. Manuscripts even on the religious subject based on the Smritis. Upnisadas. Samhitas, Brahmanas are also available in collection of these Bhandars. There are about 500 manuscripts only in Jaina Shastra Bhandar of Mandir Patodi Jaipur on the above subjects.

The manuscript of Kavya Prakasa of Mammata written in the year 1158 A. D. exist in the Jaisalmer Bhandar. It was written in Anhilpattan when King Kumarpala was the Ruler.

सागरमल जैन 'साथी'

भगवान महावीर के प्रति

देव तेरी लौ जलायें ।
विश्व के इतिहास में, अनूठा तुमने स्थान पाया ।
विश्व के कल्याण को, आदर्श का माध्यम बनाया ।।
मानवीय-परम्परा का, किया उच्च विकास तुमने ।
दानवी दुवृत्तियों का, किया सफल विनाश तुमने ।।
आत्म-मूलक साधना में, नया तुमने प्राण फूंका ।
आत्म घाती-पाप मूलक, वासना का स्रोत सूखा ।।
साधकों की भूमिका, कितनी परम पावन बनाई ।
शिवं, सत्यं, सुन्दरं की, सुधा-शैवलिनी बहाई ।।
आप्त ! मीमांसा तुम्हारी, आत्म-अनुभवगम्य पाये ।
देव ! तेरी लौ जलायें ।।

तामसिकता दूर सात्विक-वृत्तियों को ठेलती थी ।
मूक प्राणों से अहर्निश, अधिक खुल कर खेलती थी ।।
स्वर्ग--प्रेषण का पुरोहितवाद था कैसा निराला ।
धर्म सूत्रों में अधार्मिक-सूत्र का था बोल बाला ।।
वधक-बोधक, वध-विरोधी, सफल आन्दोलन चलाया ।
तिमिर पूरित मन्दिरों में, ज्ञान का दीपक जलाया ।।
अहिंसा के अस्त्र से, जगने अभय सन्देश पाया ।
क्रूर हिंसक भववृत्तियों का, भावना में अन्त आया ।।
अहिंसा के जलद से, विध्वंस दावानल बुझायें ।
देव ! तेरी लौ लजायें ।।

अर्थ की अभ्यर्चना बस, लोक-मानस कर रहा था ।
समर से जर्जरित जग का, घाव भी कब भर रहा था ।।
अर्थ ने पतनोन्मुखी, वैषम्य का निर्झर बहाया ।
ऊर्ध्वगामी धर्मगुरुओं को, अधोगामी बनाया ।।
अर्थ के केन्द्रीकरण को, अनर्थों का मूल माना ।
रक्त शोषक-वृत्ति को, आदर्श के प्रतिकूल माना ।।
धर्म अपरिग्रह बताया, स्वयं पर रखने नियंत्रण ।
शान्ति मूलक क्रान्ति करने के लिए वह था निमंत्रण ।।
विश्व के वैषम्य की, स्थायी चिकित्सा कर दिखायें ।
देव ! तेरी लौ जलायें ।।

निन्दनीय परम्परा ने, वर्ण-भेदों को बढाया ।
पाठ कल्पित उच्चता का, दिवा-अन्धों को पढाया ।।
मनुज के मौलिक अखिल-अधिकार जिसने कुचल डाले ।
पतित-पावन देवता के, द्वार पर लग गये ताले ।।

एक मानव-जाति का, दैवी बिगुल तुमने बजाया।
क्षेमकारी क्षीर-नीर-विवेक को, सहसा जगाया।।
उच्चतम-आचार से ही, उच्चता की सृष्टि होती।
आत्म-शोधक दृष्टि से ही, सद्गुणों की वृष्टि होती।।
आज फिर आचार और विचार को ऊंचा उठायें।
देव! तेरी लौ जलायें।।

नारियों की योग्यता पर, आक्रमण नर कर रहे थे।
पक्ष-पोषक शास्त्र के, उद्धरण आगे धर रहे थे।।
विशद पातिव्रत-प्रणाली, स्वार्थ का संबल बनी थी।
प्रथा के कारागृहों में, नारियां दुर्बल बनी थी।।
साधना में स्थान स्त्री को, पुरुष के समकक्ष दे कर।
अन्धश्रद्धा से किया विद्रोह, सच्चा पक्ष ले कर।।
नारियों का स्वाभिमान, सहस्र रूपों से जगाया।
हृदय से दौर्बल्य-सूचक, हीन भावों को भगाया।।
आज महिला-जाति की फिर, सुप्त आत्मा को जगायें।
देव! तेरी लौ जलायें।।

सत्य शोधक दार्शनिकता, दुराग्रह में फंस रही थी।
शुष्क तार्किकता समुज्वल, तत्त्वबल को डस रही थी।।
शान्ति का स्थल धर्म भी, संघर्ष का स्थल हो रहा था।
एकता का अमर गायक, एकता को खो रहा था।।
दार्शनिक संसार को, स्याद्वाद का अमृत पिलाया।
पूर्व-पश्चिम से विरोधी, तत्त्व सूत्रों को मिलाया।।
समन्वय की दृष्टि ने, संघर्ष का कारण मिटाया।
संकुचित चिन्तन-प्रणाली में, स्वतः औदार्य आया।।
समन्वय की साधना से, सांप्रदायिकता मिटायें।
देव! तेरी लौ जलायें।।

बीसवीं इस शताब्दी के, मोड़ पर हम रह रहे हैं।
गगनचुम्बी महल कितने, ढह गये हैं, ढह रहे हैं।।
क्रान्ति की अभिव्यक्तियां, अस्तित्व को देती चुनौती।
जागरण के क्षणों में, जलती नहीं निस्नेह ज्योति।।
शब्द की अभिव्यंजना को, क्रिया की रहती अपेक्षा।
अन्यथा निर्जीवता से, प्राप्त होती है उपेक्षा।।
समय है; आदर्श को, व्यवहार में साकार कर के।
वंचना की व्याधियों का, मूल से उपचार कर के।।
योग्यतम अनुगामिता का, दीप आकाशी जलायें।
देव! तेरी लौ जलायें।

Dr. K. C. Jain, M.A., Ph.D.
Government College, Ajmer.

HISTORY OF NAGARI

Nagari, one of the oldest towns, not only of Rajasthan but of India, is situated at a distance of 8 miles from Chittor. Its ancient name was Madhyamika. There are legendary traditions about the antiquity of this place.

Along with Vaishnavism, Jainism and Buddhism also continued to exist at Nagari.

NAGARI, one of the oldest towns not only of Rajasthan but of India, is situated at a distance of 8 miles from Chittor. Its ancient name was Madhyamika. There are legendary traditions about the antiquity of this place.[1] The old remains discovered in the excavations prove that this town flourished from the Mauryan period up to the Gupta period. The punch marked coins were also found in a large number.[2]

In the third or second century B. C., Nagari was a place of importance. At this time, Gajayana Sarvatata, son of a lady of the parasara Gotra[3], constructed the *Pujasilaka Prakara* for the divinities Samkarshana and Vasudeva and has performed an Asvamedha sacrifice at Madhyamika[4]. The place, where the sacrifice specially the Asvamedha is celebrated, could not but be the capital and the person, who performs it, is the paramount sovereign who alone is entitled to perform that sacrifice. Now who could this Gajayana Sarvatata be? Dr. Bhandarkar takes him to be the Kanva ruler[5]. His view does not seem to be tenable because Kanvas were ruling over Magadha with Pataliputra as their capital. Their empire was not so extensive as to include region of Rajasthan. Besides, the ruler named Sarvatata is not included in the list of Kanva rulers. He may be the ruler of some local Parasara Brahmanical dynasty ruling over this area.

In about second century B.C. Nagari seems to have been attacked by the Greeks, who aspiring for becoming the supreme rulers of India, cannot possibly leave the king of Madhyamika unvanquished. Patanjali[6] (150 B. C.), the grammarian speaks of Madhyamika as being besieged by a Yavana king and refers to it in such a manner as to show that this event took place in his time. The Greek king has been identified with Menander who invested this

1. ASC., VI, p. 196.
2. IAr, 1957-58, p. 63.
3. **Parasara Brahmanas are found in a large number at Pushkara**
4. EI, XXII, p. 198.
5. **Ibid., p. 205.**
6. **Mahabhashya 3-2-111**

town. His silver coins also have been discovered[1].

In the first century B. C. Nagari seems to have been occupied by Sibis. The Sibis as known from the *Mahabharta* originally settled in the Punjab. When their homeland was threatened by the foreigners, they migrated to Rajputana where they settled in the district around Madhyamika. Coins of the Sibi tribe found in this area have the legend '*Madhyamika Sibi Janapadasa*' i.e. Coins of the Sibi State struck as Madhyamika in a script of the first century B. C[3].

The fact that with the rise of the Kestern Kshatrapas from the second century A. D., Nagari seems to have been conquered and annexed to their dominions, is known from the testimony of their coins. In the third century A. D., the Malavas did not permit the kshatrapas to rule over them peacefully. From the inscription of Nandasa[3], a place near Nagari in Udaipur district, it is known that a Malava leader named Sri Soma raised the standard of revolt and celebrated in 225 A. D. the *Ekashashti sacrifice* to proclaim the independence of his republic. Curiously, this record does not mention the name of the enemies defeated but it is clear that they could not have been none other than the Western Kshatrapas.

Tha Malava rule appears to have been supplanted the Hunas from the sixth century A. D.[4] A fragmentary inscription of about the sixth century A. D. discovered at Chittor, probably brought from Madhyamika mentions *Rajasthaniya* of Dasapura (Mandasor) governing Madhyamika[5]. From the Mandasor inscription dated 532 A. D. it is known that Abhayadatta of the Naigama family performed the functions of *Rajasthaniya* of some ruler of the Aulikara dynasty of Dasapura. He protected the region containing many countries presided over by his own upright counsellors[6]. The *Rajasthaniya* mentioned in the Chitor inscription might have performed the same functions. The relations between the Hunas and Aulikaras are not definitely known. This place was well known to Varahamihira who lived in the fifth or sixth century A. D. After the Hunas, the Mauri rulers took possession of this place in about the seventh century A.D. In course of time, they deserted it and went to Chitor where they constructed the fort[7]. This place seems to have retained this name upto the

---

1. RIO, p. 111.
2. ASC, VI, pp. 198-204; See also I. Ar., 1957-58, p. 63.
3. EI, XXVII, p. 265; See also ASC, VI, p. 201.
4. BCV, p. 216.
5. IAr. 1958-59, p. 65.
6. CII, III, p. 52 (V17)
7. JNSI, XVII (1955)
8. VV., p. 163.

eleventh century A. D. as it is clear from the *Vipakasutra* of Abhayadeva Suri.[1]

Madhyamika was a place of great importance from the religious point of view. We come across the early traces of three great religions of India namely Vaishnavism, Jainism and Buddhism. The cordial relations seem to have existed among their followers who erected excellent buildings of worship for their religious divinities.

The earliest trace of Vaishnavism is noticed at Nagari. An inscription of about the third or second century B.C. speaks of the erection of a *Pujasila-prakara* by Saravatata Gajayana, son of a lady of the Parasara Gotra for the gods Samkarshana and Vasudeva. According to Dr. Bhandarkar[2], *Puja-silaprakara* may mean a stone enclosure round an object of worship to distinguish it from enclosures surrounding residential buildings. But this interpretation is doubtful. *Pujasila* and *Prakara* were two different things. Two things were erected in *Narayana-vatika*. One is *Silapata* for worship and the other was the surrounding wall. It was just like the *Ayagapatta* of the Jainas. In ancient times, temples appear to have been built in this form. *Silapata* was on the platform which was surrounded by the walls. It was known as *Narayanavatika*. This is the earliest mention of the existence of the Vaishnava temple. The next earliest trace of this type of temple is found at Besanagar in Madhyadesa. Narayanavatika continued to be associated with Vaishnavism because there are letters *Shri 'Vishnu Padabhyam'*[3] engraved in the characters of the seventh century A. D. on a stone of the wall of the enclosure.[4] Besides, there was another temple of Vishnu built in the fifth century A.D. An inscription found at Nagari dated 424 A. D. records the erection of a temple over foot marks of Vishnu by Satyasura and his brothers who were Vaisya by caste[5]. Fragment of an *amalaka*, the crowning members of a Sikhara temple unhearted at this place and datable in the fifth century A. D. testify to the existence of the *Sikhara* temple as early as the Gupta period[6]. With the rise of Vaishnavism, there started a revival of the Vedic sacrifices. The Vajapeya sacrifice was performed in the fourth century A. D. by some person, and his sons erected a Yupa in order to commemorate it[7].

1. JASG, p. 187.
2. PRAS, wc., 1916, p. 49.
3. EI, XXII, p. 198.
4. This enclosure is known as *Hathibada* because when Akbar came here to reduce Chitor, he used it as his elephant stable. Actually, it is not a structure of the Muhammadan period. The high massive dressed blocks of stone piled one upon another into this structure point out to the much early period.
5. ARRMA, 1916, p.2.
6. KHT II, p. 348.
7. URI, p. 55.

Along with Vaishnavism, Jainism and Buddhism also continued to exist at Nagari. Jainism was probably found in about the fifth century B. C. as it is clear from the Badali inscription which mentions the place Majhamika.[1] The Majhamika branch of the Jaina church Organization mentioned in the *Sthiravali* of the *Kalpasutra*[2] became famous after the name of this place. Priyagantha, the second pupil of Susthita and Supratibuddha, founded this branch in about the third century B. C. Some Kushana inscriptions of the second century A.D. of the *Madhyamika Sakha* are found at Mathura.[3] This indicates that the *Sravakas* of the Madhyamika migrated to Mathura where they settled. Like the Jainas, a sect known as Madhyamika among the Buddhists arose probably from this place[4]. It does not seem to be doctrinal but territorial in origin. The Madhyamikas emphasized on Nihilism. An inscription of about the third century B. C. with the meaning 'constructed for the welfare of all living beings' has been discovered[5]. It may be either of the Jainas or the Buddhists.

One Stupa has been discovered at Nagari. It is constructed of moulded bricks and decorated with teracotta tiles of high artistic merit rivaling those of the best kind in Gandhara. These terracotta tiles are of three types-1). Moulded bricks with human busts (2) Moulded bricks with animals in profile and (3) Moulded bricks with floral decorations. The art of this place does not seem to have been influenced by the Greeks but is an independent artistic creation of the Sibis.[6] Actually, it does not seem to be the creation of the Sibis as Dr. Bhandarkar thought. It should belong to a period when moulded brick temples decorated with terracotta figures were in vogue. It is in the Gupta period when we first meet such stupas and temples. Scholars hold that it was the Buddhist Stupa but there is nothing definite to prove it. As Madhyamika was also associated with the Jainas in early times, it may also belong to them. The Jainas are noticed in erecting the stupas in early times at Mathura and other places. This stupa was converted into the Saiva temple in the fifth century A. D.[7] There is a stone *Torana* or arched gateway of the fifth century A. D. which was constructed when the stupa was converted into a Saiva temple. Most probably, this conversion was done by the Hunas who remained associated with this place. Mihirakula, who was the follower of Saiva religion, performed persecutions both on the Jainas and Buddhists. Probably, it was converted into Saiva temple at that time. × × ×

1. NJI, p 402, Dr. Sircar thinks that it is not a BC. See JBORS, March 1954, p. 8.
2. SBE, XXII, p. 293.
3. EI, pp. 381-97 (Jaina Inscriptions from Mathura)
4. Sadasadvada by Pt. Madhusudana, p. 15. The author mentions other Buddhist sects, along Madhyamika, such as the Vaijananika, Srotarantika and Vaibhashika.
5. URI, p. 54.
6. PRAS wc., 1916, p.49.
7. PRAS. wc., 1916, p. 49.

Abbreviations

1. ASC = Archaeological Survey of India Reports by Sir Alexander Cunningham.
2. IAR = Indian Archaeology.
3. EI = Epigraphia Indica.
4. RIO= Rajasthan Ka Itihasa by Ojha.
5. BCV = Bhandarkar Commemoration Volume.
6 CII = Corpus Incriptions Indicarum.
7. JNSI = Journal of Numismatic Society of India.
8. VV = Viravinoda.
9. JASG = Jaina Agama Sahitya me Gujarat.
10. PRAS wc. = Progress Report Archaeological Survey, Western Circle.
11. ARRMA = Annual Report Rajputana Museum, Ajmer.
12. KHT = Hindu Temple by Stella Kramrish.
13. URI = Udaipur Rajya Ka Itihasa by Ojha.
14. NJI = Nahar Jaina Inscriptions.
15. SBE = Sacred Books of the East.

दुखी विश्व को महावीर ने समता का संदेश सुनाया....

हिंसा से जलते प्रांगण में, करुणा का अमृत बरसाया ।
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ।।

अभी याद है वह दिन जब मानव ने खेली खूँ की होली ।
धर्म-आड़ में भाई ने भाई पर ही बरसाई गोली ।
लेकर नाम यज्ञ-बलि का, पशुओं की मारी जाती टोली ।
मांस और मदिरा के भक्षक, पूजे गये लगाकर रोली ।
दूर किया पाखण्ड, धर्म का जग को सच्चा रूप दिखाया ।।
खी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ।। १ ।।

चैत्रमास की त्रयोदशी को कुण्डग्राम में जन्म लिया था ।
पिता-नृपति सिद्धार्थ तथा मां त्रिशला को सानन्द किया था ।
था निःस्वार्थ प्रेम की प्रतिमा, सहज साधनायुक्त हिया था ।
तपी, संयमी, सेवक, त्यागी, ज्ञान-प्रकाशी दिव्य दिया था ।
उसने जग को सात तत्व व नव पदार्थ का भेद बताया ।।
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ।। २ ।।

"मैं ऊंचा हूँ, वह नीचा है," यह विचार होगा दुखदाई ।
राग-द्वेष से युक्त, जीव ने बतला शान्ति-सुधा कब पाई ।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कहकर करता है व्यर्थ लड़ाई ।
त्यागो क्रोध, लोभ, माया को, पाटो द्वेष दम्भ की खाई ।
छोटा-बड़ा कौन है पगले, सब में उसी तत्व की छाया ।।
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ।। ३ ।।

"मेरी बात सही, वह झूठा," यह एकान्त राह को रोड़ो ।
स्याद्वाद का सारयही है, हठ धर्मी से मुखड़ा मोड़ो ।
भावशुद्धि के लिये तपस्या करो, ढोंग का पल्ला छोड़ो ।
सहन शीलता, क्षमा, त्याग से टूटे हुए हृदय को जोड़ो ।
शान्ति आत्मा के अन्दर है, व्यर्थ पोसता नश्वर काया ।।
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ।। ४ ।।

हो आचार अहिंसामय, व्यवहार प्रेम की पावन धारा ।
अनेकान्त हो यदि विचार मे, जीवन होगा सुखी तुम्हारा ।
जीवो-जीने दो सबको; यह महावीर का पावन नारा ।
मूढ़ समझता नहीं, किन्तु है समझदार को एक इशारा ।
इच्छाओं को जीत, संयमी बना, साधना को समझाया ।।
दुखी विश्व को महावीर ने समता का सन्देश सुनाया ।। ५ ।।

—श्री प्रसन्नकुमार सेठी
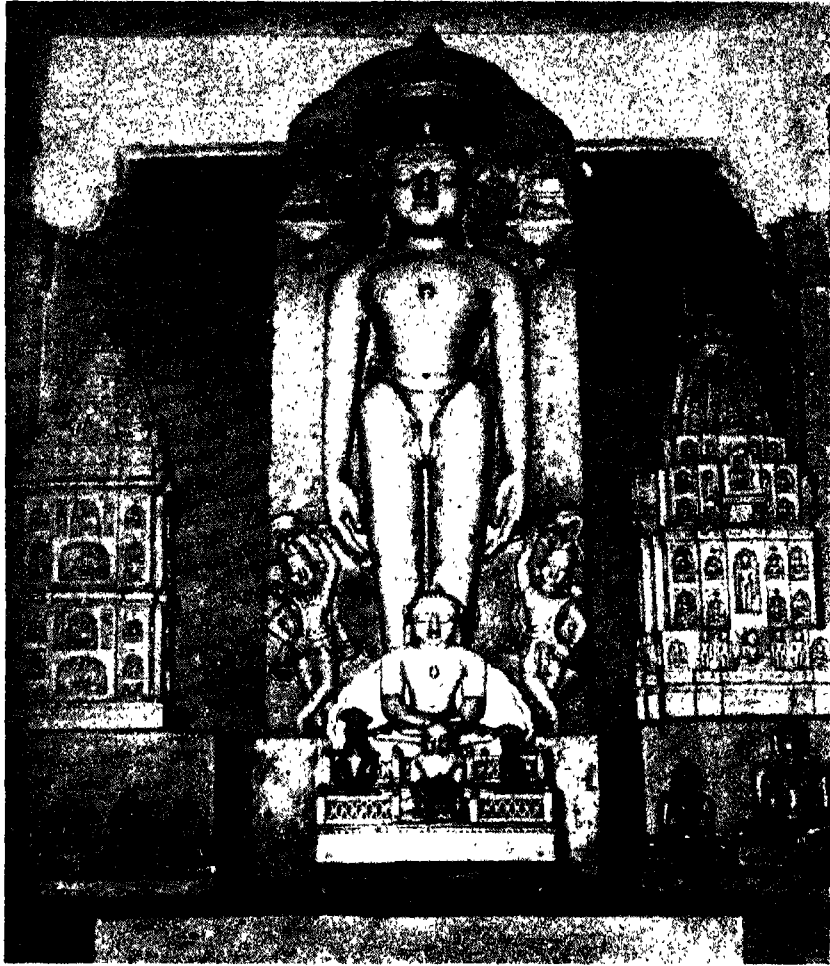
बीकानेर के जैन मन्दिर के भीतरी भाग का एक दृश्य

श्री अगरचन्द नाहटा

श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य

उत्तर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है। हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती का तो अपभ्रंश से सीधा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन भाषाओं को अपभ्रंश की देन महान है। ५० वर्ष पहले तो अपभ्रंश जैन ग्रंथों को प्राकृत भाषा का माना जाता रहा इसलिए इनके महत्व को ओर विशेष ध्यान नहीं गया। पर पाश्चात्य जर्मन विद्वान डा० हर्मन जेकोबी को जब सर्व प्रथम धनपाल की अपभ्रंश की रचना 'भविसयत्त कहा' मिली तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उनको प्रकाशित करने और उसकी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने को बड़े उत्साहित हुए। उसके बाद जैन भंडारों की ज्यों-ज्यों खोज होती गई, बहुत सी अपभ्रंश रचनाएं मिलने लगीं। कुछ बौद्ध रचनाएँ भी मिलीं। उन सबको बहुत ही महत्व की मान कर हिन्दी और गुजराती के विद्वानों ने अपने साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में उनका उल्लेख करना प्रारम्भ किया और अब तो अपभ्रंश साहित्य इतना अधिक प्रसिद्ध हो चुका है कि उसके सम्बन्ध में कई शोध प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। इधर कुछ वर्षों में दिल्ली, आमेर, जयपुर, नागौर, अजमेर आदि के दिगम्बर जैन भण्डारों में बहुत सी अज्ञात रचनाएं मिली हैं। जिनमें से कुछ की जानकारी तो अभी तक उन भण्डारों की सूची बनाने वाले या उन भण्डारों का अवलोकन करने वालों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों को नहीं है। वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित "अनेकान्त" में अपभ्रंश के ग्रन्थों की प्रशस्तियां प्रकाशित हुई और जयपुर से प्रकाशित प्रशस्ति-संग्रह में भी कुछ अपभ्रंश ग्रन्थों की प्रशस्तियां छपी थीं पर उसके बाद तो और भी बहुत से अपभ्रंश ग्रन्थ मिले हैं उनकी जानकारी शीघ्र ही प्रकाश में लाना आवश्यक है।

> जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं-दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा में बहुत से ग्रंथ लिखे हैं। दिगम्बर ग्रन्थ एक तो बड़े बड़े हैं और संख्या में भी अधिक हैं इसलिए उनकी ओर विद्वानों का जितना ध्यान गया है, उतना श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाओं की ओर नहीं गया है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य पर विशद प्रकाश डाला है।

जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा में बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। पर दिगम्बर ग्रंथ एक तो बड़े हैं और संख्या में भी अधिक हैं इसलिए उनकी ओर विद्वानों का जितना ध्यान गया है, उतना श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाओं की ओर नहीं गया है। कई रचनाओं का उल्लेख जैसलमेर और पाटण भण्डार के ताडपत्रीय ग्रंथों की सूची (सन् १९३७) में काफी वर्षों पहले प्रकाशित हो चुका है। जैन साहित्य महारथी स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने 'जैन गुर्जर कवियो' के प्रथम भाग के प्रारम्भ में उनका विस्तृत विवरण भी दिया था और पण्डित लालचन्द भगवानदास गांधी ने अपभ्रंश काव्यत्रयी में भी कुछ रचनाओं का उल्लेख किया था पर इन ग्रन्थों की ओर हिन्दी के विद्वानों ने कम ही ध्यान दिया। इसलिए डा० हरिवंश कोछड़ के 'अपभ्रंश साहित्य' नामक शोध प्रबन्ध में भी साधारण कविरचित 'विलास वई कहा' जैसे महत्वपूर्ण श्वेताम्बर अपभ्रंश कथा ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं हुआ जब कि इसका

विवरण अब से ३६ वर्ष पूर्व जैसलमेर जैन भण्डार के सूचीपत्र में प्रकाशित हो चुका था। इसी तरह पाटण भण्डार की सूची में भी अनेक फुटकर अपभ्रंश रचनाओं का विवरण छपा था, उनका भी पूरा विवरण इस शोध प्रबन्ध में नहीं मिलता। यद्यपि कुछ का उल्लेख उन्होंने किया भी है। उदाहरणार्थ जिनप्रभ सूरि की तीन रचनाओं का ही उन्होंने उल्लेख किया है जब कि उनकी अन्य कई रचनाओं का विवरण भी इसी पाटण भण्डार की सूची में छपा है जिसके कि आधार से उन्होने उनकी तीन रचनाओं का उल्लेख किया है। हिन्दी अनुशीलन में कुछ वर्ष पूर्व मैंने भी जिन प्रभसूरीजी की अपभ्रंश रचनाओं का विवरण प्रकाशित किया था पर उस लेख की ओर भी किसी का ध्यान नहीं गया प्रतीत होता है। इसी तरह राजस्थानी पत्रिका में "अपभ्रंश के सन्धि काव्य और उनकी परम्परा" नामक मेरा लेख छपा था उसमें भी जिनप्रभ के अपभ्रंश के सन्धि काव्यों का विवरण दिया गया उसकी ओर भी किसी का ध्यान नहीं गया। कुछ अपभ्रंश रचनाएं तो हमने अपने ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह और दादाजिनदत्तसूरि आदि पुस्तकों व पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित भी करदी हैं। अपभ्रंश भाषा का सबसे बड़ा श्वेताम्बर महाकाव्य हरिभद्र सूरि कृत 'अरिट्ठनेमिचरिय' अभी तक अप्रकाशित है। इसी तरह साधारण की 'विलासवई कहा' भी। इन दोनों महत्वपूर्ण श्वेताम्बर ग्रन्थों की ताडपत्रीय प्रतियां पाटण और जैसलमेर के भण्डारों में है। अरिट्ठनेमिचरिय का एक अंश 'सनतकुमार चरिय' तो डा. हरमन जेकबी ने प्रकाशित किया था, उसी का उल्लेख डा. कोछड़ ने किया है।

इसके अतिरिक्त कुमार पाल प्रतिबोध में भी कुछ अपभ्रंश कथाएं मिलती हैं। और उनकी जानकारी तो प्रकाश में आगई है क्यों कि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। पर श्वेताम्बर ग्रन्थों की टीकाओं में अपभ्रंश भाषा की कथाएं प्राप्त होती हैं। उनकी ओर अभी तक हिन्दी के किसी विद्वान का ध्यान नहीं गया है। मुनि पुण्य विजयजी ने ऐसे ग्रन्थों में से देवेन्द्र सूरि कृत, उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति, रत्नप्रभसूरिकृत उपदेश माग दोघटी वृत्ति, मूल शुद्ध प्रकरण वृत्ति, आख्यानमणि कोष वृत्ति और भव-भावना प्रकरण, स्वोपज्ञ वृत्ति का उल्लेख किया है। संयम मंजरी वृत्ति का परिचय मैंने हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित किया था। प्रस्तुत लेख में उपदेश माग दोघटी-वृत्ति में जो अपभ्रंश के छः संधि काव्य प्रकाशित हुए हैं उनका संक्षिप्त परिचय करवाया जा रहा है। यह वृत्ति २३ वर्ष हुए श्री आनन्द हेम जैन ग्रन्थमाला द्वारा आचार्य हेम सागर सूरि सम्पादित प्रकाशित हुई है। इस वृत्ति के प्रथम विश्राम में ऋषभ पारणक संधि, द्वितीय विश्राम में गजसुकुमाल मुनि संधि और तृतीय विश्राम में शालिभद्र महर्षि संधि, अवन्ति सुकुमाल संधि (मेतार्थ मुनि संधि प्राकृत) और पूरण संधि, नामक अपभ्रंश कथा प्रकाशित हुई हैं और अन्य भी कुछ कथाओं में अपभ्रंश भाषा के प्राकीर्णक पद्य प्राप्त होते हैं। अपभ्रंश के संधि काव्यो की भाषा और शैली का पाठकों को परिचय मिल सके इसलिए उनके प्रारम्भ और अन्त के कुछ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

१ ऋषभ पारणक संधिपद्य ७८:—

आदि—जंकर पावपंकु पक्खालइ,
भवियह मोक्ख सोक्खु दिक्खालइ
संधि बंध संबंध खत्तउ,
चरितु न रिसहैजिणिंदह वत्तउं ॥ ३ ॥
दाहिण मेरहखंड चूडामणि,
सावं सुवत नाई सोयामणि।
अत्थि अउज्झ नाभि सुपसिद्धो,
नयरिपउर धणद्दन समिद्धो ॥४॥
अन्त—दससहसिहि साहुहुं सहमह,
बाहुहं अठ्ठावई विच्छिअरिणु।
माहाइमतेरसि, निरुपम सुहरसि,
गउ निव्वाणि जुगाई जिणु ॥ ७८ ॥

२. चन्दन वालावीर पारणासंधि पद्य १०१

आदि—तिसला देविक्कुक्खिकल हंसह,
खत्तियनावस अवयंसह।
छिन्न सुवन्न सुवन्न सरीरह,
पारणसंधि भणउं जिणवीरह ॥१॥

दहिणभरहखंडि संजायउ,
खत्तिय कुंडु गामु विक्खायउ ।
तुंगतारयाया रविराइउ,
मासि नयरु न परेहिं पराइउ ।।२।।
अंत—सिरितिसलानंदणु कणयच्छवितणु,
पज्जंकासणसंठियउ
कतिपभाव ऐसहि साईहिं गोसहिं,
एक्केच्चिवणु निव्वाणि गउ (१०१)

३. गज सुकुमाल सन्धि पद्य, ८५

आदि—आसि नयरि बारवइ पसिद्धिय,
सावसुवन्नसमिद्धिय ।
जा जोयणबारह दीहत्तणि,
सविक कराविय नवपहुलत्तणि ।।१।।
जहिं धणकमयकोडिसज्जिज्जहिं,
दाणि मणोरह जणह न पुज्जहिं ।
भीसिमइनिच्छारियरोगिहिं,
धन्नंतरि मन्नियइ न लोगिहिं ।।२।।
अंत—इस गयसुकुमालिहि,
चरिउ अबालहि, अइ साहसनिब्बाहवरू ।
जो पढ़इ भत्तिभरि, गुणई महूरसरि,
जाइ दूरितसुदुरियभरु ।।८५।।

४. शालिभद्र महाऋषि संधि पद्य ४४

आदि— सालि 'गायु' नामेण प्रसिद्धओ,
आसि गायु धणधन्न समिद्धओ ।
धन्नानामि कावि विहवगण,
तहिं कम्मयरी आसि अकिंचण ।।१।।
अंत— इलते रखीणयउ जाया,
अन्मुयदावि देव सवठ्ठिअर ।
अहंतम्मि विमुक्कइ नरभवि,
दुक्कइ सिज्झिस्सहिं निरु एत्थु वर ।।६४।।

५. अवन्ति सुकुमाल सन्धि पद्य ५७

आदि—इह अत्थिनयरि नामिण अवंति,
जहिं तुंगभंगचे इय सहंति ।
तहताण पुरउ सुपयट्ट भट्ट,
चच्चर-चउक्क-चउहट्ट-हट्ट ।।१।।
कण कणि रकणयकिंकिणिसएहिं,
महल हरि पहल्लिर पल्लवेहिं
जा हसइ सग्गि पुरपायवेहिं,
तह तउ वइ, सज्जिय वयवहिं ।।२।।

अन्त—कालक्कमि जायउ सो किक्खायउ, तित्थु तित्थु लोयहं तणउ । 'महाकालु' कहिज्ज अज्जवि, विज्जइ मणि सियालि सवग जुयउ ।। ५७ ।।

पुरणार्ष संधिपद्यउरे

आदि—अत्थि एत्थुजं भरहवासंमि वेमेलउ नामिभुक वाविकूवेदे उलसमन्निउ. तहिं निवसइ सव्वगुणु पुरसु त्ति उत्तम कुडुंबिउ ।
जसु दीसहिं घरि उव्व कु रुइकंचण घणधन्नाह,
जे पुणहरि करह प्पुमुंह संल कुजाणईलाह ।। १ ।।

अन्त—चमरु पत्तउ चमरच चाहिंअच्चेवि नच्चेवि तेहिं पुरकबुद्दि लुद्दउ, विसज्जिवि, परमपरपय पहु पुर उतर सददुसंगेउ सज्जिवि,

अवसरि वीरजिणेसरू विकाउसग्गु पारेइ,
जिव जंगमु वरंकप्पतरू महिमंडलि विहरेई ।।३२।।

कालिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र सूरि ने 'मूल शुद्धि प्रकरण' की टीका १३००० श्लोकों की बनाई है। उस टीका में 'सुलसुक्खाणु' अर्थात् सुलसाख्यान नामक १७ कडवक का एक पूरा अपभ्रंश काव्य है, इसके सम्बन्ध में जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस के मुख पत्र "जैन युग" में करीब ३० वर्ष पूर्व लेख प्रकाशित हुआ था पर हिन्दी के किसी विद्वान का इस महत्त्वपूर्ण काव्य की ओर ध्यान नहीं गया। इसके अन्त के पद्य इस प्रकार हैं:—

अेह संधि पुरुषत्थ वसत्थिय,
देवचंदसूरी हीं समत्थिय ।
इय बहुगुण भूसिउ जिगरसु पसंसिउ,
सुलस चरिउम्मत्थि यहं ।
निसुणंत पढंतह मत्तिये,
संतण मोक्खु मोक्खत्थियहं ।

प्रस्तुत अपभ्रंश काव्य मूल शुद्धि टीका के अन्तर्गत सिन्धी जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित होने वाला है। देवेन्द्रसूरि की उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति और मलधारी हेमचन्द्र सूरि की भवभावना स्वोपज्ञ वृत्ति तो प्रकाशित हो चुकी है, आख्यान मणि-कोष वृत्ति प्रकाशित होने वाली है। इनके अतिरिक्त संवत् ११६० में वर्द्धमान सूरि रचित आदिनाथ चरित्र संवत् ११९९ में लक्ष्मण गणि रचित सुपास नाह चरियं और देवेन्द्रसूरि रचित शान्तिनाथचरित्र नामक प्राकृत काव्यों में भी बीच बीच में अपभ्रंश के पद्य प्राप्त होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धत अपभ्रंश के दोहे तो प्रसिद्ध हैं, पर उन्हीं के छन्दोनुशासन में प्राप्त अपभ्रंश पद्यों की ओर प्राय: ध्यान नहीं गया है। वरदत्त रचित वयरस्वामी चरित्र दो सन्धियों का अपभ्रंश काव्य है जिसमें १२ और ९=कुल २१ कड़वक है। पाटण और खंभात के भंडार में प्रतियां हैं। रचना का परिमाण ३०० श्लोकों का है। इसके भी प्रारम्भ और अन्त के कुछ पद्य 'जैन गुर्जर कवियों के प्रारम्भ में दिये गये हैं। जूनी गुजराती नो इतिहास' के पृष्ठ ७३ में उद्धृत है। उक्त ग्रन्थ में और भी कई श्वेताम्बर अप-भ्रंश रचनाओं का विवरण ३६ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। अपभ्रंश भाषा का १२वीं–१३वीं शताब्दी तक काफी प्रभाव था। इसीलिए उपरोक्त श्वेताम्बर प्राकृत ग्रन्थों में अपभ्रंश की कथाएं एवं फुटकर पद्य उद्धृत मिलते हैं। आचार्य हेमचन्द ने अपभ्रंश का व्याकरण ही बना दिया एवं देसी नाम माला और छन्दोनुशासन में भी अपभ्रंश शब्दों एवं पद्यों को उद्धृत किया है। १४वीं शताब्दी तक की राजस्थानी–गुजराती रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव अच्छे रूप में मिलता है और जिन प्रभसूरि जी आदि की कई अपभ्रंश रचनाएं भी १४ वीं शताब्दि की प्राप्त होती है। १५ वीं शताब्दी के प्राचीन राजस्थानी या गुजराती रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव कम बहुत होता गया है।

श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाएं चाहे दिगम्बर अपभ्रंश रचनाओं की अपेक्षा छोटी–छोटी और संख्या में कम मिलती हों पर उनका कई दृष्टियों से महत्व बहुत अधिक है। पहली बात यह है कि इन रचनाओं में विविधता बहुत अधिक पाई जाती है और अनेकों काव्य–रूप जिनकी परम्परा राजस्थानी एवं गुजराती भाषा में कुछ लम्बे काल तक चलती रही है, उनका मूल श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाओं में मिलता है। प्रान्तीय लोक भाषाओं में क्रमश: जो परिवर्तन आया उसका भी सबसे अधिक क्रमिक विकास का स्वरूप इन्हीं रचनाओं में प्राप्त होता है। वैसे छोटी–छोटी रचनाओं की संख्या भी कम नहीं है पर उनके संग्रहित करने का प्रयत्न जैसा चाहिए नहीं हुआ। उन रचनाओं की कई प्राचीन संग्रह प्रतियां मिलती हैं जिनमें कुछ ताड़ पत्र की १२वीं, १३वीं, १४वीं, शताब्दी की हैं और कागज की प्रतियां भी १४वी–१५वीं शताब्दी की बहुत सी मिलती हैं।

अपभ्रंश से हिन्दी भाषा का विकास किस तरह होता गया, इसके अध्ययन के लिए दिगम्बर अपभ्रंश व्रत कथाओं [1] का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। पर अभी उनकी ओर भी विद्वानों का ध्यान बहुत ही कम गया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने स्व. पण्डित महेन्द्र कुमार जैन का परिचय प्रकाशित करते हुए 'सरस्वती' में यह भी सूचना दी थी कि महेन्द्र-कुमारजी को किसी जैन भण्डार से अपभ्रंश गद्य की कोई कथा मिली है। अपभ्रंश गद्य की कोई स्वतन्त्र रचना अभी तक ज्ञात नही थी, अत: वह गद्य व्रत कथा शीघ्र ही प्रकाशित होनी चाहिए। इसी तरह संवत ११२३ में साधारण (सिद्धसूरि) रचित ११ सन्धिवाली 'विलासवई' कथा भी शीघ्र ही प्रकाशित होनी आवश्यक हैं। आशा है कि हिन्दी के विद्वान अपभ्रंश साहित्य की खोज विशेष तत्परता से करेंगे और उसके अध्ययन एवम् प्रकाशन में पूर्ण योग देंगे। ★

१. बाई अपभ्रंश व्रत कथाओं का विवरण मैंने जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित किया है। व्रतकथाओं की कई संग्रह प्रतियां श्री० दि० भंडारों में प्राप्त है। सुगन्धदसमी कथा सचित्र को हीरालालजी जैन छपवा रहे थे। उसे उन्हें शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये।

प्रो० नरेन्द्रकुमार भानावत,
एम. ए., साहित्यरत्न, हिन्दी विभाग, गवर्नमेन्ट कालेज बून्दी

'भगवान महावीर विषयक तीन वेलि-ग्रन्थ'

महान पुरुषों का गुण-गान करना भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक प्रमुख तत्व रहा है। कभी आत्म-निवेदन के रूप में कवियों ने अपने आराध्य की गुण-गरिमा का उद्घाटन किया है तो कभी इतिवृत्त के माध्यम से अपने चरित्र नायक की महानता का कीर्तन। रासो, रास, पवाड़ा, सज्झाय, विलास, मंगल, धवल, स्तवन, स्तोत्र, ढाल आदि संज्ञक रचनाएं इसी प्रकार की है। 'वेलि' नामक ग्रंथ भी इसी श्रेणी के हैं। जैन वेलिकारों ने तीर्थंकर, चक्रवर्ती, सती, धर्माचार्य तथा अन्य महापुरुषों की जीवन-गाथा को अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। तीर्थंकरों में बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ सम्बन्धी वेलियां सबसे अधिक मिलती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में भगवान महावीर के सम्बन्ध में प्राप्य तीन वेलि-ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) वर्द्धमान जिनवेलि:-[1]यह वेलि २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर के पंचकल्याणक (गर्भकल्याणक, जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और मोक्ष कल्याणक) उत्सव से सम्बन्ध रखती है। इसके

महान पुरुषों का गुण-गान करना भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक प्रमुख तत्व रहा है। कभी आत्म-निवेदन के रूप में कवियों ने अपने आराध्य की गुण-गरिमा का उद्घाटन किया है तो कभी इतिवृत्त के माध्यम से अपने चरित्र नायक की महानता का कीर्तन। रासो, रास, पवाड़ा, सज्झाय, विलास, मंगल, धवल, स्तवन, स्तोत्र, ढाल आदि संज्ञक रचनाएं इसी प्रकार की हैं। 'वेलि नामक ग्रंथ भी इसी श्रेणी के हैं।

रचयिता सकलचन्द्र उपाध्याय[2] सतरहवीं शती के मध्य के प्रसिद्ध कवियों में से थे। ये तपागच्छीय आचार्य हीर विजय सूरि के शिष्य थे।[3] इसकी रचना सं. १६४३ और १६६० के मध्य किसी समय हुई होगी। यह ३ ढालों के ६७ पद्यों की रचना है। इसका वर्णन-सार इस प्रकार है—

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद के नगर सेठ कस्तूरभाई मणिभाई के संग्रह के ग्रंथांक ११३१ में सुरक्षित है। यह ४ पत्रों में लिखी गई है।
पुस्तिका में लिखा है—याछशं पुस्तकं दृष्टां ताछशं लिखीतं मया।
यदि शुद्धं म शुद्धं वा, मम दोषो न दीयते ॥

२. वेलि में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—
वीर पटोधर श्रेणि आयो, ही रविजय गुरु हीरो।
सकलचंद कहें सो नित्य समरें, चरम जिनेसर वीरो रे ॥

३. विशेष परिचय के लिए जैन गुर्जर कविता भाग १, पृ० २७५-८४ तथा भाग ३ पृ० ७६६-७४

(अ) गर्भ कल्याणक उत्सवः-वर्द्धमान के गर्भ में आने पर माता त्रिशला ने स्वप्न देखे। गर्भस्थ शिशु ने माता को कष्ट न पहुंचाने के विचार से हलन-चलन बन्द कर दिया। इससे माता त्रिशला को गर्भ गल जाने की आशंका से अत्यधिक वेदना होने लगी। यह जानकर वर्द्धमान ने पुनः हिलना-डुलना प्रारम्भ कर दिया[1] जिससे सर्वत्र आनन्द छा गया और देवियों ने आकर माता का अभिषेक किया।

(ब) जन्म कल्याणक उत्सवः— गर्भ पूरा होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्द्धमान का जन्म हुआ। इससे इंद्र का आसन कांप उठा और देवताओं के यहां स्वयमेव घंटे बजने लगे। जन्मोत्सव मनाने के लिए इंद्र भगवान को मेरु पर्वत पर ले गये वहां उनका अभिषेक हुआ। वर्द्धमान जन्म से ही अत्यन्त रूपवान थे। उनके मुख-सौन्दर्य के आगे चन्द्रमा पराजित था। उनके होठ गुलाल की तरह लाल, आंखें कमल-पंखुड़ियों सी सुकुमार, कपोल स्वर्ण-बेलि सदृश, जीभ कमल-पत्तों सी कान काम-हिंडोल से, नासिका शुक-चोंच सी, कंठ शंख-सदृश तथा भुजा कमल-नाल सी थी। नाभि अमृत की कुंभी थी, हृदय पर श्रीवत्स का चिन्ह था।[2] ऐसे बालक वर्द्धमान को अप्सराओं ने कुण्डल-माला आदि से अलंकृत कर माता त्रिशला को सौंप दिया। महावीर का बचपन बड़े लाड़-प्यार से बीता। उनके पैरों में रत्नों के घुंघरे बांधे गये, नाक में फुल्ली पहनाई गई। मणि जटित स्वर्ण हिंडोले में उन्हें झुलाया गया। सिर पर रत्नों की टोपी तथा गले में मणि-कंठला डाला गया।[3] भगवान बड़े होने पर खेलने के लिए नगर से बाहर वन में गये। वे इतने वीर और निर्भीक थे कि उनसे इन्द्र तक डर गया। इन्द्र की बात पर विश्वास न कर एक देवता ने सर्प बन कर उसको डराना चाहा पर वर्द्धमान ने उसे पकड़ कर दूर फेंक दिया।[4] इस पर देवता ने बालक का रूप धारण कर वर्द्धमान के साथ खेलना प्रारम्भ किया। खेल

---

१. गाभ गल्यो में भोले जांण्यों, चिंता सागर साल्यो रे।
सोही दुःख सालत बहज्यों, चिंतवति पुन हाल्यो रे।।३।।
उदरथी तेमो दुख जांणी, ते सलसलियो हाल्यो रे।
तवहुं हुस्में आणंदें बोली, हाल्यो हाल्यां हाल्यो री।।४।। ढाल १

२. प्रभु मुखि हार्यो चंदलो, होठ लाल गुलाल।
आंखि इंदीवर पांखडी, कनक वेलडा गाल।।१२।।
पोयण पानसी जीभडी, श्रवण कांम हिंडोलि।
नाशिका सूअठा चंचडी, कंठ शंखनें तोलि।।१३।।
कमल नालसि बांहडी, नाभि अमृत कुंपी।
हृदय श्रीवत्सस्युं सोभतो, कडि हरिकडी लुंपी।।१४।। ढाल २

३. रमणनी धमधमें घुघरी, जब ठमकंति चालें।
जब लोइं फो केंहदे सुंदरी नाक फुदडी भालें।।२१।।
मणि जड्यं कनक हिंडोलडें, माल घ्रूमणि खालें।
रमण टोपी मणि कंडलो, मानें पूतनें आलें।।२२।।ढाल २।।

४. इंद्रे पीण बीहाण्यो जगमां वर्धमान नवि बिहें।
अमर सभा मांहि एक दिन बोलें, इंदो आपें जोहेंरे।।१९।।
एक देव ए बात न मांने, कौतक जोवा आवें।
अहि रूपे आमलितरू वेंही, पिण ते कुइ नवि फावें रे।।२०।।
विर कुमर होंडि रमतो, कुंमरें आगलि राख्यो।
विरें एडी पाडी गहिनें, सो सुर दुरि नाख्यो रे।।२१।। ढाल ३।।

हो खेल में वर्द्धमान उस देव-बालक के कंधे पर चढ़े और वह अपनी ऊंचाई बढ़ाता गया। इस पर वर्द्धमान ने मुक्का मार कर उसे परास्त कर दिया।[1] अन्त में देवता ने अपनी माया समेट कर प्रत्यक्ष रूप में वर्धमान के समक्ष उपस्थित हो क्षमा मांगी और उन्हें 'महावीर' नाम दिया।[2]

(स) तप कल्याण उत्सव:-माता-पिता की मृत्यु होने के बाद सब प्रकार का वैवाहिक सुख भोगकर महावीर ने वरसीदान दे दीक्षा अंगीकृत की। दीक्षा अंगीकृत करने के बाद १२ वर्ष तक घोर तप किया।

(द) ज्ञान कल्याणक उत्सव:- तप के प्रभाव से वैशाख शुक्ला दशमी के दिन महावीर को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस अवस्था में उन्होंने तीर्थ की स्थापना कर त्रिलोक को प्रतिबोध दिया।

(इ) मोक्ष कल्याणक उत्सव:-कार्तिक की अमावस्या (दिवाली) के दिन भगवान को परम-पद प्राप्त हुआ। इसी दिन भगवान के प्रधान शिष्य गौतम गणधर को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

(२) वीर जिन चरित्र वेलि:-[3] इसके रचयिता मुनि श्री ज्ञान उद्योत उन्नीसवी शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे। ये तपोगच्छीय पुण्य सागर के शिष्य ज्ञानसागर के शिष्य थे।[4] इसकी रचना सं० १८२५ के आस पास की गई हो। १७ छंदो (८४ पंक्तियों) की इस रचना में भगवान महावीर के 'वीरत्व' को प्रकट किया गया है। भगवान महावीर अतुल बलशाली और धैर्यवान थे। वे सिद्धार्थ के पुत्र थे। २८ वर्ष उन्होंने भोग-रस में व्यतीत किये। तत्पश्चात अगले दो वर्षों में लोकान्तिक देवों की प्रेरणा-स्तुति से सांसारिक प्राणियों को दानादि देकर ज्ञातखण्ड वन में उन्होंने दीक्षा अंगीकृत की।[5] दीक्षा अंगीकृत करते ही उन्हें मन: पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हुई। बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रह कर उन्होंने तपश्चरण किया। इस काल में उन्हें कई प्रकार के उपसर्ग एवं परीषह[6] सहन करने पड़े। बयालीस वर्ष की

---

१. पुनरपी बालिक थईने निरमलो, आपें होडि हार्मो।
सांधे वीर चढ्या तब वाध्यो, वीरें मुहकमें मार्यो ॥२२॥ ढाल ३॥

२. प्रगट थइनें प्रभुनें खांमी, नाम दीइं महावीरो।
जेहवो इंद्रे प्रसंस्यो तेहवो, मिं परख्यो तुं हीरो रे ॥२३॥ ढाल ३॥

३. इसकी हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर के ग्रंथक ८५१२ में सुरक्षित है। यह दो पत्रों में लिखी हुई है।

४. जैन गुर्जर कवियों मोहनलाल दलीलचंद देसाई भाग ३ पृ० ११३

५. श्री सिद्धारथ राजसुत, अतुली बड बलबीर।
वर्ष अट्ठावीस भोग रस, विलसत दय बलधीर ॥१॥
वर्ष दोय रह्या आगला, लोकांतिक वयणेह।
देईदान प्रभु अणुसरे, सहज दिसागुण गेह रे ॥२॥

६. (क) वर्षा:—लाई ध्यान की तारी, वन में ठाढें उपशमधारी।
मेघ घटा चढ़ी छाई, पवन की झकोर झूंझे झकलाई ॥
झूकलाई पौन झकोर चिहुदिशि, दमक दाखें दामिनी।
दादुर चातुक मोर रव थें, पीरी विरही कामिनी।
तिणें समें वीसे रो धीरो, जलद परिसह सवि सहें।
अहो अहो यतिवर धन्य तुझपरि, अचल भूधर नवि रहें।

अवस्था में उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई।[1] तब से निरन्तर तीस वर्ष तक वे लोकोपदेशना देते रहे। अन्त में ७२ वर्ष की अवस्था में इन्द्रभूति को अपना प्रथम गणधर बनाकर [2] उन्होंने मुक्ति प्राप्त की।[3]

'वर्द्धमान जिन वेलि' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जन्म-कल्याणक उत्सव रहा है वहां 'वीर जिन चरित्र बेलि' का तप एवं ज्ञान कल्याणक उत्सव।

(३) चन्दन बाला बेलि:-[4] इसके रचयिता अजितदेव सूरि पल्लीवाल गच्छीय आचार्य महेश्वर सूरि के पट्टधर थे। कवि का काव्य-काल सं० १५६७ से १६२६ के बीच निर्धारित होता है।[5] अनुमान है इसी के आस-पास यह बेलि रची गई हो। प्रतिष्ठा लिपिकाल सं. १७८० आषाढ सुदि ११ बुधवार है। यह २६ छन्दों की कृति है। इसकी मुख्य कथा सती चन्दनबाला से सम्बन्धित है पर प्रसंगवश महावीर के अभिग्रहधारी स्वरूप का भी उद्घाटन हुआ है। प्रथम चार छन्दों में भगवान महावीर के तपस्वी-रूप को-जिसने कठोर अभिग्रह धारण कर रखा है और जो पूरा नहीं हो पा रहा है-

---

(ख) शीतः—तिम शीत कालें शीत सवलो, वायु वाई मुंखरा।
हीमपडल जोरें वोर बोरें, हरित वन जिम भांखरां॥
वरत सून तपन तंवोल तरूणी, तूंली का घण आदरें।
तिणें समें वन गीरी शीत देशें, स्वामी अवावड गुण वरें॥

(ग) ग्रीष्मः—जिण कालि रूयं जहि ताय तडकां, शृंगफाटें मृगतणां।
सर वापी कूप निवांण न दीया, झुठक दीशे अति घणां॥
घन सार मिश्रित सरस चन्दन, सजल वन जन आदरें।
तिणें समें जिनवर अमित गुणधर, तपन तापें तप करे॥
ईम सर्व काले विषम परिसह, भूमि परिसंघ सही।
इत्यादिक पंडि वर्जित, निकामी अपरीग्रही॥

१. लाई ध्यान की तारीयां, करी आप्पा कलधोत।
केवल ज्ञान दर्शन तणों, पसरयों अमिल उद्योत॥
अनोपम अमित उद्योग, लोकालोक प्रकाशक ज्योत।
चल्ला आसन हरिसब आवें, आठ मुहा प्रस्हिार्य बनावें॥
त्रिगडें जिन बैट्ठा आई, त्रिहूं लोकें हुई वधाई।
मली अमरी जिन गुण गावे, मणि माणिक मोती वधावें॥

२. अनुक्रमें अपापाइं आव्या, इन्द्रभूति प्रमुख समाव्या।
कीधा शिठय में त्रिपदी आपें, चउविह तिहां श्री संघ थापें।

३. आयु वर्ष बहोत्तर पाली, सोल प्रहरनी देशना दीधी।
योग रोधें कर्म सवि टाली, वरी शिव वधू दिन दीवाली॥

४. इसकी ६ हस्तलिखित प्रतियां अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

५. राजस्थान के हस्त लिखित ग्रंथों की खोज (अप्रकाशित) सम्पादक—मुनि कांतिसागर।
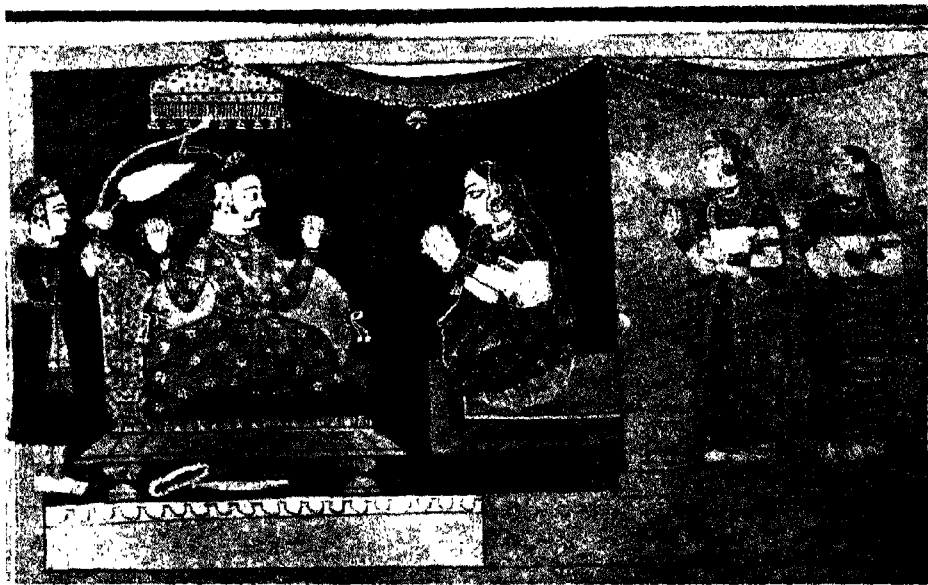
यशोधर चरित्र का एक चित्र

प्राचीन शास्त्र गोमट्टसार की प्रति का एक चित्र

प्रस्तुत किया है।[१] अंत के छंदों में महावीर की केवल-ज्ञान प्राप्ति एवं चंदनबाला की दीक्षा तथा नेतृत्व-गरिमा का चित्र है।

इन तीन वेलियों के अतिरिक्त कई वेलिकारों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए महावीर स्वामी की वंदना की है। इस दिव्य व्यक्तित्व की २५६१ वीं जन्म-जयंती पर मैं भी उसे अपनी हार्दिक भाव भरी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

---

(१) अतियारे आस्तीत्व धरावतां धर्मो मां जैन धर्म एक एवो धर्म छे के जेमां अहिंसा नो क्रम सम्पूर्ण छे अने जो शक्य तेटली दृढ़ता थी सदा तेने वलगी रह्यो छे।

(२) ब्राह्मण धर्म मां पण घणां लांबा समय पच्छी सन्यासियों माटे आ सूक्ष्मतर अहिंसा वादित थई अने आखरे वनस्पति आहार ना रूप मां ब्राह्मण ज्ञाति मां पण ते दाखील थई हती कारण ए छे के जैनो ना धर्म तत्वो एज लोक मत जीत्यो हतो तेनी असर सज्जड रीते वधती जाती हती।

—डा० एफ० मोटो सबरादर पी० एच० डी०

---

१. कौशाम्बी नगरी पधारिया, वहिरता श्री महावीर।
अभिग्रह मन मांहि धरइ, सम, दम, उपसम धीर ॥१॥
राम कुंवर मनोहरू, लाड़ली योवन वेस।
पात्र अठील पखस पड़ी, वेणी मुंद्रित केस ॥२॥
एक पात्र देहल बारणइ, इक माहि खेम शरीर।
सूप खूणे उड़दना बाकुला, नमनेति डालै नीर ॥३॥
आठिम तपनइ पारणै, सुरफ आवै सीस।
जाग एहवउं जउं मिलै, इम चितवई श्री जगदीस ॥४॥

श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार, दिल्ली.

सर्वोदय का मूल स्रोत

आजकल जिस 'सर्वोदय' सिद्धांत की सर्वत्र चर्चा है, जिसका नेतृत्व आचार्य विनोबा कर रहे हैं और जिसके प्रचारार्थ 'सर्वोदय-सम्मेलन' जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई तथा हो रही है, उसका अति प्राचीन मूल स्रोत जैन-साहित्य में सन्निहित है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने सर्वोदय के स्वरूप तथा उसके उद्‌गम पर प्रकाश डाला है।

आज कल जिस 'सर्वोदय' सिद्धांत की सर्वत्र चर्चा है, जिसका नेतृत्व आचार्य विनोबा कर रहे हैं और जिसके प्रचारार्थ 'सर्वोदय-सम्मेलन' जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई तथा हो रही है, उसका अति प्राचीन मूल स्रोत जैन-साहित्य में सन्निहित है। विक्रम की दूसरी शताब्दी के महान् विद्वान आचार्य स्वामी समंतभद्र ने युक्तयानुशासन ग्रंथ में उसका स्पष्ट उल्लेख किया है, उसे 'तीर्थ' लिखा है— संसार के सब दुखों से छूटने अथवा उनसे पार उतरने के लिए समीचीन घाट या मार्ग के रूप में सूचित किया है—और भगवान महावीर के अनेकांतात्मक शासन को ही वह सर्वोदय तीर्थ बतलाया है, जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव दु:ख-समुद्र से पार उतर जाते हैं। इस विषय की कारिका ग्रन्थ में निम्न प्रकार है:—

> सर्वान्तवत्तद् गुण मुख्य-कल्पं,
> सर्वान्त-शून्यं चमिथोऽनपेक्षम् ।
> सर्वापदामन्तकरं निरंतं,
> सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।६१।।

इसमें स्वामी समंतभद्र, भगवान महावीर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—'(हे भगवन)' आपका यह तीर्थ-प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके द्वारा दु:खमय संसार समुद्र को तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव-अभाव) एक-अनेक (अद्वैत-द्वैत), नित्य-क्षणिक आदि अशेष धर्मों को लिए हुए है; एकान्तत: किसी एक ही धर्म को अपना विषय किये हुए नहीं है—और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिए हुये है—एक धर्म किसी समय मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है; जो गौण है वह निरात्मक नहीं होता और जो मुख्य है उससे व्यवहार चलता है इसी से सब धर्म सुव्यवस्थित है; उनमें असंगता अथवा विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्व धर्मों से शून्य है—उसमें किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अत: आपका ही यह शासन-तीर्थ सब दु:खों का अन्त करने वाला है, यही निरन्त है—किसी भी सर्वथैकान्तात्मक मिथ्या दर्शन के द्वारा खंडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियों के अभ्युदय का कारण तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है—जो शासन सर्वथा एकान्त-पक्ष को लिए हुए हैं उनमें से कोई भी सर्वोदय-तीर्थ' पद के योग्य नहीं हो सकता।

यहां 'सर्वोदय-तीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्ण का वाचक है; 'उदय' ऊंचे-ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकास को कहते हैं। और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्त से दु:खमय संसार महासागर को तिरा जाय। वह तीर्थ वास्तव में धर्म-तीर्थ

है, जिसका सम्बन्ध जीवात्मा से है, उसकी प्रवृत्ति में निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही 'तीर्थ' शब्द के द्वारा परिग्रहीत है। और इसलिए इन तीनों शब्दों के सामासिक योग से बने हुए सर्वोदयतीर्थ पद का फलितार्थ यह है कि—जो तत्वविवेचन जीवात्मा के पूर्ण उदय–उत्कर्ष अथवा विकास में तथा सब जीवों के उदय–उत्कर्ष अथवा विकास में सहायक है वह 'सर्वोदय-तीर्थ' है। आत्मा का उदय–उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान–दर्शन–सुखादि स्वाभाविक गुणों का ही उदय–उत्कर्ष अथवा विकास है और गुणों का वह उदय–उत्कर्ष अथवा विकास दोषों के अस्त–अपकर्ष अथवा विनाश के बिना नहीं होता। अतः सर्वोदय–तीर्थ जहां ज्ञानादिक गुणों के विकास में सहायक है वहां अज्ञानादिक दोषों तथा उनके कारण ज्ञानावरणादिक कर्मों के विनाश में भी सहायक है—वह उन सब रुकावटों को दूर करने की व्यवस्था करता है जो किसी के विकास में बाधा डालती हैं।

इसी से जो तीर्थ–शासन सर्वान्तिवान नहीं—सर्व धर्मों को लिए हुए और उनका समन्वय अपने किये हुए नहीं है—वह सबका उदय–कारक अथवा पूर्ण-उदय-विधायक हो ही नहीं सकता और न सब के सब दुःखों का अंत करने वाला ही बन सकता है; क्यों कि वस्तु–तत्व अनेकांतात्मक है—अनेकानेक गुणों–धर्मों को लिए हुए है। जो लोग उसके किसी एक ही गुण–धर्म पर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूप में देखते और प्रतिपादन करते हैं उनकी दृष्टियां उन जन्मान्ध–पुरुषों की दृष्टियों के समान एकांगी हैं जो हाथी के एक एक अंग को पकड़कर–देखकर उसी एक एक अंग रूप में ही हाथी का प्रतिपादन करते थे और इस तरह परस्पर में लड़ते, झगड़ते और कलह का बीज बोते हुए एक दूसरे के दुःख का कारण बने हुए थे। उन्हें हाथी के सब अंगों को देखने वाले निर्मल नयन सम्पन्न पुरुष ने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था कि तुमने हाथी के एक एक अंग को पकड़ रक्खा है तुम्हारे पकड़े हुये सब अंग मिल कर ही पूरा हाथी कहलाता है तो—तुम्हारे अलग अलग कथन के अनुरूप हाथी कोई वस्तु नहीं है। और इसलिए जो वस्तु के सब अंगों पर दृष्टि डालता है—उसे सब ओर से देखता और उसके सब गुण–धर्मों को पहचानता है—वह वस्तु को पूर्णतया यथार्थ रूप में देखता है, उसकी दृष्टि अनेकांत–दृष्टि है और यह अनेकान्त–दृष्टि ही सही सच्ची अथवा सम्यक् दृष्टि कहलाती है और यही संसार में अहंकार तथा घृणा-मूलक ऊंच- नीच के भेद-भाव और वैर-विरोध को मिटाकर सुख-शांति की स्थापना करने में समर्थ है।

———

ले० डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया,
एम. ए., पी-एच. डी.
मु० विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

पुष्पदन्त की भाषा

उत्तरकालीन अपभ्रंश का जो रूप पुष्पदन्त के काव्य में दृष्टिगत होता है उसके सम्यक् विवेचन से यह तथ्य स्पष्टत: सामने आता है कि आधुनिक आर्य भाषाओं के प्रारम्भिक रूप का विकास जिस भाषा-रूप से हुआ उससे वह कितना निकट है। इस दृष्टि से अपभ्रंश-धारा में पुष्पदन्त का स्थान अद्वितीय है। पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रस्तुत लेख में पुष्पदन्त की भाषा का विशद् विवेचन किया गया है।

उत्तरकालीन अपभ्रंश का जो रूप पुष्पदन्त के काव्य में दृष्टिगत होता है उसके सम्यक् विवेचन से यह तथ्य स्पष्टत: सामने आता है कि आधुनिक आर्य भाषाओं के प्रारम्भिक रूप का विकास जिस भाषा-रूप से हुआ उससे वह कितना निकट है। इस दृष्टि से अपभ्रंश-धारा में पुष्पदन्त का स्थान अद्वितीय है। पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है:—

सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ
(संस्कृत) (प्राकृत) (अपभ्रंश) (महापुराण)

अपभ्रंश का हिन्दी से क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न पर विचार प्रकट करते हुए महापण्डित राहुल[1] जी ने लिखा है, "इस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं, शायद इससे आप समझने लगे होंगे कि तब तो यह हिन्दी से जरूर अलग भाषा होगी। लेकिन नाम पर न जाइये, इसका दूसरा नाम 'देसी'[2] भाषा भी है। अपभ्रंश इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें संस्कृत शब्दों के रूप भ्रष्ट नहीं, अपभ्रष्ट—बहुत ही भ्रष्ट—हैं इसलिए संस्कृत पण्डितों को ये जाति-भ्रष्ट शब्द बुरे लगते होंगे। लेकिन शब्दों का रूप बदलते-बदलते नया रूप लेना—अपभ्रष्ट होना—दूषण नहीं भूषण है, इससे शब्दों के उच्चारणों में नहीं अर्थ में भी अधिक कोमलता, अधिक मार्मिकता आती है। 'माता' संस्कृत शब्द है, उसका 'मातु', 'माई' और 'माओं' तक पहुंच जाना अधिक मधुर बनने के लिए। खेद है यहां भी कितने ही 'नीम-हकीमों' ने शुद्ध संस्कृत 'माता' को ही नहीं लिया, बल्कि उसमें 'जी' लगाकर 'माताजी' बना उसके ऐतिहासिक माधुर्य्य को ही नष्ट कर डाला। अस्तु, यह निश्चित है कि अपभ्रंश होना दूषण नहीं भूषण था।"

प्रारम्भिक हिन्दी के इस आदि रूप उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करने वाले महाकवि पुष्पदन्त क्रान्तदर्शी थे जिनमें एक ओर बाण की श्लेष-शैली जिसमें पद-योजना, अलंकारादि प्राचीन परिपाटी पर हैं

१. महापण्डित राहुल—हिन्दी काव्य धारा, १९४५, किताब महल, इलाहाबाद पृष्ठ ५
२. ण विजाणमि देसी।
—महापुराण से उद्धृत।

तो दूसरी ओर भाषा का अपेक्षाकृत चलता हुआ जन-साधारण में प्रचलित रूप के दर्शन होते हैं। डॉ० हरिवंश कोछड़[1] ने पुष्पदन्त को अपभ्रंश-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हुये लिखा है—"पुष्पदन्त को अपभ्रंश-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। पुष्पदन्त की प्रतिभा का मूल्य इसी बात से आंका जा सकता है कि इनके अपने महापुराण में एक ही विषय स्वप्न-दर्शन को चौबीस बार अंकित करना पड़ा।"

विद्वानों ने अपभ्रंश के अनेक भेद किये हैं। डॉ० तगारे[2] ने 'अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण' शीर्षक प्रबन्ध में तीन भेद स्वीकार किये हैं:—

१. दक्षिणी अपभ्रंश
२. पश्चिमी अपभ्रंश
३. पूर्वी अपभ्रंश

दक्षिणी अपभ्रंश के अन्तर्गत पुष्पदन्त तथा कनकामर की कृतियाँ सम्मिलित होती हैं। पुष्पदन्त ने इसी अपभ्रंश में अपने ग्रन्थों की रचना की पर हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपि गुजरात में होने के कारण पश्चिमी अपभ्रंश की झलक उसमें यत्र-तत्र समाहित होगई है। पुष्पदन्त की कृतियों का विवरण इस प्रकार है:—

	समय	स्थान	वर्त्तमान स्थिति
१. महापुराण[3]	९६५	मान्यखेट	मालखेड़, (निजाम राज्य) आंध्रप्रदेश
२. जसहर चरिउ[4]	९६५-९७२	,,	,,
३. णायकुमार चरिउ[5]	वही	,,	,,

सभी ग्रन्थ दक्षिण में लिखे होने के कारण दक्षिणी अपभ्रंश से सम्बन्धित रहे।

भाषा-संबंधी विशेषताएं

१. ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विशेषताएं

ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी विशेषताएं सामान्यतः अपभ्रंश की हैं जिसके आदि रूपों के दर्शन हमको 'पालि' काल से होने लगते हैं, फिर भी पुष्पदन्त का महत्व इस दृष्टि से विशेष है कि इस काल आते-आते रूपों में स्थिरता आ चुकी थी।

१.१ स्वर सम्बन्धी

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ आदि सामान्यतः स्वर प्राप्त होते हैं।

'ऐ' तथा 'औ' के स्थान पर क्रमशः 'अइ' तथा 'अउ' इस काल में मिलते हैं:—

ऐ—अइ भैरव — भइरव
विश्रमै — विसमइ
भवै — भवइ
औ—अउ हौं — हउँ
भौं — भउँ
भौंहा — भउँहा
औल्लिहिं — अउल्लमिम, उल्लु रूप भी मिलता है।

स्वरों में प्रायः 'ऋ' का लोप हो गया है, अधिकांशतः इसके स्थान पर 'ई' और कहीं-कहीं 'अ', 'उ' आदि स्वर भी विकसित होगये हैं:—

ऋ—इ हृदय — हियय
घृतपूर — घियपूर
ऋ—अ शृंखला — संखला
तृष्णा — तण्ह

१. डॉ० हरिवंश कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० सं०, पुष्ठ ३४।
२. डॉ० जी० वी० तगारे—हिस्टोरिकल ग्रामर अव् अपभ्रंश, सन् १९४८, पूना पृष्ठ १५-१६।
३. महापुराण—सम्पादक, डॉ० पी० एल० वैद्य, बम्बई, १९३७-४१।
४. जसहर चरिउ सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, कारंजा, बरार, सन् १९३१ ई०।
५. णायकुमार चरिउ—सं० डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा सन् १९३३ ई०।

ऋ–उ ऋतु – उडु

घृष्ट – घुट्ठ

कहीं–कहीं 'ऋ' के स्थान पर 'रि' भी विकसित हुआ है,

ऋच्छ – रिक्ख

स्वरों में समीकरण तथा विषमीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है,

विषमीकरण : पुरुष – पुरिस

१.२. व्यंजन-सम्बन्धी

१.२.१ 'श, ष' के स्थान पर 'स'

शशि	–	ससि
शीर्ष	–	सीसु
विदुष	–	विउस
अभिषेक	–	अभिसेय
विष	–	विस
वेष	–	वेस
दिशि	–	दिसि
विशेष	–	विसेस

१.२.२ 'र' के स्थान पर 'ल'

'र' और 'ल' का परस्पर विपर्यय तो वैदिक काल से ही चला आ रहा है:—

निहारो	–	णिहालउ
भ्रमर	–	भसलु
दारिद्र	–	द्रालिद्द

१.२.३ घोषीकरण की प्रवृत्ति

जूट – जूड

१.२.४ 'प' के स्थान पर 'व'

इस प्रवृत्ति की ओर हेमचन्द्र ने भी पर्याप्त ध्यान दिया है। पैशाची की विशेषताएं बताते हुए शालिग्राम उपाध्याय लिखते हैं, 'जिस भाषा में 'प' का या तो लोप हो जाता है या स्वर से परे असंयुक्त अनादि रहने पर 'व' हो जाया करता है। अतः पईव (प्रदीप), पावं (पापं), उवमा (उपमा), कलावो (कलापः), कवालं (कपालम्), महिवाले (महिपालः), कविलं (कपिलं) आदि रूप मिलते हैं। चण्ड ने भी अपने प्राकृत लक्षण में उपमान के लिए 'पिव', इव, विव, विय, व्व, व जहा, वत्' का प्रयोग स्वीकार किया है।[1] पुष्पदन्त के काव्य में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं,

गोपी – गोवी – गोवि

कोऽपि – कोवी – काई भी मिलता है।

१.२.५ मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति

णकार बहुला इस भाषा में मूर्द्धन्य ध्वनियों का आधिक्य होना स्वाभाविक ही है। इस प्रवृत्ति के कारण बहुत से व्यक्ति तो इन अपभ्रंशों को 'णाउ णाउ' भाषा कहकर पुकारते हैं। णकार का बाहुल्य आज भी एक ओर हिन्दी की बांगड़, मेरठी आदि बोलियों में दूसरी ओर आधुनिक आर्य भाषाओं–उड़िया, मराठी आदि में परिलक्षित होता है।

१.२.५.१ ण के स्थान पर ण मिलता ही है पर 'न' के स्थान पर भी ण

मध्य – भुवन – भुवण

पुनि – पुणि – पुणु

सभी स्थितियों में यह प्रवृत्ति है:—

आद्य –	नन्दन	–	णंदण
	नीरसु	–	णीरसु
	नव	–	णव
मध्य –	महानुभाव	–	महाणभाव
	जिननाथ	–	जिणणाथ
अन्त्य –	घन	–	घण
	दीन	–	दीणु

१.२.६ व्यंजन-लोप

प्राकृतों से ही व्यंजन–लोप की प्रवृत्ति बढ़ गई थी जिसमें अपभ्रंश काल तक आते–आते स्थिरता आगई।

---

१. सालिग्राम उपाध्याय—पैशाची भाषा, भाषा, अंक २, पृष्ठ ६३।

मध्य तथा अन्त्य व्यंजन के लोप की प्रवृत्ति विशेष दृष्टिगत होती है:—

१.२.६.१ मध्य व्यंजन-लोप

जोगिनि	–	जोइणि
गोकुल	–	गोउलु
जमुना	–	जउणा
अतिशय	–	अइसइ

१.२.६.२ व्यंजन-लोप के बाद य-श्रुति का आगम

१.२.६.२.१ मध्य स्थिति :

	नगर	–	णयर
	माकंद	–	मायंद
	वचन	–	वयण
	नागर	–	णायर
	दिवाकर	–	दिवायर
अन्त्य–	शोक	–	शोय
	घात	–	घाय (आज भी घाव रूप
	अभिषेक	–	अहिसेय भी चलता है।)

१.२.७ 'य' के स्थान पर 'ज'

युगल	–	जुयल
यशोद	–	जसोय

१.२.८ 'ज' के स्थान पर 'य'

निज	–	णिय
जणु	–	यणु

१.२.९ महाप्राण ध्वनियों में से केवल महाप्राणत्व का रह जाना

ख–ह	मुख	–	मुह
	संमुख	–	संमुहँ
घ–ह	दीर्घ	–	दीहर, दीह
ध–ह	मधु	–	महु
	पयोधर	–	पयोहर
	दधि	–	दहि
	अवधोरिय	–	अवहेरिय
भ–ह	प्रभु	–	पहु
	अभिमान	–	अहिमाण
	शोभित	–	सोहिय
	विक्षोभ	–	विक्खोह

१.२.१० व्यंजन-गुच्छ तथा व्यंजन-संयोग

१.२.१०.१ द्वित्त्व की प्रवृत्ति

द्वित्व की यह प्रवृत्ति पालिकाल से ही प्रारम्भ होगई थी।

दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर द्वित्व

उद्वेद्ध	–	उब्बद्ध
रक्ति	–	रत्ति
शत्रु	–	सत्तु
भक्ति	–	भत्ति

रेफ के साथ ध्वनि के स्थान पर द्वित्व

दुर्गम	–	दुग्गम
निर्जन	–	णिज्जण
चक्रवाल	–	चक्कवाल

१.२.१०.२ दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर तीसरी ध्वनि

स्त–थ स्तेन – थेण (नोट—सामान्यत: स्त के स्थान पर 'त्थ' भी मिलता है जैसे, हस्त-हत्थ, हस्ति–हत्थि, प्रशस्त–पसत्थु।)

स्क–ख स्कंध – खंध

१.२.१०.३ दो भिन्न ध्वनियों के स्थान पर एक ध्वनि का :

अमंत	–	ममंतु
विश्राम	–	बीसमइ
प्रिय	–	पिय

१.२.१०.४ एक गुच्छ के स्थान पर सर्वथा दूसरा गुच्छ :

स्न } ण्ह स्नान – ण्हाण (वर्त्तमान नहान)
ष्ण } कृष्ण – कण्ह (वर्त्तमान कान्ह)

ण्य	एग	शून्य	– सुएगु
स्न		नि:स्नेह	– णिएएोएा (सिरोह रूप भी)
श		श्मशाने	– मसएगाएो
ष्ट	ट्ठ	घृष्ट	– घुट्ठ
ष्ठ		गोष्ठे	– गोट्ठि
त्स	च्छ	वत्सर	– बच्छर
र्भ	ब्भ	गर्भ	– गब्भ
भ्य		अभ्यागत	– अब्भागय
ष्प	प्फ	पुष्प	– पुप्फ

१.२.१०.५ स्वरागम या स्वर भक्ति के कारण गुच्छ टूट जाते हैं :

श्री – सिरि (शिर का भी रूप सिरि ही मिलता है)

१.२.१०.६ एक ध्वनि के स्थान पर कई गुच्छ तथा एक ध्वनि :

क्ष– { च्छ कुक्षि – कुच्छि; ख क्षीर – खीर (हिन्दी में भी अर्थ-भेद से चलता है); क्ख रक्षसि – रक्खिसि }

२. अन्य विशेषताएँ

२.१ उकार बहुला प्रवृत्ति

शब्दों के अन्त में उकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश की एक प्रमुख विशेषता है जिसका बाहुल्य आज भी ब्रज-भाषा[1] में है:—

एक ही पंक्ति में देखिए—

उब्बद्ध–चूडु भ्रू-भंग-भीसु,
तोडेप्पिणु चोडहोतणउ सीसु ।

'य' तथा 'व' के स्थान पर भी 'उ' व्यवहृत होता था—

राव–राउ, अन्याय–अएणाउ

२.२ दसवीं शताब्दी तक आते-आते तद्भव शब्दावली के रूप में बहुत कुछ स्थिर हो गये थे जिनसे मिलते-जुलते रूप वाले शब्द आज भी प्रचुर मात्रा में लोक में प्रचलित हैं । कज्जु (काज), अज्जु (आज), तुज्झु (तुझे), दीवय (दीवा), तंब (तांबा), मुग्ग (मूंग), वग्घ (बाघ), मोत्ति (मोती), सोहग्ग (सुहाग), खेतु (खेत), हत्थि (हाथी) इसके अतिरिक्त घर, झंझा, पहर, खीर, गाम, दही आदि शब्द तो उस काल में पूर्णतया स्थिर हो गये । आज पुन: घर को 'गृह' के रूप लिखने की कुचेष्टा हो रही है, जिन रूपों को लोक में प्रचलित होने में २००० वर्ष लगे क्या उनको (उन शब्दों का) इन प्रयासों से बदला या हटाया जा सकता है ।

२.३ कुछ शब्द लोक-भाषाओं में पर्याप्त आवृत्ति के साथ चल रहे हैं, यद्यपि परिनिष्ठित हिन्दी में उनके तत्सम रूप को ही व्यवहृत किया जा रहा है । दालिद्द (र) (दारिद्रय), सामल (श्यामल), उच्छव (उत्सव), पोत्थय–पोथी (पुस्तक), थण (स्तन), हेट्ठ (हेठा) ।

इसके अतिरिक्त घल्लइ, चक्खइ, चडइ, चडाविइ, भुलइ, छज्जइ, छंडइ, छिवइ, जेंबइ, वोक्खइ, झडप्पइ, झंपइ, भुल्लइ, ढलइ, ढंकइ, बुड्डइ, मुक्कइ, संगइ, सल्लइ, आदि सहस्रों क्रियाएँ तथा कसेरु कुंड, सुरेप्प, सीत्ल, घियपूर, चोउज, छिक्कटोप्पी, पेल्लिय, पोट्टल, बोहित्थ, मेलम, रंडी, लुक्कआदि सहस्रों अन्य प्रकार के शब्द भी पुष्पदन्त के काव्य में मिलते है जिनसे मिलते-जुलते शब्दों का आज हम प्रयोग करते हैं ।

२.४ कुछ विशिष्ट शब्द भी मिलते हैं जिनका प्रयोग आज हिन्दी में प्रचलित नहीं है: रिंछोलि (पंक्ति), गोंदलिय (वनिता), धम्मिल्ल (जूड़ा), बिट्टलउ (मलिन), संढे (नपुंसक), चंगा (अच्छा), ढुक्कु (प्रविष्ट हुआ), सुट्ठ (अच्छा), अब्भंगिय (मालिश), विसंठुल (अस्तव्यस्त), विभिउ (विस्मय), आदि । पर इन शब्दों में कुछ शब्द जैसे चंगा, सुट्ठा आदि आज भी अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं-पंजाबी, सिंधी आदि में प्रचलित हैं । 'धम्मिल' आदि शब्द का प्रयोग तो जायसी में भी मिलता है ।

---

१. चन्द्रभान रावत—उकार बहुला ब्रज भाषा—भारतीय साहित्य, सन् १९५६ ।

२.५ अपभ्रंश की एक सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग। भावानुकूल शब्द–योजना के लिए इससे अच्छा और कोई अन्य साधन नहीं मिल सकता।

कुक्कुरंति, गुमगुमंति, घुरुहुरंत, झरझरियईं, रणरणिउँ, घुमघुमंति, रुणरुणिउँ, घगघगघगंति, घण फुफ्फुवंत, कडकडंतु आदि सहस्रों शब्द भरे पड़े हैं। गोवर्द्धन–धारण का एक चित्र देखिए:—

जलु गलइ, झलझलइ, दरि भरइ, सरि सरइ।
तडयडइ, तडि पडइ। गिरि फुडइ, सिहिणडइ।
मरु चलइ, तरु घुलइ, जलु थलु'वि गोउलु'वि।
णिरु रसिउ, भय तसिउ, थरहरइ, किरमरइ॥

एक और चित्र देखिये:—

पडु तडि वडण पडिय वियडायल रुंजिय सीहृ दारुणो,
गिरि सरि दरि संरत सरसर भय वाणरमुक्कणीसणो।

शब्द–योजना से एक प्रकार की ऐसी ध्वनि निकलती–सी प्रतीत हो रही है जैसे बादलों के अनवरत शब्द से समस्त आकाश भरा हुआ है। कहीं–कहीं तो इस प्रकार के शब्दों की झड़ी–सी लग जाती है,

तड–तड–तड–तड–तटतडिय सिंगु।

२.६ चित्रोपमता।

ध्वन्यात्मक शब्दावली से अथवा पद–योजना से कवि कुछ ऐसे वर्णन प्रस्तुत करता है कि एक चित्र खिंच जाता है,

जलणिहिव झलझलइ।
विसहरुवि चलचलइ।

एक और चित्र देखिए—

घोट्टइ खीरं, लोट्टइ णीरं। भंजइ कुंभं, मेंलइ डिंभं।
छंडइ महियं, चक्खइ दहियं, कड्ढइ चिज्जि, धरइ चलं'बि।

क्रिया व्यापारों की भीड़भाड़ से—

लुंचणाइं संचणाइं कुचणाइं लुट्टणाइं।
कुट्टणाइं घट्टणाइं वट्टणाइं पउलणाइं
पीलणाइं हूलणाइं चालणाइं।
तलणाइं दलणाइ मलणाइं गिलणाइं।

कहीं कोमल कांत पदावली की संयोजना से—

पर पय–रय–धूसर किंकर सरि।

जसहर चरिउ की भाषा पर विचार–विमर्श करते हुये डॉ० कोछड़ लिखते हैं भावोद्रेक की दृष्टि से भावतीव्रता ग्रंथ में मन्द है किन्तु भाषा वेगवती है। कवि जो कुछ कहना चाहता है तदनुकूल शब्द योजना कर सका है।

तोडइ तडत्ति तणु बंधणाइं।
मोडइ कडत्ति हड्डइं घणाइं।
फाडइ चडत्ति चम्मइं चलइं।
घुट्टइ घडत्ति सोणिय जलइं।

इसमें देखिये भिन्न–भिन्न शब्द–योजना द्वारा शरीर की ग्रन्थियों का तड़ से टूटना, हड्डियों का कड़–कड़ कर मुड़ना, चमड़े का चर्र से अलग हो जाना, खून का घट–घट पी जाना कितने उपयुक्त शब्द हैं।

इस प्रकार अनुरणात्मक शब्दों की योजना में पुष्पदन्त जैसा सिद्धहस्त कवि हमको समस्त हिन्दी साहित्य में कोई दूसरा नहीं दृष्टिगत होता है, यह प्रवृत्ति भाषा को प्राणवान् बनाती है, आधुनिक काल में छायावाद में आकर पुनः इस ओर कवियों ने ध्यान दिया।

पुनरुक्ति द्वारा भी कवि ने चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की है। इस विधि से जहां एक ओर भाषा में वेग आया है वहां दूसरी ओर बल प्रयुक्त हुआ है।

माणुस–सरीरु दुह–पोट्टलउ।
धोयेउ घोयेउ अइ–विट्टलउ।
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु।
पोसिउ पोसिउ थाउ धरइ बलु।
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ।
मोसिउ मोसिउ धरमायणाउ।
भूसिउ भूसिउ ण सुहावणाउ।
मंडिउ मंडिउ मीसावणउ।

३. मुहावरे तथा लोकोक्तियां

पुष्पदन्त की भाषा सजीव भाषा है जिसमें लोकोक्तियों, मुहावरों आदि के सम्यक् प्रयोग से प्रवाह बना हुआ है। साथ ही अर्थ में गाम्भीर्य भी। अपभ्रंश–साहित्य

पृष्ठ ९२ में डा० कोछड़ ने इस प्रकार की लोकोक्तियों का संग्रह किया भी है। आज आवश्यकता इस बात की है कि समस्त साहित्य से इस प्रकार का संग्रह किया जाय कुछ उदाहरण देखिए।

गुक्कउ छणयंदहु सारमेउ
(पूर्णिमा चन्द्र पर कुत्ता भौंके उसका क्या बिगाड़ेगा)

उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण।
(सोते सिंह को किसने जगाया)

माणभंगु वर मरणु ण जीविउ
(अपमानित होने पर जीवित रहने से मृत्यु भली)

को तं पुसइ णिडालइ लिहियउ
(मस्तक में लिखे को कौन पोंछ सकता है)

भरियउ पुणु रित्तउ होइ राय
(भरा खाली होगा)

लूयांसुत्तें वज्झइ मसउ ण हत्थि णिरुज्झइ।
(मकड़ी के जाल सूत्र से मच्छर तो बांधा जा सकता है अधिक नहीं रोका जा सकता है)

खग्गें मेहें कि णिरजेलण, तरुणा रसरेण कि णिप्फलेण।
(पानी रहित मेघ से और खड्ग से क्या लाभ)

४. अलंकारमयी भाषा

भाषा में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार प्रचुर रूप में व्याप्त हैं जिससे काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है। एक उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है।

विज्जुलियए कंचुलियए भूमियदेहए सुरघुणु
घणमालए णं बालए किउ विचितु उप्परियणु।

विद्युत रूपी कंचुकी से भूषित देहवाली घनमाला रूपी बाला ने मानो सुरधुन रूपी उपरितन वस्त्र धारण किया हो।

इस प्रकार भाषा को सजीव तथा सप्राण साथ ही प्रवाहमयी धारा का रूप प्रदान करने वाले सभी तत्व पुष्पदन्त की भाषा में विद्यमान थे। एक ओर उसकी भाषा में संस्कृत की समास शैली जिसमें अलंकारों का बाहुल्य, शब्दों का चमत्कार होने से क्लिष्टता आ गई है तो दूसरी ओर सरल प्रवाहमय भाषा के प्रयोग से जन-साधारण के अधिक निकट होने का गुण भी उसमें विद्यमान है। यही भाषा लोक-भाषा है जिसमें लोक में प्रचलित मुहावरे तथा लोकोक्तियां बिना प्रयास चले आते हैं और आज की हिन्दी का विकास भी इसी लोक-प्रचलित भाषा के स्वरूप से हुआ है।

मंगीलाल मिश्र व्याकरणाचार्य

जैन व्याकरण साहित्य

देव नन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण प्रमुख ग्रंथ हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने इन व्याकरणों एवं इनके लेखकों के जीवन पर गवेषणा पूर्ण प्रकाश डाला है।

देवनन्दिका "जैनेन्द्र व्याकरण"

मुग्धबोध कर्ता बोपदेव में जिन पाठ—"इन्द्रश्चन्द्रः—काशकृत्स्नापिशली शाकटायनाः। पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ चशाब्दिकाः" वैयाकरणों के नामों का उल्लेख किया है– इनमें एक जैनेन्द्र भी है। प्रारम्भ में यह सन्दिग्ध था, कि ऐन्द्र और जैनेन्द्र एक ही व्याकरण के दो नाम हैं। डा० कीलहार्न ने कल्पसूत्र की समय सुन्दरकृत टीका और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला कर्णिका के उद्धरण–"यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम्। ऐन्द्र जैनेन्द्रमिति तत् प्राहुः शब्दानुशासनम्" के आधार पर इसे जिन देव द्वारा इन्द्र के लिये कहा बतलाया। एक ऐसा ही प्रसंग है कल्पसूत्र की विनय-विजयकृत सुबोधिनी टीका में। परन्तु हम प्रेमीजी की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं, कि ऐन्द्र और जैनेन्द्र व्याकरण अलग-अलग थे तथा जैनेन्द्र के कर्ता देवनन्दि या पूज्यपाद थे (देखिए–जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २५–२६)।

पूज्यपादका समय—

आचार्य देवनन्दि के काल के विषय में ऐतिहासिकों का परस्पर वैमत्य है। कीथ अपने "हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" में लिखता है, कि—"The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra really written by पूज्यपाद देवनन्दि perhaps was composed c. 678. p. 432 (जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ ई. के समीप लिखा गया)।

श्री प्रेमीजी ने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दि का काल सामान्यतया विक्रम की छठी शताब्दी निश्चित किया है। देखिए–जैन साहित्य तथा इतिहास पृ० २५–२६) श्री आई. एस. पवते ने अपने "स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी" में लिखा है "महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्य ने कर्णाटक कवि चरित के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण में पूज्यपाद की ई. सन् ४७० (५२७ वि०) में बताया है और दूसरे संस्करण में ६०० ई. (६५७ वि.) का",

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने "व्याकरण शास्त्र के इतिहास में प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणों के आधार पर आचार्य पूज्यपाद काल विक्रम की षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध माना था, पर अब वे नूतन प्रमाणों के प्रकाश में इसे ठीक न मान पूज्यपाद का काल अधिक से अधिक विक्रम की ५ वीं शताब्दि के चतुर्थ चरण से षष्ठ शताब्दी के प्रथम चरण तक मानते हैं, इसके पश्चात् नहीं (देखिए उनका लेख- जैनेन्द्र महावृत्ति-भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन पृ० ४३-४४)।

जैनेन्द्र की टीकाएं—

पूज्यपादकृत असली जैनेन्द्र की अधुनातक केवल ४ टीकाएं ही उपलब्ध हैं:—

१. अभयनन्दिकृत महावृत्ति
२. प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोज भास्करन्यास,
३. श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया और,
४. पं. महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र।

परन्तु इनके अतिरिक्त और टीकाओं का होना भी संभव है।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य—

जैनेन्द्र के सूत्रों में नीचे लिखे पूर्वाचार्यों का उल्लेख है:—

१. राद् भूतबले—(३, ४, ८३),
२. गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् (१, ४, ३४),
३. कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२, १, ६८),
४. रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४, ३, १८०),
५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५, १, ७),
६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५, ४, १४०)

प्रेमीजी के मतानुसार इन छहों आचार्यों में से शायद किसी ने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। परन्तु संभव है—इन आचार्यों के भी व्याकरण ग्रन्थ रहे हों—जो अन्य भारतीय साहित्य की तरह लुप्त या नष्ट होगए हों।

उपलब्ध ग्रन्थ—

श्री नाथूरामजी प्रेमी ने अपने लेख में आचार्य पूज्यपाद के निम्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है:—

१. सर्वार्थ सिद्धि, २. समाधि तन्त्र, ३. इष्टोपदेश, ४. दशभक्ति और ५. सिद्धप्रिय स्तोत्र।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—

१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३, वैधक ग्रन्थ, ४. सार संग्रह, ५. जैनाभिषेक। श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक के मत में आचार्य ने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था। इसकी सूचना श्रवणबेलगोला के ४० वें शिलालेख के चौथे श्लोक में तृतीय चरण के "छन्दः" पद से मिलती है। प्रेमीजी से इसका संकेत रह गया प्रतीत होता है।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद के व्याकरण के अतिरिक्त उपलब्ध और अनुलपब्ध ग्रंथों की संख्या १० हो जाती है।

उपसंहार—

इस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखला की पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणों की रचना होती चली गई। जैनेन्द्र ने भी अन्य वैयाकरणों की तरह पाणिनीय व्याकरण की मूल सामग्री का अवलम्बन लिया है। जैनेन्द्र ने पाणिनीय सामग्री की प्रायः अविकल रक्षा की है। वे प्रकरण, जो अपने युग के लिए अनावश्यक थे, छोड़ दिए गए।

विख्यात वैयाकरण पाल्य कीर्ति शाकटायन

शाकटायन नाम के एक बहुत प्राचीन ऋषि हो गए हैं, जिनके मत का उल्लेख अपनी अष्टाध्यायी में पाणिनि ने किया है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य (१, ३, १३, १६) और शुक्लयजुर्वेद के प्रातिशाख्य (३, ८) में तथा यास्क के निरुक्त (१, ३, १२) में भी इनका उल्लेख है। इनका समय लगभग १ हजार वर्ष ई० पूर्व अनुमानित किया गया है। (डा० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर, "हिस्ट्री आव् संस्कृत ग्रामर")। काशिका का "अनुशाकटायनं वैयाकरणाः" उदाहरण इनकी शिखरस्थित ख्याति का परिचायक है, जब कि पाणिनि उस समय विकासोन्मुख वैयाकरण रहे होंगे। इस प्रकार इन शाकटायन का कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य था, जो अब अप्राप्य है।

परन्तु जिन वैयाकरण शाकटायन का हमारे प्रस्तुत लेख से सम्बन्ध है, वे उपर्युक्त शाकटायन ऋषि से भिन्न एक जैन वैयाकरण थे और इनका काल ६ वीं या ८ वीं शताब्दी (ई०) है।* इनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। वादिराज सूरि के पार्श्वनाथचरित में इन्हें—

"कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तिर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शब्दिकान् कुरुते जनान् ॥

इस प्रकार स्मरण किया गया है। संभवतः एक बहुत बड़े वैयाकरण होने के कारण फिर लोग इन्हें "शाकटायन" नाम से पुकारने लगे हैं— जैसे विश्वकवि कालिदास के बाद और भी कई कालिदास कवि हो गए हैं।

---

* पं. युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार इनका समय वि० सं० ८७१–९२४ तक है। देखें उनका "व्याकरण शास्त्र का इतिहास।"

रचनाएं–

अधुना शाकटायन की ३ रचनाएं मिलती हैं— १. शब्दानुशासन का मूल सूत्र पाठ। २. उसकी अमोघवृत्ति और ३. स्त्रीमुक्ति, केवल मुक्ति प्रकरण। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में "यथातथा वाऽस्तु वस्तुनों रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायता तु रसवता। तथा च यमर्थ रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिंदति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते-इति पाल्यकीर्तिः—" इस प्रकार उद्धृत किया, जो इस ओर संकेत दे रहा है कि इनकी कोई साहित्यिक रचना भी थी पर आज नहीं मिल रही।

टीकाएं

शाकटायन के शब्दानुशासन पर १. अमोघवृत्ति, २. शाकटायन-न्यास, ३. चिन्तामणि टीका, ४. मणिप्रकाशिका, ५. प्रक्रिया-सग्रह, ६. शाकटायन टीका तथा ७. रूपसिद्धि टीकाएं उपलब्ध व प्रकाशित हैं।

पूर्ववर्ती आचार्य–

शाकटायन ने अपनी पूर्व गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया है, यहां तक कि अपने गुरु का नाम भी नहीं दिया है। शाकटायन सूत्रपाठ में इन्द्र सिद्धनन्दि और आर्यवज्र इन तीन आचार्यों के मतों का उल्लेख है।

आचार्य हेमचन्द्र और उनका व्याकरण

निरुक्तकार यास्का चार्य प्रसंगवशात् आचार्य शब्द का निर्वाचन करते हुए कहते हैं कि "आचार्यकस्मात्? आचार्य आचार ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमितिवा (अ० १–४) (आचार्य क्यों ?–आचार्य आचार ग्रहण करवाता है अथवा आचार्य अर्थों की वृद्धि करता है या बुद्धि बढ़ाता है)" भाषा शास्त्र की दृष्टि से ये व्युत्पत्तियां सत्य हों या न हों परन्तु आचार्य के तीनों धर्मों का इसमें समावेश होता दिखाई देता है। आधुनिक परिभाषा में यों भी कहा जा सकता है—आचार्य शिष्य वर्ग को शिष्टाचार तथा सद्वर्तन सिखाता है; विचारों की वृद्धि करता है अर्थात् चरित्र तथा बुद्धि का जो विकास कराने में सहायक हो–वह आचार्य। इस अर्थ या परिभाषा में श्री हेमचन्द्र गुर्जर (गुजरात) प्रदेश के एक प्रधान आचार्य हुए यह बात उनके जीवन कार्य का और लोक में उसके परिणाम का इतिहास देखने से स्पष्ट होती है।

जिस देश–काल में आचार्य हेमचन्द्र का जीवन कृतार्थ हुआ, वह एक ओर तो उनकी शक्तियों की पूरी कसोटी करे ऐसा था और दूसरी ओर उन शक्तियों को प्रकट होने में पूरा अवकाश देने वाला था।

गुर्जर के अणहिल्लपुर पाटन के अभ्युदय की पराकाष्ठा जयसिंह सिद्धराज (वि. सं. ११५०:११९९) और कुमारपाल (वि. सं, ११९९-१२२९ के समय में दिखाई दी और पौनी शताब्दी से अधिक काल (ई० सं० १०९४-११७३) तक स्थिर रही। आचार्य हेमचंद्र का आयुष्काल इस युग में था, उन्हें इस संस्कार और समृद्धि का लाभ प्राप्त हुआ था। उस युग में विद्या तथा कला को जो उत्तेजन मिला था, उससे हेमचंद्र को विद्वान होने के साधन सुलभ हुए होंगे, पर उनमें अग्रेसर होने के लिए असाधारण बुद्धि कौशल दिखाना पड़ा होगा।

प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य की जन्म तिथि वि. सं. ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा है। इसके बाद के अन्य सभी ग्रंथ यही तिथि देते हैं।

सोमप्रभ सूरि के कथनानुसार "उस सोममुंह–सौम्यमुख का नाम सोमचन्द्र रखा गया। हेम जैसी देह की कान्ति थी और चन्द्र की तरह लोगों को आनन्द देने वाला था, इसलिए वह 'हेमचंद्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सोमचन्द्र को २१ वर्ष की आयु में वि. सं. ११६६ (ई,-१११०) में सूरिपद मिला। इस समय से वह 'हेमचंद्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुमार पाल प्रतिबोध के अनुसार सूरिपद का महोत्सव नागपुर (नागौर-मारवाड़ में हुआ)। इतनी अल्पायु में इतने महत्व का स्थान हेमचद्र को दिया गया यह समकालीनों पर पड़े हुए उनके प्रभाव का प्रतीक है।

प्रभावक चरित के अनुसार सोमचंद्र को (आचार्य होने से पूर्व) तक, लक्षण और साहित्य पर शीघ्रता से प्रभुत्व प्राप्त हुआ था और 'शतसहस्रपद' की धारणा शक्ति से उसे सन्तोष न हुआ। इसलिए 'कश्मीर देश

वासिनी' की आराधना करने के लिए कश्मीर आने की अनुमति गुरु से मांगी, पर उन्हें कश्मीर जाना न पड़ा। इस कथन से तथा इसके अतिरिक्त "काव्यानुशासन" में हेमचन्द्र जिस बहुमान से आचार्य अभिनव गुप्त का उल्लेख करते हैं वह भी उनका काश्मीरी पंडितों के साथ गाढ़ विद्यापरिचय सूचित करता है।

हेमचंद्र का जयसिंह से साथ कब हुआ इत्यादि निश्चित रूप से जानने के लिए कोई साधन नहीं। प्रभावक चरित और प्रबन्ध चिंतामणि के अनुसार कुमुदचंद्र के साथ शास्त्रार्थ के समय हेमचंद्र उपस्थित थे (वि. सं. ११८१ (११२५ ई.)। उस समय वे ३१ वर्ष के होंगे और आचार्य पद मिले एक दशक बीत चुका होगा।

सिद्धराज जयसिंह का मालवी की अन्तिम विजय के समय भिन्न २ सम्प्रदायों के प्रतिनिधि उसे अभिनंदन देने आए। उस समय जैन सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में हेमचन्द्र ने स्वागत किया था। उस प्रसंग का उनका श्लोक—

"भूमि कामगवि। स्वगोमयरसैरासिन्च रत्नाकरा,
मुक्ता स्वस्तिक मातनुध्वमुडुप त्व पूर्णकुम्भी भव।

धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा—
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिप: ॥—

(प्रभावक चरित पृ-३००) प्रसिद्ध है। यह घटना वि. स. ११९१-९२ में घटित हुई होगी। उस समय हेमचंद्र की आयु ४६-४७ वर्ष की होगी।

इष्टदेव की उपासना में जयसिंह कट्टर शैव ही रहा, परन्तु ऐसा मानने का कारण है, कि धर्म विचारणा के समय में सारग्रहण करने की उदार विवेकबुद्धि से हेमचन्द्र की चर्चाएं होती होंगी और बहुत सम्भव है कि इतर धर्मों पर आक्षेप किए बिना ही उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझा कर जयसिंह को उनमें 'अनुरक्त मनवाला' किया हो।

यह 'सर्वदर्शन मान्यता' की दृष्टि साम्प्रदायिक चातुरी थी—जैसा कि डा. ब्युल्हर मानते हैं अथवा सारग्राही विवेक बुद्धि में से परिणित थी— इसका निर्णय करने का कोई बाध्य साधन नहीं है।

प्रभावक चरित के अनुसार हेमचन्द्र वि. १२२९ में ८४ वर्ष की आयु मे दिवंगत हुए।

हेमचन्द्र के शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, अभिधान चिन्तामणि और देशीनाममाला-इन ग्रंथों में उस विषय की तत्काल तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का संग्रह हुआ है। ये सब तत्तद् विषय के आकर ग्रंथ हैं। मूल सूत्रों तथा उस पर की स्वोपज्ञ टीका में प्रत्येक व्यक्ति को तद्विषयक सभी ज्ञातव्य विषय मिल सकते हैं। इस प्रकार आ. हेमचंद्र ने तर्क, लक्षण और साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने के साधन देकर सरस्वती के घर को स्वावलम्बी बनाया।

द्व्याश्रय-संस्कृत एवं प्राकृत काव्य का उद्देश्य भी पठन-पाठन है। इन ग्रंथों की प्रवृत्ति व्याकरण सिखाना और राजवंश का इतिहास कहना इन दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिए है।

प्रमाण मीमांसा-नामक अपूर्ण उपलब्ध ग्रंथ में प्रमाण चर्चा है। त्रिषष्टिशला का पुरुष चरित तो एक विशाल पुराण है। हेमचन्द्र की विशाल प्रतिभा को जानने के लिए इस पुराण का अभ्यास आवश्यक है।

उसका परिशिष्ट पर्व भारत के प्राचीन इतिहासकी गवेषणा में अत्युपादेय है।

योगशास्त्र में जैन दर्शन के ध्येय के साथ योग की प्रक्रिया के समन्वय का समर्थ प्रयास है। हेमचन्द्र को योग का स्वानुभव था—ऐसा उनके कथन से ही प्रतीत होता है।

द्वात्रिंशिकाएं तथा स्तोत्र-साहित्यिक दृष्टि से हेमचन्द्र की उत्तम कृतियां हैं। इस प्रकार भारत के साहित्य के इतिहास में हेमचन्द्र का स्थान महान् वैयाकरण व पंडितों की पंक्ति में है। उनका शब्दानुशासन १३ वीं शताब्दी की अमर रचना है।

अर्वाचीन तेरह पंथी व्याकरण-साहित्य

तेरह पंथ के आचार्य भिक्षु की शिष्य परम्परा में विद्वान् मुनि चौथमल्ल ने पहले आचार्य भिक्षु के नाम पर

"भिक्षु शब्दानुशासन नामक विशाल ग्रन्थ का प्रणयन किया, जो संस्कृत भाषा की विशाल परिधि में अवस्थित भाषा विज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोणों का विश्लेषण करता है। आगे चल कर इसी वैयाकरण ने संस्कृत-व्याकरण के नियमों को सरल बनाने के प्रसंग में–कालुकौमुदी–अपने गुरु तेरह पन्थ के अष्टम आचार्य–कालुराम–के नाम पर–का निर्माण किया, जो उपयोगी सामयिक रचना है।

संस्कृत में लिखी गई एक नई संस्कृत–व्याकरण का इस तथ्य की ओर संकेत करता है, कि संस्कृत लेटिन और ग्रीक की तरह "मृतभाषा" नहीं है।

अधुना आचार्य तुलसी (नवम आचार्य) इस विचार-धारा के साथ, कि, संस्कृत का महत्व केवल इसलिए नहीं कि वह प्रादेशिक भाषाओं का उद्गम है और न इसीलिए, कि वह युग युग पर्यन्त राष्ट्र–जीवन में ऐक्य-शक्ति का संचार करने वाली है, परन्तु इसलिए है, कि उसमें ज्ञान तथा विचारों की वह निधि है, जो द्वेष, संघर्ष और हिंसा द्वारा विशृंखलित संसार के लिए धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों का पुन: संस्थापन कर सकते है" "संस्कृत विद्या के प्रसार के लिए यत्नशील है।

निम्न महाशय ने जैतपुर विराजमान लींबडी सम्प्रदाय के महाराज श्रीलवजी स्वामी से भेंट की। आपने महाराज श्री के साथ जैन रिलीजन सम्बन्धी चर्चा पौन घन्टे तक की, आखिर में आपने जैन मुनियों के पारमार्थिक जीवन और त्याग धर्म की योग्य प्रशंसा की और पीछे से पत्र द्वारा अपना सन्तोष जाहिर किया। इसमें बहुत तारीफ करने के साथ समयाभाव से अधूरा विषय छोड़ना पड़ा इसका अफसोस जाहिर किया।

जैन वर्तमान १४ जून १६१३ ई० से

—मि० एच डब्लयू वर्धन सं० एजेंट

वासुदेव सिंह,
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
आर. एम. पी., डिग्री कालेज, सीतापुर (यू. पी.)

जैनों का रहस्यवाद

> जैन दर्शन में रहस्यवाद के तत्व, आरम्भ से ही आ गए थे। और यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जैन धर्म के अधिष्ठाता चौबीस तीर्थंकर संसार के प्रमुखदर्शियों में थे। उनका जीवन चरित, उनका रहन सहन, उनका दैनिक आचरण इस दिशा में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन साहित्य में रहस्यवाद पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

आदि काल से मानव विश्व के रहस्य को जानने के लिए प्रयत्नशील रहा है। सामान्यतया व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को अपने बौद्धिक मापदण्ड से आंकना चाहता है। किन्तु मनुष्य का अनुभव बतलाता है कि बौद्धिक विवेचन में ही मानव जीवन की चरितार्थता नहीं है। "और भी गहराई में कुछ और है, जो उपरले स्तर के आवरणों से भिन्न है। वह न तो इन्द्रियार्थों की प्राप्ति से संतुष्ट होता है, न मानसिक स्तर की तृप्ति से आश्वस्त होता है और न बौद्धिक विश्लेषण से परितृप्त होता है। उसकी प्यास कुछ और ही तरह की है।"[1] रस पिपासा की शान्ति न तर्क से हो सकती है, न मन से न इन्द्रियों से और न विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से। इनसे भी परे एक सत्ता है, जिसे हम आध्यात्म सत्ता कह सकते हैं। जब हमारी समस्त शक्तियां असामर्थ्य प्रकट करती हैं, जब हमारा ऐन्द्रिय-व्यापार नैराश्योन्मुख होने लगता है, तब हम आध्यात्म-सत्ता अथवा अन्तर्ज्ञान के ही सहारे विश्व-रहस्य को खोलने में समर्थ होते हैं। बर्टेण्ड रसेल नामक प्रमुख दार्शनिक ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'प्रकाश के क्षण का प्रथम और प्रत्यक्ष परिणाम ज्ञान के एक ऐसे मार्ग की संभवता में विश्वास है, जिसे देवीज्ञान, परिज्ञान या अन्तर्ज्ञान कहा जा सकता है, और जो इन्द्रियज्ञान, तर्क और विश्लेषण से भिन्न है।'[2] प्राचीन तत्वद्रष्टा ऋषि और वेदान्ती भी इसी शक्ति अथवा वृत्ति के अस्तित्व की घोषणा प्राचीन काल से करते आ रहे हैं। इसे वे साक्षात् ज्ञान, अनुभवज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति कहते हैं। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आता है कि वह परमतत्व आध्यात्म-योग अथवा सहजानुभूति के द्वारा ही ज्ञातव्य है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म न आंखों से, न वचनों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है।

---

१. प्रो. रामपूजन तिवाड़ी—सूफीमत साधना और साहित्य की भूमिका लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. ख

२. The first and most direct outcome of the moment of illumination is belief in the possibility of a way of knowledge which may be called revelation or insight or intuition as contrasted with sense, reason and analysis ...."Bertrand Russell—Mysticism and Logic, Page 16

मान स्तंभ, कलय कीर्तिजी का मन्दिर, आमेर, जयपुर

विशुद्ध सत्व धीर व्यक्ति उसे ज्ञान के प्रसाद से साक्षात् देखते हैं:—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु
तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमान : ।।
(मुण्डक० ३।१।८)

इसी प्रकार केनोपनिषद में कहा गया है कि न वहां चक्षु जाते हैं, न वाणी और न मनः—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो (केन १।३)

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'दिव्यचक्षु' की बात कही है, जो सम्भवत: अन्तर्ज्ञान की ओर ही संकेत है:—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्य ददामि ते चक्षुः पश्य में योगमैश्वरम् ।।११।८।

जिस प्रत्यक्षानुभूति अथवा अन्तर्ज्ञान की चर्चा ऋषियों द्वारा की गई, परवर्ती आत्मदर्शी सिद्धों और संतों ने उसी के द्वारा 'परमसुख' की प्राप्ति का प्रयास किया। सिद्धों ने सहजानुभूति अथवा 'सहज साधना' पर जोर दिया, सहज स्वभाव को अमृतरस बताया और ऋजुमार्ग पर चलना श्रेयस्कर समझा:—

उजु रे उजु छाड़हि मा लेहु रे बंक ।
णिग्रहि बोहि मा जाहु रे लाङ्क ।।
(पुरातत्व निबंधावली, पृ० १७०)

× × ×

सहज सहावा हलें अमिय रस,
कासु कहिज्जइ कीस । (दोहाकोष पृ० १८)

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ से ही अध्यात्म क्षेत्र में एक शाखा ऐसी रही है, जिसका आधार स्वानुभूति और स्वसंवेदन ज्ञान रहा है। यहीं से रहस्यवाद का प्रारम्भ समझना चाहिए।

जैन काव्य में रहस्यवाद विषय पर विचार करने के पूर्व इस शंका का समाधान आवश्यक है कि जैनदर्शन में रहस्यवाद संभव है या नहीं। अनेक विद्वानों ने इसकी संभवता का निषेध करते हुए कहा है कि जैन धर्म एक नास्तिक धर्म है। वह ईश्वर या परब्रह्म की सत्ता में विश्वास नहीं करता। निरीश्वरवादी रहस्यवादी हो ही नहीं सकता। मध्य काल के धार्मिक विचारों को दो भागों में बांट दिया गया था—आस्तिक और नास्तिक। इन शब्दों की व्याख्या भी कई प्रकार से की गई। कुछ लोग 'आस्तिक' का तात्पर्य उस सम्प्रदाय से लगाते थे, जो वेद और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे और इन दोनों की सत्ता को न मानने वाली विचारधाराएं 'नास्तिक' कहलाती थीं। मनु ने वेद निन्दक को नास्तिक माना था तो उनके टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने परलोक में विश्वास न करने वाले को। सातवीं शताब्दी के बाद इस प्रवृत्ति का अधिक जोर बढ़ गया था। प्रायः एक मत दूसरे मतकी निन्दा करने के लिए और उसकी हीनता सिद्ध करने के लिए, उसे अवैदिक और नास्तिक की उपाधि प्रदान कर दिया करता था। नास्तिक सम्प्रदायों में चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक और जैन मत की गणना के अतिरिक्त मीमांसा और सांख्य आदि निरीश्वरवादी सम्प्रदायों का नाम लिया जाता था।

वस्तुत: इस प्रकार का वर्गीकरण तत्वपूर्ण नहीं दिखाई पड़ता। इस विभाजन के मूल में आत्मश्लाघा और पर निन्दा की भावना ही मुख्य रूप से कार्य करती थी। यही कारण है कि पाशुपतों और माहेश्वरों को नास्तिक सिद्ध करने वाले शंकराचार्य को भी इसी आक्षेप का शिकार होना पड़ा था।[1] जैन मत वेद को भले ही अपना आदर्श न मानता हो, अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेद को भले ही अपना आदर्श न मानता हो, अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों की दुहाई भले ही न देता हो, किन्तु उसे निरीश्वरवादी अथवा परलोक में विश्वास न करने वाला मत नहीं कहा जा सकता। डा. मंगलदेव शास्त्री ने उपर्युक्त वर्गीकरण की निस्सारता सिद्ध करते हुए लिखा है "यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं

---

१. देखिये आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ. १६

मति: (पा. ४।४।६०)' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसे हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को मानने वाला 'आस्तिक' और न मानने वाला 'नास्तिक' कहलाता हैं। स्पष्टत: इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तुतत्व पर विचार करने के कारण, दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।''[1]

जैन मत में ईश्वर या परमात्मा के उस स्वरूप को नहीं स्वीकार किया गया है, जो वेदों को मान्य है अथवा ब्राह्मण ग्रंथों मेंजिसकी चर्चा है। किन्तु उपनिषद् का 'एक ब्रह्म'यहां आकर अनेक 'परमात्मा' के रूप में पर्यवसित हो गया है। जैन दर्शन यह मानता है कि प्रत्येक आत्मा में यह शक्ति है कि वह परमात्मा बन जाय। उसमें आत्मा की तीन अवस्थाएं या भेद माने गए हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। यह आत्मा की किसी जाति के वाचक न होकर, अवस्था विशेष के ही द्योतक हैं। बहिरात्मा उस अवस्था का नाम है, जिसमें आत्मा अपने को नहीं पहचानता, देह और इन्द्रियों द्वारा स्फुरित होता हुआ, उन्हीं को सर्वस्व मानने लगता है। अन्तरात्मा उस अवस्था विशेष का नाम है, जिसे प्राप्त कर जीवात्मा अपने को पहचानने लगता, देहादि को अपने से भिन्न मानने लगता है, परन्तु पूर्णज्ञानी या पूर्णविद् नहीं बन जाता। परमात्मा आत्मा की वह विशिष्ट अवस्था है, जिसे पाकर यह जीव पूर्ण विकास को प्राप्त होता है और पूर्ण सुखी तथा पूर्णविद् हो जाता है। इस प्रकार अवस्था या पर्याय की दृष्टि से आत्मा की त्रिविधता है, स्वरूप या द्रव्य की दृष्टि से नहीं। मोक्खपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा के इसी स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है:—

'तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा।। ४।।
अक्खाणि बहिरप्पा अन्तर अप्पा हु अप्प संकप्पो।
कम्म कलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।। ५।।

अर्थात आत्मा तीन प्रकार की है – अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। उसमें अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्माका परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करो। आपने परमात्मा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि परमात्मा मल रहित, शरीर रहित, इन्द्रिय रहित, केवलज्ञानी, विशुद्ध परमपद में स्थित, सब कर्मों को जीतने वाला, कल्याणकारी, शाश्वत और सिद्ध है।

'मलरहि ओ कलचतो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो।। ६।।

इस प्रकार जैन दर्शन में परमात्मा की कल्पना प्रारम्भ में हो कर ली गई थी, भले ही उसकी संख्या एक न होकर अनेक हो, भले ही वह नियामक और भिन्न वस्तु न स्वीकृत होकर, आत्मा का ही शुद्ध, विकसित और निर्विकार रूप माना गया हो। श्री चन्द्रधर शर्मा ने तो लिखा है कि आगे चलकर वर्धमान महावीर ने परमात्मा का स्थान ले लिया और उन्हें शुद्धात्मा कहा गया। वे इन्द्रिय, वाणी और विचार से परे हो गए और शुद्ध चैतन्य स्वरूप धारण कर लिए, जिन पर किसी भी प्रकार के विकार का प्रभाव नहीं पड़ सकता था। जिस प्रकार समस्त जल समुद्र से मेघ द्वारा आता है, नदियों के रूप में बहता है और अन्तत: नदियों के द्वारा सागर में मिल जाता है, इसी प्रकार समस्त सापेक्षिक दृष्टिकोण परमतत्व से उद्भूत होकर उसी में लय हो जाते हैं'।[2]

इससे स्पष्ट है कि जैन मत प्रारम्भ से ही परमात्म तत्व में विश्वास करता है। उनके अनुसार सामान्यतया जीव नाना प्रकार के 'अजीव' पदार्थों से ग्रस्त रहता है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'पुद्गल' कहते है। आत्म-प्रदेश पर पुद्गल के आगमन से आत्मा नाना प्रकार के

१ देखिये प्रो. महेन्द्र कुमार—जैनदर्शन की भूमिका पृ. १२
२ Shri Chandra Dhar Sharma—Indian Philosophy. Page 72

राग द्वेष मोहादि में फंस जाता है। इसी मिथ्यात्व को 'आस्रव' कहते हैं। इसका निरोध ही 'संवर' कहलाता है। 'संवर' निर्जरा का एवं क्रम से मोक्ष का कारण होता है। जब आत्मा स्वयं या गुरु उपदेश से आत्म-अनात्म भेद से अवगत हो जाता है अर्थात् उसमें स्व-पर-विवेक जाग्रत हो जाती है, तब उसे सम्यक् ज्ञानी कहते हैं। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति ही परमात्मा का विशेष लक्षण है।

वर्णन शैली में उदारता

छठी शताब्दी तक आते आते जैन मुनियों की वर्णन शैली और वस्तुस्थापन शैली में बड़ी उदारता एवं व्यापकता दिखाई पड़ने लगती है। पूर्वकालीन एवं समकालीन पाखंडियों का विरोध, कर्मकाण्ड की बहुलता की निस्सारता पर जोर, समरसी भाव एवं स्वसंवेदन ज्ञान में निष्ठा आदि इस युग की जैन रचनाओं में उसी प्रकार से देखा जा सकता है, जैसा की उस युग के अन्य योगियों और तान्त्रिकों में। बहुत सम्भव है कि इसी दिशा में वे तान्त्रिकों से प्रभावित भी हुए हों, जिसे कि बहुत से विद्वानों ने स्वीकार भी किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "विक्रम की छठी शताब्दी के बाद भारतीय धर्म साधना में एक नई प्रवृत्ति का उदय होता है।

इस समय से भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में उस प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है, जिसे संक्षेप में तान्त्रिक प्रभाव कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है [1]। हां, यह अवश्य सत्य है कि इस (जैन) साधना में तान्त्रिकों के समान 'पंचमकार' नहीं आने पाए, स्त्री को साधना का केन्द्र बिन्दु नहीं माना गया और उस प्रकार की वासनोद्दीपक और वीभत्स क्रियाएं भी सम्मिलित नहीं होने पाईं, जो छद्मवेष में कामुकों की परितृप्ति का साधन बनती। किन्तु यही सब रहस्यवाद नहीं है। और न रहस्यवाद को इन्हीं सीमाओं में बन्दी बना देना उपयुक्त ही।

वस्तुतः अध्यात्म की चरम सीमा ही रहस्यवाद की जननी है। यह एक ऐसी अनुभूति है जो साधक के अन्तस में जाग्रत होकर, अखिल विश्व को उसके लिए ब्रह्ममय कर देती है अथवा उसे स्वयं ही ब्रह्म बना देती है। बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय बन जाता है। समस्त प्राणियों में उसे परमात्मा का आभास होने लगता है। 'वह मन की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो परमात्मा से प्रत्यक्ष, तात्कालिक, प्रथम स्थानीय और अन्तर्ज्ञानीय सम्बन्ध स्थापित करती है।" [2] इस सम्बन्ध-स्थापन-हेतु किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इन्द्रिय और मन के व्यापार विरत हो जाते हैं। समस्त सांसारिक वस्तुओं को साधक निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से देखने लगता है। आत्मा मल और विकार-शून्य होते हुए क्रमशः उस उच्च बिन्दु तक पहुंच जाती है 'जंह मण पवण न संचरइ' 'जंह रवि ससि नाह पवेस।' उसमें वह ज्ञान पैदा हो जाता है, जिससे वह सत्य और असत्य के अन्तर को स्पष्ट करने में सक्षम हो जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में वह 'परा विद्या' युक्त होकर परमात्मा के गुणों से आवेष्टित हो जाता है अथवा स्वयं परमात्मा बन जाता है। पाप-पुण्य से परे हो जाता है। समय की सीमा अथवा काल का बंधन उसे जकड़ नहीं पाता। वह गुण दोषों की विवेचना में नहीं फंसता, क्योंकि उसके लिए यह सब अवास्तविक प्रतीत होने लगते हैं।

चार मूलभूत आधार

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्राण्ड रसेल ने रहस्यवाद के चार मूलभूत आधार स्तम्भ माने हैं:—

(१) ज्ञान की उस शाखा की संभवता में विश्वास करना, जिसे अन्तर्ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान या स्वसंवेद्यज्ञान

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ, ६

२. "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of God"
R. D. Ranade—Mysticism in Maharashtra Preface, Page 1

कहते हैं और जो एन्द्रिय ज्ञान तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।

(२) एकता में विश्वास—पाप-पुण्य के द्वय का निषेध।

(३) समय अथवा काल की यथार्थता का निषेध।

(४) दोषों की असत्यता में विश्वास—यह निष्ठा कि समस्त सांसारिक गुण-दोष माया हैं, भ्रम हैं, दिखावा मात्र हैं।

जैनाचार्यों ने, मध्यकालीन अन्य संतों के समान, उपर्युक्त तथ्यों को स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि मनुष्य केवल स्थूल बुद्धि से अथवा पुस्तकीय ज्ञान से परमतत्व की अनुभूति नहीं कर सकता, परमात्मा नहीं बन सकता। वह व्यक्ति जो आजीवन नाना ग्रन्थों और शास्त्रों में ही चक्कर काटा करते हैं अन्तः अपने उद्देश्य में निष्फल ही रहते हैं। मुनि रामसिंह कहते हैं कि 'मूर्ख तूने बहुत पढ़ा, जिससे कि तालू सूख गई, किन्तु यदि एक अक्षर पढ़ ले तो शिवपुर गमन हो जाय:—

बहुयइं पढ़ियइं मूढ़ पर, तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु ज अक्खर तं पढ़इ, सिवपुरि गम्मइ जेण॥

वे फिर कहते हैं कि जो केवल विश्लेषणात्मक और तर्क प्रधान ज्ञान को ही सर्वस्व समझ लेते हैं वे कण को छोड़ तुष को ही कूटते हैं। वे ग्रन्थ और उसके अर्थ को जानते हुए भी परमार्थ नहीं जानते। अतः मूर्ख ही बने रहते हैं:—

पंडिय पंडिय पडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे ग्थे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढ़ोसि॥८५॥
(पाहुड़ दोहा)

जैनाचार्यों ने पाप और पुण्य दोनों की निस्सारता की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है। यदि एक को लौह शृंखला बताया है तो दूसरे को स्वर्ण-शृंखला। किन्तु हैं दोनों बंधन स्वरूप। साधना के पथ पर अग्रसर होने वाले 'आत्मा' के लिए दोनों अन्तराय बन जाते हैं। देव सेन ने 'सावयधम्म दोहा' में कहा है कि पुण्य और पाप दोनों, जिसके मन में सम नहीं हैं, उसे भव-सिंधु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की निगड़ प्राणी का पाद बंधन नहीं करती?

'पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु।
कणय लोहणियलइं जियहु किं ण कुणहि पयबंधु॥२११॥

कुन्द कुन्दाचार्य ने इसीलिए 'मोक्ख पाहुड़' में स्पष्ट रूप से कह दिया था कि योगी मन, वचन, कर्म से मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप, पुण्य आदि का परित्याग कर योगस्थ होकर आत्मा का ध्यान करता है:—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वहएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा॥२८॥

साधक के लिए साधना के पथ पर अग्रसर होने के पूर्व, पाप-पुण्य समान रूप से हीन समझकर दोनों का त्याग नितान्त आवश्यक माना गया। सच्चे ज्ञान की संज्ञा उसीको दी गई, जिसके आलोक में पाप-पुण्य के तम का विनाश हो जाय। मुनि रामसिंह ने कहा कि 'हे मूर्ख! बहुत पढ़ने से क्या? ज्ञान-तिलिंग (अग्निकण) को सीख, जो प्रज्वलित होने पर पाप-पुण्य दोनों को विनष्ट कर देता है। (पाहुड़ दोहा नं. ८७)

इस प्रकार जैन दर्शन में रहस्यवाद के तत्व, आरम्भ से ही आ गए थे। और यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जैन धर्म के अधिष्ठाता चौबीस तीर्थ कर संसार के प्रमुख रहस्यदर्शियों में थे। उनका जीवन चरित, उनका रहन सहन, उनका दैनिक आचरण इस दिशा में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव श्रीमदभागवत में (पञ्चमस्कंध, तृतीय अध्याय, पृ. ५५५) विस्तार से वर्णन मिलता है, जो उनके परमात्मा-रूप का प्रतीक है। ऋषभ देव के उपदेश भी आत्मपरक हुआ करते थे। आपने अपने पुत्रों से कहा था कि जब तक जीव को आत्मतत्व की जिज्ञासा नहीं होती, तभी तक अज्ञानवश देहादि के द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है। जब तक वह लौकिक-वैदिक कर्मों में फंसा रहता है, तब तक मन के कर्म की वासनाएं भी बनी रहती हैं और इन्ही से देह बंधन की प्राप्ति होती है:—

पराभवस्तावद बोध जातो,
यावन्नजिज्ञासत आत्मतत्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै,
कर्मात्मकं येन शरीर बंधः॥

ऋषभदेव के जीवन चरित और साधना पद्धति का जो उपर्युक्त वर्णन श्री मद्भागवत में मिलता है, उससे यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ऋषभ-देव विश्व के उच्चकोटि के रहस्यदर्शियों में थे और आपने एक नवीन धर्म को ही जन्म नहीं दिया था, अपितु उसके मूल में आत्मा-परिष्कार के सच्चे बीजों का वपन भी कर दिया था। इसीलिए प्रो० आर० डी० रानाडे सदृश मनीषियों ने भी आपको उच्चकोटि का साधक और रहस्यदर्शी माना है। यहां एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ऋषभदेव का श्री मद्भागवत द्वारा वर्णन जैन परम्परा समर्थित है। जैन आचार्यों ने भी इसी प्रकार आपकी चिन्तामुक्तता, उदासीनता और साधना पद्धति का वर्णन किया है।[1]

आपके उपरान्त अन्य तीर्थंकरों द्वारा इसी साधना-पद्धति का अनुसरण किया गया। कवियों और सिद्धान्त-प्रतिष्ठापकों द्वारा भी इसी का अनुवर्तन किया गया। इस दृष्टि से श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम प्रथम और प्रमुख आचार्य के रूप में लिया जा सकता है। तदुपरान्त स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमित-गति आदि अनेक संतों द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग-दान हुआ है। सातवीं शताब्दी के बाद से १७वीं, १८वीं शताब्दी तक अनेक संत कवि हुए, जिनमें योगीन्दु, मुनि रामसिंह, नेमिचन्द्र, आनन्द तिलक, बनारसीदास, छीहल, रूपचन्द्र, भैया भगवतीदास और आनन्दघन आदि प्रमुख हैं। समय के साथ साथ इन लोगों ने अनेक नूतन तत्वों को ग्रहण किया। प्राचीन संकीर्ण विचारों का परित्याग भी किया।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, आठवीं-नवीं शताब्दी तक आते-आते जैन मत पर पर्याप्त बाह्य प्रभाव पड़ चुका था। वह पूर्व मुनियों और आचार्यों द्वारा नियोजित कर्मकाण्ड की बहुलता और अतिशयता से भी ऊब चुका था। अतः इसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक रूप से आवश्यक थी। फलतः इस समय तक आते आते जैन संतों की विचार सरणि और अभिव्यक्ति की प्रणाली में भी काफी अन्तर आ गया। यद्यपि तांत्रिकों के प्रभ-गुण से यह बचा रहा तथापि इसने शैव, शाक्त आदि योगियों और तांत्रिकों की अनेक बातों को ग्रहण कर लिया। बाह्याचार का विरोध, चित्त शुद्धि पर ज़ोर, शरीर को ही समस्त साधना का केन्द्र बिन्दु मानना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनन्द का उपभोग जैन आचार्यों द्वारा उसी प्रकार स्वीकृत और प्रसारित हुआ, जिस प्रकार तत्कालीन अन्य आत्म दर्शी सिद्धों और सन्तों ने। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का तो विश्वास है कि "अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेगी। वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम फिरकर उस युग के सभी साधुओं के अनुभव में आया करते थे।[2]" कहने का तात्पर्य यह है कि उस युग के जैन रहस्यवादी कवियों ने भी समस्त बाह्याडम्बरों, रूढ़िवादिताओं और पाखण्डों का विरोध किया, शरीर तथा आत्मा में अन्तर स्पष्ट करते हुए विराट् तत्व का निवास इसी शरीर में बताया। योगीन्दु मुनि ने कहा कि देह रूपी देवालय में ही अनादि और अनन्त परमात्मा का वास है, जो केवल ज्ञान से स्फुरित होता है:—

> देहा-देवलि जो बसइ देउ अणाइ-अणंतु।
> केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥
> (परमात्मप्रकाश)

देह- स्थित इस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मंदिर, तीर्थाटन, पूजा आदि बाह्य साधनों की आव-श्यकता नहीं। कारण, तीर्थयात्रा से केवल बाह्य शरीर मल रहित हो सकता है, किन्तु अन्तरात्मा अप्रभावित ही रहेगी:—

> तित्थइं तित्थ भमंतयंह: कि णेहा फल हूव।
> बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव ॥१६२॥
> (पाहुड़दोहा)

१. देखिये प्रो महेन्द्र कुमार—जैन दर्शन पृ. ३

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ. ४३

अतः वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से रहित जीवों को तीर्थ भ्रमण से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता:—

तित्थइं तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्खु ण होइ ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवर होइण सोइ ॥१८५॥
(परमात्म० प्र० द्वि० खण्ड)

जब परमात्मा का आवास शरीर ही है अर्थात् जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, वही पिण्ड में स्थित है, तो केवल चित्त शुद्धि से ही उसका पावन साक्षात्कार किया जा सकता है। जब मन नाना प्रकार की वासनाओं से बिरत हो जाता है, शरीर और तत्सम्बन्धित पदार्थों की क्षण-भंगुरता को जानकर उससे विमुख हो जाता है और एक मात्र आत्म तत्व की ही आराधना करता है, तब एक ऐसी अवस्था आती है, जब उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और वह परमानन्द का अनुभव करता हुआ, उसी में लीन हो जाता है अथवा वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। इसे ही 'सामरस्य अवस्था या समरसी भाव' कहा गया है। इस आनन्द का अनुभव करने वाला साधक अन्य किसी रस की स्पृहा नहीं करता:—

समरसकरणं वदाम्यां परमपदारिवल,
पिण्डयोरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योग निष्ठा-इतर-पदेषु,
गत स्पृहा भवन्ति ॥
(आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४५ से उद्धृत)

इस 'समरसी भाव' में लवणवत् धुल-मिल जाने पर, अपनी सत्ता को परम सत्ता में एकाकार कर देने पर, किसी अन्य साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जीव इसी पिण्ड में अवस्थित ब्रह्म से अपना अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। योगीन्दु मुनि ने कहा है कि समरसी भाव को प्राप्त हुआ साधक संकल्प-विकल्प-रहित होकर, आत्म स्वरूप में ठहरता है, उसे 'संवर निर्जरा स्वरूप' भी कहा जाता है:—

'अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि, अप्पु-सरूवि णिलीणु ।
संवर-णिज्जर जाणि तुहुं-सयल-वियप्प विहीणु ॥३८॥
(परमात्मा प्रकाश, अध्याय) २

इसीलिए आपने चित्त शुद्धि पर अत्यधिक जोर दिया। आपने बार-बार कहा कि वन्दन, निन्दन और प्रतिक्रमण को छोड़कर, जीव को शुद्ध चित्त सम्पन्न होना अनिवार्य है। मन शुद्धि के बिना संयम सम्भव नहीं। चित्त शुद्धि के ही द्वारा व्रत, तप, संयम और कर्मक्षय संभव है। विशुद्ध भाव ही धर्म है। शुद्ध-भाव ही मुक्ति मार्ग है। चित्त शुद्धि के बिना किसी भी साधन से मुक्ति सम्भव नहीं:—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिं एहु ण जुत्तु ।
एक्कुजि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाव पवित्तु ॥२।६५॥
सुद्धहं संजमु सीलु तउ सुद्धहं दंसणुणाणु ।
सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥२।६७॥

चित्त शोधन मात्र से मानव मन स्वच्छ दर्पणवत् परमतत्व का आभास कराने लगता है। मन बहिर्मुखी न रहकर अंतर्मुखी हो जाता है। अपने परम प्रिय का दर्शन पा अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता हुआ साधक उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जिसमें ब्रह्म-कर्म की अपेक्षा नहीं रहती, और ठीक भी तो है। जब मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से, दोनों समरस हो रहे, तो पूजा किसे चढ़ाया जाय ?

मणु मिलियउ परमेसर हो परमेसरू जि मणस्स,
बिण्णि वि समरसि हुई रहिअ पुज्ज चढ़ावउं कस्स ॥४६॥
(पाहुड़ दोहा)

पाप पुण्य, लाभ हानि, गुण-दोष आदि की विवेचना करना तो दूर रहा, उसके अन्तर की ओर भी साधक का मन नहीं जाता। तभी तो योगीन्दु मुनि ने कहा था कि 'किसकी समाधि करूं ? किसकी अर्चना करूं ? स्पर्शास्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करूं ? किससे मित्रता और किससे शत्रुता करूं ? जहां कहीं देखता हूं, आत्मा ही दिखाई पड़ती है:—

को ? सुसमाहि करउं को अंचउ,
छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ,
जहिं कहिं जोवउ तहिं उप्पाणउ ।।४०।।
[योगसार]

इस प्रकार कर्म से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध-चेतन-व्यापार-स्वरूपा हो जाती है। मिथ्यात्व के बंधन और सीमाएं टूट जाती हैं। यही सिद्ध केवली अथवा मुक्त आत्मा की अवस्था कहा गया है। यही साधना पथ रहस्यवाद है।

साफ प्रगट है कि भारतवर्ष का अधःपतन जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त के कारण नहीं हुआ था, बल्कि जब तक भारतवर्ष में जैनधर्म की प्रधानता रही थी, तब तक उसका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है और भारतवर्ष के ह्रास का मुख्य कारण आपसी प्रतिस्पर्धामय अनैक्यता है जिसकी नींव शंकराचार्य के जमाने से दी गई थी।

—मि० रेवरेन्ड जे० स्टीवेन्सन सा०

(जैनमित्र वर्ष २४ अङ्क ४० से)

डा० छविनाथ त्रिपाठी,
एम. ए. पी. एच. डी.,

जैन चम्पू काव्यों के शोध की दिशायें

ऋत और सत्य के प्रवर्तक महा मुनियों की अमृतमयी वाणी, व्यक्ति या वर्ग-विशेष के लिए ही नहीं होती। उसमें मानव-मात्र के कल्याण का सन्देश निहित होता है। भगवान महावीर जैनियों के ही पूज्य तीर्थङ्कर नहीं थे, वे मानव-जाति के एक मार्ग दर्शक तथा अपने युग के महान सुधारक थे। उनके उपदेश शाश्वत-सत्य से ओत-प्रोत हैं। उनका अनुसरण युग-विशेष के ही नहीं, युग युग के प्राणी मात्र का हित कर सकता है। ये अक्षय-स्नेह से भरे वे मार्गदीप है, जो जीवन के उच्चतम लक्ष्य की पूर्ति के लिये, सदाचार-पथ को ज्योतिर्मय बनाते हुए, अज्ञान में भटकते प्राणि-मात्र का पथ-निर्देश करते हैं। आज के त्रासक और त्रस्त विश्व मानव की नैतिकता को जगाने की उनमें पूर्ण क्षमता है।

अमृतमय उपदेशों की यह शीतल-धारा अपने उत्स से निकल कर निर्झरिणी के समान जन-मानस के सम-विषम भूभागों को आप्लावित करती हुई नाना-विध रूप धारण कर लेती है। एक दार्शनिक के अन्तस में उतर कर उपदेश की एक बूंद दर्शन का सरोवर बन जाती है। कवि का हृदय उसे ही महाकाव्य के स्वर्ण-पात्र में सुरक्षित कर देता है। ये ही उपदेश जन-जन तक पहुंचने के लिए कथा-साहित्य एवं पुराणों का आवरण धारण कर लेते हैं। व्यापकता की यह प्रक्रिया, केवल एक धर्म या नीति-प्रवर्तक की वाणी के लिए ही नहीं सभी के लिये समान रूप से कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध एवं भगवान महावीर के मार्मिक एवं नैतिक उपदेशों का अपना अपना विशाल दर्शन और साहित्य का महासागर तैयार हो गया है।

> जैन दर्शन, जैन-साहित्य एवं जैन पुराण की त्रिविध धाराओं के संगम से जिस त्रिवेणी के पावन तीर्थ का निर्माण हुआ है उसकी पूरी झांकी अभी तक सामने नहीं आ पायी है। विविध स्थानों के जैन-भण्डारों में अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थ पड़े हुये हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची तक उपलब्ध नहीं है। इस सूची के तैयार करने की दिशा में कुछ प्रयास होना जरूरी है।

जैन दर्शन, जैन-साहित्य एवं जैन पुराण की त्रिविध धाराओं के संगम से जिस त्रिवेणी के पावन तीर्थ का निर्माण हुआ है उसकी पूरी झांकी अभी तक सामने नहीं आ पाई है। विविध स्थानों के जैन-भण्डारों में अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थ पड़े हुए हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची तक उपलब्ध नहीं है। इस सूची के तैयार करने की दिशा में कुछ प्रयास हो रहा है। केन्द्रीय संग्रहालय की स्थापना के माध्यम से भी शायद कार्य कुछ आगे बढ़े। जैन साहित्य के जो ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आ चुके हैं; उनमें जैन चम्पू काव्यों का अपना विशिष्ट स्थान है।

'चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन' नामक अपना शोध–प्रबन्ध तैयार करते हुये मुझे निम्नलिखित निश्चित तथ्य अवगत हुये:—

(१) दसवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, जब संस्कृत साहित्य की अन्य विधायें क्षीण प्राय: हो रही थीं तब चम्पू–काव्य धारा ही प्रखर वेग से प्रवाहित हो रही थी। इस काव्य–परम्परा में ढाई सौ से ऊपर चम्पू–काव्य लिखे गये।

(२) गद्य-पद्य–मयी मिश्र शैली को काव्यात्मक रूप सर्व प्रथम प्रशस्तियों और शिलालेखों में प्राप्त हुआ।

(३) चम्पू काव्य का जो स्वरूप आज दिखायी पड़ता है उसे सामने लाने में जैन–शिलालेखों और जैन चम्पू काव्यकारों का प्रमुख हाथ रहा है। किसी सीमा तक इन्हें ही चम्पू काव्य धारा का प्रवर्तक माना जा सकता है।

इन तथ्यों के सामने रहते हुए भी ज्ञात चम्पू काव्यों में जैन चम्पू काव्यों की संख्या उंगलियों पर गिने जाने योग्य ही है। अनेक प्रश्न मन में उठते हैं—जैन शिलालेखों को चम्पू काव्य की शैली में प्रस्तुत करते हुए जिन अनेक जैन विद्वानों और कवियों से हम परिचित होते हैं, क्या वे शिलालेखों के ही कवि थे। क्या उन्होंने स्वतन्त्र रूप से चम्पू काव्यों का सृजन नहीं किया? यदि किया हो तो वे काव्य ग्रन्थ कहां हैं? क्या वे जैन–भण्डारों में तो नहीं पड़े हैं? संस्कृत के प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थों की सूची तैयार करने वाली विविध शोध संस्थाओं या अन्वेषक विद्वानों की पहुंच जैन भण्डारों तक नहीं थी। उनके द्वारा प्रस्तुत विवरणों में भी जैन चम्पू काव्य की संख्या गिनती की ही क्यों है? अभी तक इन जिज्ञासाओं की सन्तुष्टि का कोई साधन नहीं है। संभव है जैन ग्रंथों की विस्तृत सूची और केन्द्रीय संग्रहालय ही इन का उत्तर दे सके। अत: चम्पू काव्यों की शोध–दिशा के निर्धारण के लिये जैन चम्पू काव्यों की सूची तैयार करना प्रथम एवं अनिवार्य कार्य है।

जो चम्पू काव्य ज्ञात हैं और प्रकाशित हो चुके हैं उनमें यशस्तिलक चम्पू का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। सोमदेव सूरि का यह चम्पू काव्य, दर्शन और काव्य का सुन्दर समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। अन्य जैन चम्पू काव्यों की भांति यह भी सोद्देश्य रचना है और जैन सिद्धांतों तथा आचार पक्ष का व्यापक और व्यवहारिक रूप उपस्थित करता है। इस चम्पू काव्य का ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से विस्तृत अध्ययन प्रो. हण्डीकी ने अपने अंग्रेजी प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। इसके काव्यात्मक पक्ष का संक्षिप्त अध्ययन मैंने अपने शोध प्रबन्ध में दिया है, फिर भी इस चम्पू काव्य का निम्न लिखित दृष्टियों से अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है:–

(१) यशोधर चरित की कथा वस्तु का मूल स्रोत, विविध यशोधर चरित काव्यों में वर्णित कथा का तुलनात्मक अध्ययन।

(२) यशस्तिलक चम्पू के पात्र–यशोर्घ यशोधर, यशोमति, अमृतभारी आदि के अतिरिक्त मुनि सुदत्त की सिद्धियों के स्वरूप और सिद्धियों की जैन परम्परा के साथ अध्ययन।

(३) यशस्तिलक चम्पू में वर्णित पुनर्जन्मों की परम्परा हिन्दू और बौद्ध पुनर्जन्म के सिद्धांतों से तुलनात्मक अध्ययन।

(४) जैन दार्शनिक सिद्धांतों का वाहक यशस्तिलक चम्पू, द्वादशोत्प्रेक्षाओं सहित इसका विस्तृत अध्ययन हो सकता है।

(५) यशस्तिलक का आचार पक्ष नैतिकता और श्रावकाचार।

(६) हिंसा से अहिंसा की ओर यशस्तिलक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।

दूसरा महत्त्वपूर्ण जैन चम्पू काव्य हरिचन्द का जीवन्धर चम्पू है। यह चम्पू काव्य पौराणिक शैली का विशेष रूप से अनुकरण करता है। इसके कवि ने "जीवन्धरस्य चरितं दुरितस्य हन्तु" कह कर, फल निर्देश करते हुए पौराणिक प्रभाव की अप्रत्यक्ष स्वीकृति दी है। इस पर एक विस्तृत शोध प्रबन्ध तैयार हो सकता है—'जीवन्धर चरित चम्पू का काव्यात्मक मूल्याङ्कन और हिन्दू तथा जैन पौराणिक शैली का उस पर प्रभाव।"

तीसरा जैन चम्पू काव्य 'भरतेश्वराभ्युदय चम्पू' है। यह चम्पू काव्य श्री हीरालालजी के लेख के अनुसार अभी तक एक जैन भण्डार (पाटण?) में पड़ा प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा है। श्री मद्भागवत में भरत का उपाख्यान भी गद्य-पद्य मिश्र शैली में ही प्रस्तुत किया गया है। भरतेश्वराभ्युदय चम्पू के काव्यात्मक मूल्याङ्कन सहित हिन्दू और जैन पुराणों में वर्णित उनके उपाख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

एक अन्य उल्लेखनीय चम्पू 'जैनाचार्य विजय' चम्पू है। जैन शिलालेखों में एक पूर्ण रूप से जैनाचार्यों का वर्णन प्रस्तुत करता है। यह शिलालेख भी चम्पू काव्य की ही भांति गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखा गया है। (द्रष्टव्य जैन शिलालेख संग्रह) उस शिलालेख के साथ इस चम्पू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। वर्णित आचार्यों के स्थिति-काल और कृतित्व का निरूपण करने वाला ऐतिहासिक शोध प्रबन्ध एक बहुमूल्य देन के रूप में सिद्ध हो सकता है।[1]

त्रिषष्ठि महापुरुषों का चरित वर्णन, साहित्य साधना के साथ साथ महत्पुण्य का कार्य समझा जाता रहा है। केवल यशोधर के चरित को आश्रित कर लगभग तीस काव्य-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त अनेक श्रावकों मुनियों और जैनाचार्यों के चरित भी काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। दशवीं शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक चरित-वर्णन की मुख्य प्रवृत्ति चम्पू काव्यों के माध्यम से ही रही है। निस्सन्देह अन्य कई चम्पू काव्य सामने आ सकते हैं और जैन चम्पू काव्यों की संख्यावृद्धि हो सकती है।

सिद्धों और नाथ पंथियों के साहित्य को प्रकाश में लाने और हिन्दी साहित्य की पृष्ठ भूमि के रूप में उनका मूल्याङ्कन करने की दिशा में महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की साधना ही सफल हुई है। जैन साहित्य के अपभ्रंश में लिखित अनेकानेक ग्रंथों का प्रकाशन और हिन्दी साहित्य की पृष्ठ भूमि के रूप में सही मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है। संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश में निर्मित विशाल जैन साहित्य के एक अंश मात्र की चर्चा मैंने अपनी ऊपर की पंक्तियों में की है। जैन चम्पू काव्यों सहित, उन पर लिखे गये शोध प्रबन्ध कितने मूल्यवान और साहित्य की श्रीवृद्धि में कितने सहायक हो सकते हैं इसे समझना कठिन नहीं है।

वस्तुतः भारतीय साहित्य और संस्कृति को, मानव-जगत को जैन साहित्य और सस्कृति की महान देन का भव्य और उदात्त रूप तभी सामने आ सकता है, जब उसका विशाल साहित्य प्रकाश में आये। तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले शोध-प्रबन्ध प्रत्येक जीवन-दिशा की ओर इंगित करें। जैन दर्शन, साहित्य और पुराण-आवेष्ठन में पड़े केवल पूजा की वस्तु मात्र न रह जाय। महान् तीर्थंकरों की वाणी के मार्ग को उद्घाटित करने वाले साधकों के विपुल ग्रंथ जन जन के लिए उपलभ्य और पाठ्य बन सकें, इसका प्रयास आज ही उचित साधना है। तभी आज का मानव क्रूर भारिदत्त से मुनि मारिदत्त बन सकता है। तीर्थंकरों की वाणी का प्रकाश और उसकी अमृतमयी शीतलता स्वयं ही त्रस्त विश्व को मार्ग और आश्वासन दे सकेगी। क्योंकि:— 'जहां सत्य का सूत्र विद्यमान है, प्रभु की कृपा से वह जिह्वा के अग्र तक पहुंचता है। सुकर्मी लोग इसे अच्छी प्रकार पा लेते हैं। कर्म हीनों का मार्ग नीचे की ओर रहता है।"

ऋतस्य तन्तु विततः पवित्रं,
आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित्तत्समिनक्षन्त,
आशतात्रा कर्तमवपदात्यप्रभुः॥

(ऋक् ६।७३।६)

---

1. इनके अतिरिक्त महाकवि अर्द्दास का 'पुरुदेव चंपू' है जो प्रकाशित भी हो चुका है।

इन्द्रपालसिंह एम. ए.
बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा।

रीति कालीन जैन प्रबन्ध काव्य

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीति काल के नाम से अभिहित किया है। पं० विश्वनाथ मिश्र उसकी संज्ञा 'शृंगार काल' देते हैं और प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी उसे 'मुक्तक युग' कहना अधिक समीचीन समझते हैं। इस युग का नाम करण करते समय सभी विद्वानों ने प्रबन्ध काव्यों की अवहेलना की है। इस काल में इतने अधिक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई है कि यदि उन पर दृष्टिपात किया जाय और शोध के द्वारा उन्हें प्रकाश में लाया जाय तो पुनः इस युग के नामकरण की समस्या पर विचार करना पड़ेगा।

इस युग में ऐतिहासिक 'पौराणिक' प्रेमाख्यानक एवं नीतिपरक इत्यादि अनेक प्रकार के प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई। यहां हमें केवल जैन कवियों द्वारा रचित प्रबन्ध काव्यों पर ही विचार करना अभीष्ट है। जैन कवियों की प्रबन्ध काव्य परम्परा अपभ्रंश काल से ही निरन्तर चलती रही। इन कवियों ने शलाका पुरुषों के चरित्रों को आधार बना कर अथवा किसी व्रत या पर्व की महत्ता प्रदर्शित करने के निमित्त अपने प्रबन्ध काव्यों की रचना की। कतिपय प्रबन्ध काव्य हिन्दुओं में प्रचलित कथानकों के आधार पर भी लिखे गए, जिनको जैन धर्मानुसार परिवर्तित कर दिया गया।

इस युग का सर्व प्रथम जैन प्रबन्ध काव्य 'पद्मिनी चरित्र है, जिसकी रचना सं० १७०७ में लब्धोदय नामक कवि ने मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह की आज्ञा से की। इस ग्रन्थ की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। कवि ने कथानक का निर्वाह कुशलता से करते हुए प्रसंगानुकूल

> इस युग में जब कि हिन्दी में शृंगार की धारा अश्लील के पंक से कलुषित हो रही थी, जैन कवियों ने सुन्दर प्रबन्ध काव्यों की रचना करके मां भारती के शीष को गौरवान्वित रखा। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों को इन कृतियों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि इन ग्रंथों पर विचार किया जाय तो निश्चित ही रीति-काल सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा।

सभी रसों का सफलता से परिपाक किया है। कवि रामचन्द्र ने सं० १७१३ में 'सीता चरित्र' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस ग्रंथ का कथानक वाल्मीकि रामायण तथा अन्य सभी राम काव्यों से भिन्न है। इस ग्रन्थ के अनुसार सीता जनक की पत्नि विदेहा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। नारद के शाप से सीता का ही जुड़वा भाई उस पर मोहित हो गया था, किन्तु अन्त में धनुभंजन के बाद राम के साथ ही वर परिणीत हुई। इस ग्रंथ में रावण का वध लक्ष्मण द्वारा हुआ है। साथ ही लक्ष्मण के अनेक विवाहों का भी उल्लेख हुआ है। सीता का निर्वासन एक सेनापति द्वारा कराया गया है तथा वज्रजंघ ने उनका भगिनीव्रत पालन किया तथा छद्रक ने उनके पुत्रों का विवाह करने के लिये वज्रजंघ ने राजा पृथ्वीधर को विवश किया। उसके आना-कानी करने पर युद्ध हुआ और उसमें सीता के पुत्र लव-कुश की विजय हुई। इस प्रकार इसका

कथानक राम सम्बन्धी अन्य कथानकों से सर्वथा भिन्न है। काव्य में सरस प्रवाह और कल्पना-वैभव प्रशंसनीय है।

इस युग के अन्य काव्यों में रामचन्द्र का 'जम्बू चरित्र' (सं० १७२०) कवि जोध का 'प्रीतंकार चरित्र' (सं० १७२१) अजय राज का भी 'प्रीतंकार चरित्र' जिन हर्ष का 'श्रेणिक चरित्र' (सं० १७२४) जिन चन्द्र का 'विक्रम चरित्र' (सं० १७२४) उल्लेखनीय है। कवि भगवती दास ने (सं० १७३१) में 'लघुसीता सतु' नामक उत्कृष्ट कोटि के खण्ड काव्य की रचना की। इस ग्रंथ में कवि ने प्रौढ़ शैली में सीता के सतीत्व का चित्रण किया है। रावण तथा मन्दोदरी के अन्तर्द्वन्द का बड़ा मार्मिक एवं हृदयावर्जक वर्णन हुआ है। कथानक के माध्यम से सरसता पूर्वक कवि ने जिन नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की है, वे काव्य कला से मंडित होकर और भी चमक उठे हैं। इसके अतिरिक्त विजय हर्ष का 'सुर सुन्दर प्रबन्ध' (सं० १७३६) 'भट्टारक विश्वभूषण' का 'जिनदत्त चरित्र' (सं० १७३८) विनय विजय तथा जस विजय का 'श्री पाल रास' (सं० १७३८) 'गंगेश मिश्र का 'विक्रम विलास' (सं० १७३९), हरखचन्द साधु का 'श्रीपाल चरित्र' (सं० १७४०)जिन हर्ष का 'श्रीपाल रास' (सं० १७४०) धर्म मन्दिर गणि का 'चोपी मुनि चरित्र' (सं० १७४१) विनोदी लाल अग्रवाल का 'भक्तासर चरित्र (सं० १७५०) एवं भूधरदास का 'कलियुग चरित्र' (सं० १७५७) इस युग की सामान्य रचनायें हैं।

हेमरत्न सूरि नामक कवि ने सं० १७६० में पद्मिनी चौपाई नामक काव्य की रचना की। यह एक सरस एवं मनोहर खंड काव्य है। इस काव्य की भाषा मधुर राजस्थानी है। इस में कवि ने अधिकांश दोहा और चौपाई छन्दों का ही प्रयोग किया है, किन्तु बीच बीच में छप्पय तथा सवैया आदि भी अपनाए हैं। कवि खेमचन्द ने सं० १७६१ में 'गुणमाल चरित्र' नामक एक श्रेष्ठ ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में कवि ने गोरखपुर के राजकुमार गजसिंह तथा एक श्रेष्ठीकन्या गुणमाल के प्रेम विवाह एवं जीवन का वर्णन किया है। गुणमाल का पावन चरित्र, पतिव्रत का आदर्श तथा नारीत्व का गौरव है। गजसिंह का चरित्र भी दृढ़ता एवं शील का परमोज्जवल स्वरूप उपस्थित करता है। कवि को मानव जीवन के राग विरागों का मार्मिक चित्रण करने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। महाकाव्य के समान जीवन की विभिन्न दशाओं का चित्रण हुआ है। कवि ने प्रसंगानुकूल वन, नदी, सन्ध्या तथा उषा इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों को मूर्तिमान करके दिखा दिया और यथावसर शृंगार, करुण, वीर, वीभत्स एवं शान्त रस की स्त्रोतस्विनी प्रवाहित की है। काव्य की भाषा भी परिष्कृत एवं अलंकृत है। सभी दृष्टियों से यह काव्य अत्यन्त सफल है। अठारहवीं शताब्दी के अन्य काव्यों में विजय पति का 'मलय चरित्र' सं०१७८१ किशन सिंह का 'भद्रबाहु चरित्र' सं० १६८५) तथा खुशाल सिंह के 'धन्य कुमार चरित्र' 'जम्बू चरित्र एवं 'यशोधर चरित्र' (सं० १७९९) उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में नथमल बिलाला के 'नाग कुमार चरित्र' सं० १८१०, जम्बू स्वामी चरित्र सं० १८२४ तथा जीवंधर चरित्र सं० १८३४, भारूमल ने 'चारुदत्त चरित्र' और 'सप्त व्यसन चरित्र' सं० १८१३ विजयकीर्ति ने 'श्रेणिक चरित्र' सं० १८२० तथा लाल चन्द ने 'वरांग चरित्र' सं० १८२७, की रचना की।

इस युग में नवल राय खंडेलवाल ने 'वर्द्धमानचरित्र' (सं० १८२५-२६) नामक महाकाव्य का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर का चरित्र सोलह अधिकारों (अध्यायों) में वर्णित है। कवि ने वर्द्धमान के पूर्व भावों का वर्णन करने के अनन्तर उनके जन्म, बाल्यकाल तथा जीवन के सांगोपाङ्ग वर्णन किया है। महावीर स्वामी के शौर्य एवं तेज का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन हुआ है। रानी प्रिय कारिणी के सौंदर्य का अंकन करने में कवि ने अपनी कल्पना शक्ति के वैभव का दिग्दर्शन कराया है। इस काव्य की भाषा ब्रज है जिसमें बुन्देलखंडी और खड़ी बोली का भी मिश्रण हुआ है। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अति-शयोक्ति का बहुलता से प्रयोग हुआ है। यह ग्रन्थ बड़ा सरस एवं मनोरम है।

सेवा राम ने 'भविष्य दत्त चरित्र' (सं० १८३१) और 'हनुमान चरित्र' (सं० १८३४), चेतन विजय ने 'सीता चरित्र' 'जम्बू चरित्र' और श्रीपाल रास' (सं० १६३०–५२) लाल चन्द ने श्रीपाल चौपाई (सं० १८३७) तथा बूलचन्द ने 'प्रद्युम्न चरित्र' (सं० १८४३) की रचना की।

कवि मनरंग लाल ने सं० १८५७ में 'नेमिचन्द्रिका' नामक अत्यन्त सुन्दर खंडकाव्य का प्रणयन किया। इस काव्य में द्वारावती के राजकुमार नेमिकुमार का अपने ही विवाह के समय भोजन के लिये मारे जाने वाले पशुओं के करुण चीत्कार को सुनकर विरक्त होने की घटना का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। उल्लास के वातावरण का विषाद में परिवर्तित हो जाना कितना हृदय द्रावक है? नेमिकुमार की भावी पत्नी राजुल के विरह वर्णन में कवि की तन्मयता दृष्टिगत होती है। राजुल एक आदर्श भारतीय सती है, जो आत्मा से पति का वरण करके उसी के साथ तपस्विनी बन जाती है। उसका त्याग और पति भक्ति करुणा के जल से धुलकर और भी पावन हो जाती है, किन्तु यथावसर वात्सल्य करुण एवं विप्रलम्भ श्रृंगार का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। इसकी भाषा कन्नोजी से प्रभावित खड़ी बोली है, जिसको कवि ने अनेक अलंकारों से सज्जित किया है। कवि ने मात्रिक तथा वर्णिक सभी प्रकार के अनेक छन्दों का प्रयोग कुशलता पूर्वक किया है।

इसी काल श्री जयचन्द जैन ने 'भक्तकार चरित्र' (सं० १८७०), कमल नयन ने 'जिनदत्त चरित्र' सं० १८७१ तथा 'वैराग चरित्र' सं० १८७७ एवं बख्तावर मल्ल ने 'जिनदत्त चरित्र' (सं० १८६४) नामक चरित्र काव्यों की रचना की।

इन चरित्र काव्यों के अतिरिक्त इस युग में जैन कवियों ने अनेक पुराण काव्यों की भी रचना की, जो कथानक की धारा प्रवाहिकता के कारण प्रबन्ध काव्यों की कोटि के ही आयेंगे। कवि देवदत्त जैन ने सं० १७५० में उत्तर पुराण की रचना की। इस ग्रंथ में अजितनाथ, संभव नाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पदमप्रभु, पार्श्वनाथ चन्द्र प्रभु, और महावीर स्वामी इन आठ तीर्थंकरों के चरित्र का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ दोहा चौपाइयों में लिखा गया है। इसकी कविता उत्तम तथा प्रसाद गुण सम्पन्न है। कवि बुलाकीदास ने अपनी विदुषी माता के आग्रह से सं० १७५४ में 'पांडव पुराण' की रचना की। इस ग्रंथ को देखने से कवि प्रतिभावान प्रतीत होता है। लेकिन काव्य रचना मध्यम कोटि की है। कहीं कहीं काव्य की उत्कृष्टता भी मिलती है। देवदत्त दीक्षित ने 'चन्द्रप्रभ पुराण' (सं० १७५८) तथा खुशाल चन्द ने 'हरिवंश पुराण' (सं० १७८०) 'पदम पुराण' (सं० १७८३) तथा उत्तर पुराण (सं० १७६६) नामक ग्रंथ लिखे।

इस युग के पुराण काव्यों में कवि भूधर दास का 'पार्श्वपुराण' (सं० १७८६) सर्वोत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ है। इसमें कवि की स्वतन्त्र कल्पना शक्ति एवं उद्भाविनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ के आठ पूर्वभावों का अद्‌भुत, किन्तु स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि ने उनके आदर्श चरित्र का सफलता से अंकन किया है। कथानक में जैसा सुन्दर प्रवाह मिलता है, वह कवि की प्रबन्ध पटुता का द्योतक है। नायक पार्श्वनाथ को जीवन की अनेक परिस्थितियों में डाल कर और उनका मार्मिक चित्रण करके कवि ने अपनी भावुकता का परिचय दिया है। श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है– 'जीवन का इतना सर्वांगीण और स्वस्थ विवेचन एकाध महाकाव्य में ही मिलेगा।' इस काव्य का प्रधान रस तो शान्त ही है, किन्तु यथावसर अन्य रसों का भी समावेश किया गया है। काव्य में जहां सरस और सुन्दर हृदयस्पर्शी वर्णन मिलते है, वहां नैतिक उपदेशों का भी अभाव नहीं हैं। कवि की भाषा साहित्यिक ब्रज एवं शैली अलंकृत है। वस्तु वर्णन, भाव–व्यंजना एवं चरित्र सभी दृष्टियों से यह काव्य उत्तम है। कवि धर्मदेव ने भी 'पार्श्व पुराण' सं० १७८६ की रचना की है।

भट्टारक जिनेन्द्र भूषण ने 'नेमिनाथ पुराण' (सं० १८००) और आदि पुराण (सं० १८३२) लालचन्द ने 'विमलनाथ पुराण' (सं० १८१८) एवं सेवाराम ने

'शान्ति पुराण' (सं० १८४४) की रचना की। इन्द्रजीत ने 'उत्तर पुराण' लिखा, जिसमें मुनि सुव्रतनाथ, कुंथनाथ अर:नाथ और मल्लिनाथ नामक जैन तीर्थंकरो का वर्णन किया गया है। कवि ने दोहा, चौपाई, सोरठा, नराच इत्यादि छन्दों का प्रयोग किया है। इन्हीं कवि के 'श्रीमुनि सुव्रतपुराण' (सं० १८४५) नामक ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है। बिजयनाथ माथुर ने 'वद्ध'मान पुराण' (सं० १८६१) का अनुवाद किया। सावन्त राम ने 'द्रोपदी चौपाई' (सं० १८६३) की रचना की। इस कृति में पदों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। कवि ने राजस्थानी भाषा में द्रोपदी का चरित्रांकन जैन दृष्टिकोण से किया है। बख्तावर मल्ल ने 'नेमिचन्द पुराण' लिखा। कवि अजितदास ने अपने पिता की अन्तिम इच्छा पूर्ण करने के लिए 'जैन रामायण' की रचना करना प्रारम्भ किया। किन्तु वे ७१ सर्ग पूर्ण करके ही असमय में काल कवलित हो गए और यह विशाल ग्रंथ अधूरा रह गया।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त जैन कवियों ने व्रतों, पर्वों का महत्व प्रदर्शित करने तथा जैन धर्म सम्बन्धी नैतिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक आख्यान काव्यों की भी रचना की। निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने के भय से हम उनका उल्लेख न करके लेखनी को विराम देना ही उचित समझते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग में जब कि हिन्दी में शृंगार की धारा अश्लील के पंक से कलुषित हो रही थी, जैन कवियों ने सुन्दर प्रबन्ध काव्यों की रचना करके माँ भारती के शीष को गौरवन्वित रखा। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों को इन कृतियों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि इन ग्रंथों पर विचार किया जाय तो निश्चित ही रीति काल सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

पाश्चात्य विद्वान मि० सर विलियम और हैमिल्टन के मध्यस्थ विचारों के विशाल मन्दिर का आधार जैनों के इस अपेक्षावाद का ही दूसरा नाम नयवाद है।

× × ×

'विशेषतः प्राचीन भारत में किसी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी, जैन-धर्म हिन्दू-धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है उसकी शाखा रूपान्तर नहीं।'

—वेदज्ञ प्रो० मैक्समूलर सा०

डा० बृजमोहन शर्मा
एम. ए., पी. एच. डी.
भादवा (जयपुर)

हिंदी की प्रारम्भिक अवस्था में जैनों की देन

> अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ जैन साहित्यकारों तथा सुधारकों ने भी हिंदी की प्रारम्भिक अवस्था में महत्वपूर्ण योग दिया है। इस सम्बन्ध में शोध-विद्यार्थी अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन कर सकते हैं।

वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं (बोलचाल के रूप) का आरंभ करीब १००० ई० के बाद से माना जाता है और इसके पूर्व अपभ्रंश का। भाषा के बोल चाल के रूप का विकास पहले होता है और द्रुतगति से होता है। जब अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक रूप चरमावस्था पर था, तभी करीब ११ वीं शताब्दी में अपभ्रंश के बोल चाल का रूप विकसित होकर पुरानी हिन्दी हो गया।

"हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और ग्राम्य–भाषा में अन्तर किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी।। हेमचन्द्र के आसपास ही अपभ्रंशकाल (बोलचाल का रूप) समाप्त हो गया। ईसा की १३ वी और १४ वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रारंभिक साहित्यिक ग्रंथ मिलने लग जाते हैं। इस दृष्टि से ईसा की ११ वीं शताब्दी अपभ्रंश (बोलचाल के रूप) की अंतिम तिथि प्रतीत होती है।"[1]

प्रारंभ में हिंदी अपभ्रंश की गोद में पलती रही। अपभ्रंश का बोलचाल का रूप हिंदी की ओर पहले उन्मुख हुआ और साहित्यिक रूप बाद में। इसी प्रकार हिंदी का जन्म कथाभाषा (बोलचाल के रूप) में पहले हुआ और साहित्य के क्षेत्र में बाद में।

इस भाषा–विकास–क्रम पर तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण है। सुधारवादी आन्दोलन तत्कालीन प्रचलित बुराइयों को दूर करने के लिए उसकाल के पूर्व के आदर्श समाज और साहित्य का उदाहरण प्रस्तुत करके सुधार का प्रयत्न करते हैं। हमारे आलोच्यकाल के पूर्व संस्कृत का प्राधान्य था। संस्कृत साहित्य का प्रभाव प्राय: सभी सुधारवादी आन्दोलनों के द्वारा तत्कालीन समाज और साहित्य को प्रेरणा देने लगा। संस्कृत के इस प्रभाव ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को प्रचलित कर दिया, जो पहले बोलचाल में और कुछ समय उपरांत साहित्य में प्रयुक्त होने लगे। प्राकृत और अपभ्रंश में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राय: अभाव था, अत: संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग ने भाषा में एक महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया जो अपभ्रंश से हिंदी के जन्म का द्योतक है।

बौद्धधर्म की पतितावस्था की प्रतिक्रिया शंकराचार्य के वैदिक स्मार्त सम्प्रदाय में संस्कृत के आधार पर देखते हैं। शंकर के प्रभाव से तत्कालीन अपभ्रंश में

(१) ''हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' (नामवरसिंह) पृष्ठ १५।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश हो गया जो हिंदी के जन्म का कारण बना ।

ईसा की प्रथम शताब्दी में जैन कवि विमल सूरि द्वारा रामकथा पर निर्मित प्राकृत काव्य 'पउम चरिउ' (पद्म चरित्र) का सन् ६७५ ई० में जैन कवि रविषेण ने संस्कृत रूपांतर करके तत्कालीन ७ वीं शताब्दी के धार्मिक वातावरण में संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश किया, जिसके अपभ्रंश से हिंदी की ओर भाषा का विकास हुआ । इसी रामकथा को लेकर जैन कवि 'स्वयंभू ने आठवीं शताब्दी में 'पदम चरित्र' (रामायण) लिखकर हिंदी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम कवि का आसन ग्रहण किया । यहीं से हिंदी का जन्म होता है ।

राहुल जी ने अपनी 'हिंदी-काव्य-धारा' में सरट या आदि सिद्ध और स्वयंभू तथा पुष्पदंत आदि जैन साहित्यकारों के काव्य को हिंदी का सबसे पुराना और उत्तम काव्य घोषित किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही मत रहा है ।[1]

ईसा की आठवीं शताब्दी में रचित उद्योतन सूरि की 'कुवलय माला' में मध्यदेश के वणिक की भाषा नमूना 'तेरे मेरे आउ' बतलाया है । यह स्पष्ट संकेत है कि तत्कालीन मध्यदेश की कथा भाषा हिंदी का जन्म हो रहा था और लोक व्यवहार की भाषा के आधार पर इसका अखिल भारतीय महत्व होने जा रहा था ।

जैन मुनि देवसेन (१० वीं शताब्दी) और मुनि रामसिंह (११ वीं शताब्दी) आदि सुधारकों ने उस समय की लोकभाषा को ही अपनी उक्तियों का माध्यम बनाया तथा सबकी समझ में आने योग्य कथन शैली का प्रयोग किया ।

अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ जैन साहित्यकारों तथा सुधारकों ने भी हिंदी की प्रारंभिक अवस्था में महत्वपूर्ण योग दिया है । इस सम्बन्ध में शोधविद्यार्थी अनेक महत्व-पूर्ण तथ्यों का उद्घाटन कर सकते हैं ।

जैन जाति दया के लिए खास प्रसिद्ध है, और दया के लिये हजारों रुपया खर्च करती हैं । जैनी पहले क्षत्री थे, यह उनके चेहरे व नाम से भी जाना जाता है । जैनी अधिक शान्ति प्रिय हैं ।

जैन हितेच्छु पुस्तक १६ अङ्क ११ में से ।

—श्री आटोरोय फिल्ड सा० कलेक्टर

---

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) पृष्ठ १६ ।
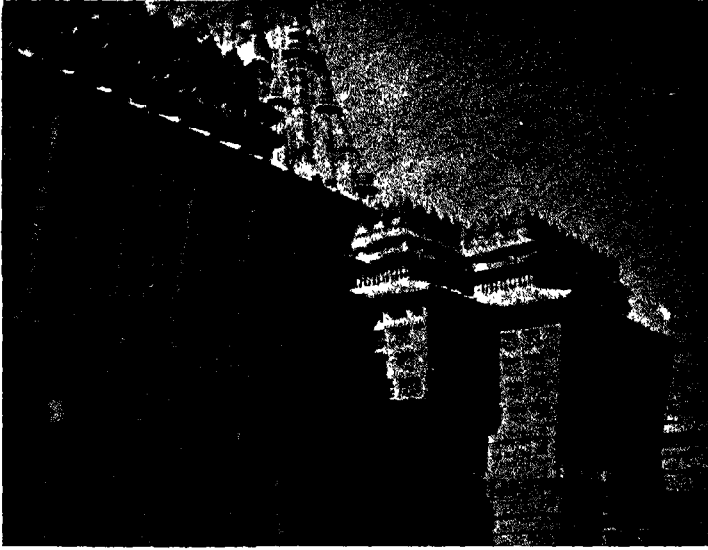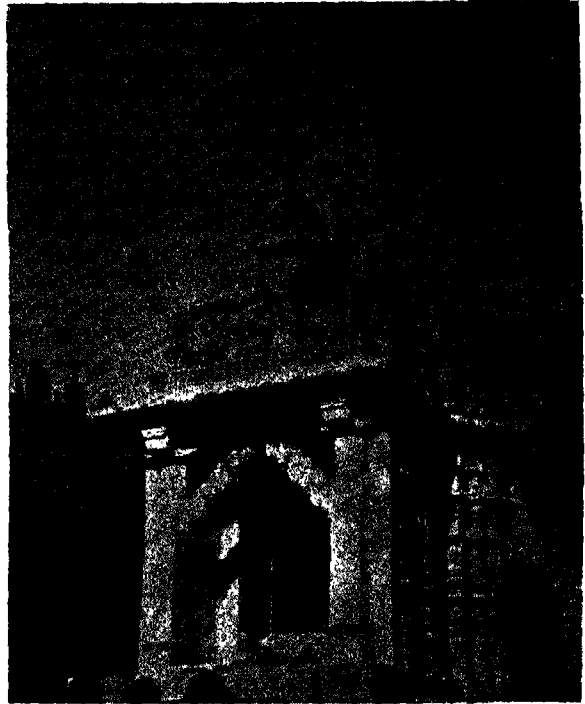
लूदर्वा का जैन मन्दिर जैसलमेर

लूदर्वा के जैन मन्दिर का बाह्य दृश्य

मिलापचंद कटारिया, केकड़ी

देवसेन का भावसंग्रह

देवसेन के बनाये हुये दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नयचक्र आलापपद्धति, और भावसंग्रह ये ग्रंथ इदाजी उपलब्ध होते हैं। इनमें से सिर्फ दर्शनसार में उसका रचनाकाल वि० सं० ६६० दिया हुआ है। शेष ग्रन्थों में रचनाकाल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। और भाव संग्रह को छोड़ कर शेष ग्रंथों में कहीं देवसेन ने अपने गुरु का नाम भी नहीं लिखा है। ऐसी हालत में यह पता लगाना बड़ा ही मुश्किल है कि इन सब ग्रंथों का कर्ता एक ही देवसेन है या देवसेन नाम के भिन्न २ व्यक्ति ? और उनमें कौन कब हुआ है। क्योंकि हमारे यहां एक नाम के अनेक जुदे जुदे ग्रंथकार भी हुये हैं। इतने पर भी कुछ विद्वान् इन ग्रन्थों में से भावसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता उन्हीं देवसेन को मान रहे हैं जिन्होंने वि. सं. ६६० में दर्शनसार ग्रन्थ रचा है। इस मान्यता का आधार ऐसा कोई समर्थ ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं बताया गया है जिससे सिद्ध होता हो कि यह "भावसंग्रह" वाकई उन्ही दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया हुआ है। जब किसी ग्रंथ के रचनाकाल का पता ऐतिहासिक साधनों से नहीं लग सकता हो तो एक और भी साधन पता लगाने का है। और वह उस ग्रंथ के कथनों की अंतरंग जांच करना। इस प्रकार की जांच से और नहीं तो भी इतना परिज्ञान तो भावसंग्रह के विषय में हो सकता है कि इस तरह का वर्णन तो अमुक शताब्दी में ही संभवनीय है या अमुक वर्णन प्राचीन देवसेनाचार्य के द्वारा होना संभव नहीं है। इसी खयाल से मैंने प्रस्तुत लेख में उक्त भावसंग्रह ग्रंथ की अंतरंग जांच करने का प्रयास किया है। इस जांच से पाठक देखेंगे कि यह भाव संग्रह ग्रंथ उन दशवीं शताब्दी में होने वाले देवसेन का तो बनाया हुआ नहीं हो सकता है जिन्होंने दर्शनसार ग्रंथ लिखा है। नीचे इसकी चर्चा की जाती है—

> प्रस्तुत लेख में देवसेन के 'भावसंग्रह' ग्रन्थ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। खोज कर्ताओं के लिये यह काफी उपयोगी प्रमाणित होगा।

(१) "मांस से पितरों की तृप्ति होती है" ऐसा वैदिक मत का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का खंडन करते हुये भावसंग्रहकार ने वैदिक मत के "नाभि स्थाने वसेन् ब्रह्मा" आदि आदि श्लोक पृ० १३ पर उक्तं च रूप से उद्धृत किये हैं। जिनमें लिखा है कि "जीवों के नाभि स्थान में ब्रह्मा, कंठ में विष्णु, तालवे में रुद्र, ललाट में महेश्वर, और नाक के अग्र में शिव निवास करते हैं।" ऐसा बतलाकर आगे गाथा निम्नलिखित दी है—

सव्वासु जीवरासिसु एए णिवसंति पंच ठाणेसु ।
जइ तो किं पसुवहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ।।४७।।

देवे वहिऊण गुणा लब्भइ जइ हत्थ उत्तमा केई ।
तो तरुक्ख वंदणया अवरे राराद्धिया सव्वे ।।४८।।

अर्थ—सबही जीवों के नाभि आदि पंच स्थानों में यदि ये ब्रह्मा विष्णु आदि निवास करते हैं तो पशुवध करने से इन ब्रह्मा आदि देवों का घात होना भी क्यों न माना जावेगा। और यदि कोई उत्तम पुरुष देवों का विध्वंस करने से गुण प्राप्त करते हैं तो देव मूर्तियों के विध्वंसक यवन भी वंदनीय माने जाने चाहिये और शेष सब पापी माने जाने चाहिये।

गाथा में आये 'तुरुक्क' शब्द की संस्कृत छाया 'तुरुष्क' होती है। और तुरुष्क शब्द का अर्थ तुरक यानी यवन होता है। धर्मामृत की प्रशस्ति में पं० आशाधरजी ने भी तुरुष्क शब्द का प्रयोग यवन अर्थ में किया है,

भावसंग्रह की अजमेर की लिखित प्रति में "तुरुक्क वंदणाया" पाठ के स्थान में "तो तुरुक्क वंदाणाया" पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। इससे छंदभंग भी मिट जाता है। इतिहासकार भारत में यवनों के शासन का प्रारंभ ई. १३ वीं शताब्दी से मानते हैं। अतः उक्त कथन से भाव संग्रह १३ वीं शताब्दी से पूर्व का बना सिद्ध नहीं होता है।

(२) श्वेतांबर मत में स्थविर कल्पी साधु के लिये वस्त्र धारण करना विधेय बताया है। उसका निराकरण करते हुये भावसंग्रह में उसे स्थविर कल्प न बताकर गृहस्थ कल्प कहा है। इसी प्रसंग में भाव संग्रह कार ने गाथा ११६ से १३२ तक में जिन कल्प स्थविर कल्प का स्वरूप भी वर्णन किया है। उसमें आपने वन कंदराओं में रहना यह जिन कल्पी की क्रिया बताई है और पुर नगर ग्रामों में रहना यह स्थविर कल्पी की क्रिया बताई है। किन्तु स्थविर कल्पी साधुओं के लिये भी नगर ग्रामों में रहने का विधान किसी मान्य आगम में नही मिलता है। इसके लिये श्रीजिनसेनाचार्य कृत आदिपुराण का निम्न श्लोक देखिये—

ततो विविक्त शायित्वं वनेवासश्च योगिनाम ।
इतिशा धारणो मार्गो जिनस्थविर कल्पयो:
॥७६॥ पर्व २१

अर्थ—इसलिये योगियों को एकांत में रहना और वन में बसना चाहिए। चाहे जिन कल्पी हो या स्थविर कल्पी हो दोनों ही प्रकार के साधुओं के लिये यही सामान्य मार्ग है।

इन्ही के शिष्य आचार्य गुणभद्र ने तो आत्मानुशासन में रात्रि के समय में भी मुनि को नगर के समीप आ बसने में ही खेद प्रकट किया है। इन्हीं जिनसेन गुणभद्र के ऊपर दर्शन सार के कर्ता देवसेन को कैसी श्रद्धा थी ? वे उन्हें कितने उच्चकोटि के मुनि मानते थे इस संबन्ध में दर्शनसार की गाथा ३०–३१ में वे लिखते हैं कि—

"वीरसेन के शिष्य जिनसेन सकलशास्त्र के ज्ञाता हुये जो श्रीपद्मनंदि (कुंद कुंद) के बाद चार संघ के उद्धार करने में समर्थ हुए। इनके शिष्य गुणभद्र हुये जो गुणवान, दिव्य ज्ञानी, पक्षोपवासी, शुद्धबुद्धि, महातपस्वी और भावलिंगीथे।"

जो देवसेन दर्शनसार में जिन जिनसेन-गुणभद्र के प्रति इतना सम्मान व्यक्त करते हैं वे ही देवसेन भावसंग्रह में जिनसेन की आम्नाय के विरुद्ध स्थविर कल्पी साधुओं के लिये नगर ग्राम में रहने का कथन करने लग जावें यह बात बुद्धि में बैठने योग्य नहीं है। इसलिये न तो इस भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन हैं जिन्होंने दर्शनसार बनाया है और न यह भावसंग्रह कोई प्राचीन ग्रन्थ ही है। यह तो स्पष्ट ही शिथिलाचार के जमाने का बना सिद्ध होता है।

भाव संग्रह मे जिन कल्पी के लिए यह भी लिखा है कि "वर्षा ऋतु में वे छह मास तक निराहार कायोत्सर्ग मे स्थित रहते हैं।" (गाथा १२१)

इसी के अनुरूप वामदेव ने भी संस्कृत भाव संग्रह में में ऐसा लिखा है —

वर्षासु मासषट्कं हि मार्गे जातेंऽगिसंकुले।
निरहारा वितिष्ठन्ते कायोत्सर्गेण निस्पृहा: ॥२६७॥

अर्थ—जिसमें कि जीवोत्पत्ति से मार्ग व्याप्त हो जाता है ऐसी वर्षाऋतुओं में वे जिनकल्पी छहमास तक निराहार कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं।

यह कथन भी भावसंग्रहकार का अत्युक्तिपूर्ण है और वह जिनकल्पी की चर्या को बहुत अधिक कठिन बताने की गरज से किया गया प्रतीत होता है। इससे ग्रंथकार ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वन कंदराओं में रहना और वर्षा में ६ मास तक निराहार तिष्ठना आदि जिनकल्पकी चर्या बड़ी दुर्धर है। उसका पालन सभी साधुओं के लिए शक्य नही है।

अगर जिनकल्पीकी ऐसी ही चर्या है तो तीर्थंकर जो कि सब जिनकल्पी ही होते हैं तो क्या वे सब छह मास तक वर्षा में निराहार ही रहते हैं। ऐसा वर्णन उनके चरित्र ग्रन्थों में तो लिखा नहीं देखा जाता है। बल्कि गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण में तो लिखा है कि—"नेमिनाथ स्वामी ने श्रावण शुक्ला ६ को दीक्षा ली और दीक्षादिन से बेला के बाद ही उन्होंने पारणा किया।

५६ दिन मुनिअवस्था में रहकर आश्विन शुक्ला १ को बेला के नियम में केवलज्ञान पाया।" अर्थात् नेमिनाथ स्वामी ने वर्षाऋतु में ही दीक्षा ली और उसी ऋतु में ही केवल ज्ञान पाया। वर्षा ऋतु के इन ५६ दिनों में ही न जाने उन्होंने कितनी बार आहार लिया है। दो बार आहार लेने का प्रसंग तो कथा में ही बता दिया है। तब जिनकल्पी के लिए वर्षाऋतु में ६ मास तक निराहार और कायोत्सर्ग में स्थित रहने का नियम कहां रहा? तथा भावसंग्रह में जिनकल्पी को मौन से रहना भी प्रतिपादन किया है। किन्तु मूलाचार अधिकार ४ गाथा १४६ में जो एक विहारी मुनि के लक्षण बताये हैं वहां उनके लिए मौनी रहना और वर्षाऋतु में ६ मास तक निराहार रहना नहीं बताया है। आम तौर पर स्थविरकल्पी का अर्थ संघ में रहना और जिनकल्पी का अर्थ एक विहारी होना ही समझा जाता है। वामदेव ने भी संस्कृत भावसंग्रह के श्लोक २७७ में यही लिखा है कि स्थविर आदि मुनिगुणों के रक्षण पोषण की इच्छा रखने वाले स्थविर कल्पी मुनि कहलाते हैं, और यही बात भाव संग्रहकार ने भी गाथा १२६ में कही है। किन्तु वे इन दोनों कल्पों का स्वरूप अन्य गाथाओं में बताते हुए इस मुख्य लक्षण पर स्थिर नहीं रहे है और यदा तदा कथन कर गये हैं। वे लिखते हैं कि—"खड़े होकर करपात्र में एकबार आहार लेना, पीछी आदि उपकरण रखना, पृथ्वी पर सोना, लौंच करना छह आवश्यकों का पालना आदि स्थविर कल्पीकी चर्या है। और धर्म शुक्लध्यानी निष्कषायी, मौनी, निस्पृही आदि रूप से रहने की जिन—कल्पीकी चर्या है।" इससे भावसंग्रहकार का अभिप्राय ऐसा मालूम होने लगता है कि जैसे मानों वे सातवें आदि ऊपर के गुणस्थान वर्ती को ही जिनकल्पी मानते हों और छठवें गुणस्थान वाले को स्थविर कल्पी मानते हों? नहीं तो जिनकल्पी के ही लिये धर्मशुक्लाध्यानी आदि बताने व स्थविर कल्पी ही के लिए आहार करना, लौंच करना, आदि प्रवृत्यात्मक क्रियाएं बताने का और क्या मतलब हो सकता है। किन्तु वे अपनी इस कपोल कल्पित मान्यता पर भी आरूढ़ नहीं रहे हैं। क्योंकि वे जिनकल्पी के लिए पांव में लगे कांटे और आंख में पड़ी रज को स्वयं न निकालने व वर्षा में निराहार रहने का भी आदेश देते हैं। इससे सातवें आदि ऊपर के गुणस्थानी को जिनकल्पी मानने का भी कोई सम्बन्ध नहीं बैठता है। इस तरह भावसंग्रहकार का कथन इस सम्बन्ध में बिल्कुल ही अजीब सा हो गया है। और वे इस बाबत कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सके हैं। यह सब गड़बड़ शिथिलाचार को स्थविर कल्प बनाने के प्रयास से हुई है। इस प्रकार के अयुक्त वर्णन किये जाने की आशा प्राचीन देवसेनाचार्य से नहीं की जा सकती है।

(३) भावसंग्रह की गाथा १२४ में स्थविरकल्पी के लिए यह भी लिखा है कि "वह पांच प्रकार के वस्त्रों का त्यागी होता है।" किन्तु ऐसा त्यागी तो जिनकल्पी भी होता है फिर यहां अकेले स्थविरकल्पी के ही लिए ऐसा कथन क्यों किया? इस कथन से शायद ग्रन्थकार का आशय यह हो कि वे स्थविर कल्पी मुनि के लिए पांच प्रकार से भिन्न तृणज वस्त्र का उपयोग कर लेना जायज समझते हों। इसके समर्थन में भावसंग्रह की हस्तलिखित कुछ प्रतियों में उक्त च रूप से निम्नलिखित पद्य भी लिखा मिलता है—

> अन्डज बुन्डज रोमजचर्म जवल्कल पंच चेलानि।
> परिहृत्य तृणज चेलं यो गृह्णीयाद भवेत् स यतिः॥

इसमें लिखा है कि—'सूती, रेशमी, ऊनी, चमड़े व वृक्षों की वल्कलों से बने ऐसे इन पांच प्रकार के वस्त्रों का त्यागकर जो तृणके बने वस्त्र को ग्रहण करता है वह यति है।"

कथन की अयुक्तता को देखकर किसी ने इसके चौथे चरण में "यो गृह्णीयात् न भवेत स यतिः" पाठ बना दिया है। किन्तु पाठ में "न" अधिक बढ़ा देने से छन्द भंग होता है और तबदीली करना साफ जाहिर होता है। तथा झालरापाटन की सं.– १४८८ की भाव—संग्रह की लिखित प्रति में भी "भवेत् स यतिः" ही पाठ है। यही पाठ इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार की संस्कृत टीका में है। श्लो० ६५वां)

ऐसा विधान परमात्म प्रकाश की टीका में ब्रह्म—देवजी ने भी किया है—

"विशिष्ट संहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपः पर्याय सहकारिभूत मन्न पान संयम शौच ज्ञानोपकरण तृणमय प्रावरणादिकं किमपि गृह्वाति तथापि ममत्व न करोति।"

अर्थ—"विशेष संहननादि शक्ति के न होने से तपका सहायक अन्न पान और संयम–शौच–ज्ञान के उपकरण पीछी कमंडलु शास्त्र व तृणमयवस्त्रादि कुछ भी साधु ग्रहण करता है। तथापि उसमें ममत्व नहीं करता है।"

विदित हो कि इन्हीं ब्रह्मदेवजी ने वृन्द्रव्यसंग्रह की टीका भी की है। राजस्थान ग्रन्थ सूची तृ० भाग के पृ–१८० पर टीका सहित इस ग्रन्थ का लिपिकाल वि० सं० १४१६ लिखा है। इससे ये १४१६ से पूर्व में हुए हैं और उन्होंने किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ का भी निर्माण किया है ऐसा पं० अजितकुमारजी शास्त्री ने वृद्रव्य संग्रह टीका पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है। अधिकतर प्रतिष्ठा–शास्त्रों का निर्माण काल भी १४ वी सदी ही रहा है। फलतः इन ब्रह्मदेवजी का समय भी १४वीं सदी ही अनु–मान किया जा सकता है।

इस तरह मुनि के लिए तृणमयवस्त्र का विधान १४वीं शताब्दि आदि शिथिला चार के जमाने में हुआ है। और वही समय भावसंग्रह का है। भावसंग्रहकार ने जिन-कल्पी को तो बाह्याभ्यन्तर सब प्रकार के परिग्रह का त्यागी लिखा है और स्थविर कल्पी के लिए पन्चचेला का त्याग करना बताया है। इससे भावसंग्रहकार का साफ अभिप्राय यही प्रकट होता है कि उनके मत से स्थविर-कल्पी साधु पांच प्रकार के वस्त्र से भिन्न तृणमय चेल का उपयोग कर सकते हैं और जिनकल्पी किसी भी जाति के वस्त्र का उपयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार ग्रन्थांतरों में उत्सर्ग–अपवाद मार्ग की ओट में शिथिला–चार का पोषण किया गया है उसी प्रकार भावसंग्रह में जिनकल्प–स्थविरकल्प की ओट लेकर शिथिलाचार का पोषण किया है।

जो देवसेन दर्शनसार में मामूली मतभेद की वजह से ही मुनियों को जैनाभास करार देते हैं वे भाव संग्रह में ऐसा कथन करेंगे यह कदापि मानने में नहीं आ सकता।

यहां यह समझ रखना चाहिये कि आसन के लिये मुनि का घास की बनी चटाई का उपयोग करना ऐसा अभिप्राय भाव संग्रह का नहीं है। वहां "तृणज चेलं" वाक्य दिया गया है और चेल का उपयोग शीत से बचने के लिए अंगप्रत्यंग को ढक कर किया जाता है। इसी भाव को ऊपर ब्रह्म देव ने "तृणमय आवरण" शब्द से व्यक्त किया है।

(४) जैसे सवस्त्र मुक्ति मानने वाले श्वेतांबरों के स्थविर कल्प को भाव संग्रहकार ने गृहस्थ कल्प बताया है वैसे ही भाव संग्रह में स्थविर कल्पी दिगंबर साधुओं की जो चर्या लिखी है उसे हम दिगम्बरों का शिथिलाचार कल्प कहदें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ऐसे शिथिलाचार कल्पी साधुओं की प्रशंसा भाव संग्रह की गाथा १३० में इस प्रकार वर्णन की है—

"संहनन की अति हीनता दुषमाकाल और मनकी चंचलता होते भी जो महाव्रत के भार के धारण करने में उत्साही बने हुये है वे धीर वीर मुनि हैं।" इस गाथा का आशय बहुत कुछ यशस्तिलक के इस पद्य से मिलता है।

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीट के।
एतच्चित्रं यदद्यपि जिनरूपधरा नराः॥

तथा भाव संग्रह की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में यशस्तिलक के कई उक्त च पद्य भी लिखे मिलते हैं। इससे भी भाव संग्रह का निर्माण यशस्तिलक के बाद में होना सिद्ध होता है।

इसके आगे की गाथा में उक्त साधुओं की प्रशंसा जिस ढंग से वर्णन की है वह तो बड़ी ही विलक्षण है—

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण कायेण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणो॥१३१॥

इसमें बताया है कि—"पहिले के मुनि अपनी उस कार्य से जिस कर्म को हजार वर्ष में खपा देते थे उस कर्म को इस काल में हीन संहनन का धारी मुनि वर्ष भर में ही निर्जरा कर डालता है।"

कहना न होगा कि भाव संग्रह का यह कथन कितना आपत्ति के योग्य है। साफ तौर से ऐसा कथन अपनी और अपने साथी साधुओं ने जैसी कुछ चर्चा बना रक्खी है उसके पोषण की दृष्टि से किया गया है। सचमुच ही अगर इस काल के साधु लोग कर्मों की इतनी अधिक निर्जरा कर डालते हैं तो इनमें किसी के अवधिमन: पर्ययज्ञान व चारण आदि विविध ऋद्धियां होती तो नहीं देखी गई हैं। और तब पंचम काल में मोक्षगमन का अभाव भी क्यों बताया जाता है?

ऊपर गाथा १३० और १३१ में जो कथन किया गया है उसे ध्यान में रखकर ही भाव संग्रह की निम्न-लिखित गाथा की रचना हुई है—

संहणणस्य गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाहा ॥१२७॥

अर्थ-संहनन के गुण से अर्थात् हीनसंहनन वाले साधु के अधिक निर्जरा होती है जैसा कि गाथा १३१ में कहा है। यह तो हुआ संहनन का गुण और दु:षम काल के तप के प्रभाव से अर्थात् पंचमकाल में इस समय हीन संहनन और मन की अस्थिरता होते भी महाव्रती साधु बने हुये हैं जैसा कि गाथा १३० में कहा है। यह हुआ दु:षमकाल के तप का प्रभाव। इन कारणों से साधुओं का पुरनगर ग्राम में रहना स्थविर कल्प माना जाता है।

भाव संग्रह की गाथा १३१ वीं को रत्नादि ने अपने बनाये भद्रबाहु चरित्र में भी उद्धृत की है। रत्नादि ने तो भद्रबाहु चरित्र में जिन कल्पी स्थविर कल्पी वाला वह सारा प्रकरण ही वामदेव के संस्कृत भाव संग्रह से ज्यों का त्यों अनुवाद कर रक्खा है। और सकलकीर्ति ने भी धर्म प्रश्नोत्तर ग्रंथ में प्रश्न नं० ३१७ में भाव संग्रह की गाथा १३१ के आशय को अपनाया है। इस तरह गाथा १३१ के कथन का अनुसरण किया जाना १४ वीं सदी के बाद के बने ग्रंथों में तो कहीं कहीं मिलता है। किंतु १४ वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों में ऐसा विलक्षण कथन हमारे देखने में नहीं आया है। और तो क्या अधिकांश रूप से भाव संग्रह के आशय को लेकर संस्कृत का भाव संग्रह बनाने वाले वामदेव भी इस कथन से सहमत नहीं मालूम पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने भी अपने भाव संग्रह में इस प्रकरण की बहुत सी बातें तो ली हैं किंतु "हीन संहनन वाले साधु के अधिक निर्जरा होती है" इस कथन को नहीं लिया है।

इस प्रकार मिथ्या तरीकों से शिथिलाचार का पोषण करना यह बताता है कि यह भाव संग्रह उस वक्त की रचना है जब शिथिलाचार को शिथिलाचार ही नहीं माना जाता था बल्कि उसे एक महिमा की चीज सिद्ध किया जा रहा था। इससे हम कह सकते हैं कि यह ग्रंथ संभवत: १४ वीं सदी से पूर्व का बना हुआ नहीं है।

(५) भाव संग्रह में गाथा ३५० से लेकर ५९९ तक २५० गाथाओं में पांचवे गुणस्थान का वर्णन पाया जाता है। तथापि श्रावकाचार का उल्लेख योग्य ऐसा कोई खास वर्णन नहीं किया है। दो चार गाथाओं में श्रावक के १२ व्रतों और ८ मूलगुणों के केवल नाम मात्र लिख दिये हैं। न उनके स्वरूप का कथन किया है न अतीचारों का। सप्त व्यसन ग्यारह प्रतिमाओं का भी कहीं कोई कथन नहीं है। बाकी सारी गाथायें अधिकतया दान पूजा विषय की ही भर दी गई हैं। गाथा ४२५ से ४८२ तक स्नान, आचमन, सकलीकरण, अभिषेक, दिकपालों की उपासना, भगवान् के उबटना करना, योग मंडल आदि यंत्रोद्धार, पूजा, विसर्जन इत्यादि क्रियाकांड लिखकर फिर गाथा ४८६ तक पूजा का फल स्वर्गगमन वहां से चक्रवर्ती हो महाव्रती दीक्षा ले मोक्ष में जाना बताकर गाथा ४८७ में इन सबका निष्कर्ष यह बताया है—

इय णाऊण विसेसं पुण्णं आयरह कारणं तस्स।
पावह ण जाम सयलं संजमयं अप्पमत्तं च ॥४८७॥

अर्थ—इस प्रकार उक्त क्रियाकांड के अनुष्ठान से उस मोक्ष का कारण भूत ऐसा विशेष पुण्य होगा जानकर जब तक सकल संयम और अप्रमत्तसंयम नहीं प्राप्त कर लेवे तब तक उसी विशेष पुण्य का आचरण करते रहो।

भाव संग्रह के इस कथन से ग्रन्थकार का कुछ ऐसा आशय झलकता है कि वे श्रावकों के उस समय उक्त

क्रिया कांड की मुख्यता लाना चाहते थे इसीसे उन्होंने श्रावकों के बारह व्रतों अतिचारों आदि का वर्णन नहीं किया है। और इस बात पर जोर दिया है कि श्रावकों का कर्तव्य तो विशेष तौर पर दान पूजा करके पुण्यसंपादन करने का ही है। वे नहीं चाहते थे कि गृहस्थी ध्यान स्वाध्यायादि के पचड़े में पड़कर उक्त क्रियाकांड के अनुष्ठान में शिथिलता दिखावे। अपने इसी उद्देश्य को लेकर कभी तो वे गाथा ३५७ में "पांचवें गुण स्थान में आर्त रौद्र और भद्र ध्यान होता है। धर्म ध्यान नहीं होता है।" ऐसा कथन करते हैं। यहां वे भद्रध्यान की एक नई ही कल्पना करते हैं। और कभी वे गाथा ३७१ में पंचम षष्ठ गुणस्थान में उपचार से धर्मध्यान बताते हैं। वहां वे चौथे गुण स्थान में उपचार से भी धर्मध्यान होता है या नहीं ? कुछ नहीं बताते हैं। तथा कभी वे धर्मध्यान के सालंब, निरालंब ऐसे दो भेद करके गृहस्थी के गाथा ३८८ में पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप का चिंतवन रूप या मंत्राक्षर रूप सालंब ध्यान का प्रतिपादन करते हैं। और इससे शायद वे आज्ञाविचय आदि जो चार भेद रूप धर्मध्यान है वैसा धर्मध्यान श्रावक के न मानते हों। और ऐसा ही सालंब ध्यान वे छठवें गुण स्थान में भी मानते हैं। क्योंकि गाथा ३८१ में उन्होंने निरालंब ध्यान सातवें गुण स्थान में ही बताया है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ धर्मध्यान के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के कथन किये हैं। किन्तु आगम समस्त "पांचवें गुण स्थान में एक देश धर्मध्यान होता है।" यह जो सही सिद्धांत है उसका उल्लेख अपने उद्देश्य में बाधा पड़ती देख कहीं नहीं कर रहे हैं। जिनकल्प स्थविर कल्प के स्वरूप कथन में इनकी जैसी डांवाडोल स्थिति रही है, वही डांवाडोल स्थिति धर्मध्यान के स्वरूप कथन में भी नजर आती है।

श्रावकों का खास काम पुण्य संपादन करने का ही है अपने इस सिद्धांत को लेकर भाव संग्रहकार ने जो एक बड़ी अनोखी बात शुरू में ही कही है वह भी जरा देखिये—

सेयो सुद्धो भावो तस्सुवलंभोय होई गुण ठाणे।
पण दह पमायरहिए सयलवि चारित्त जुत्तस्य ॥६॥

अर्थ—शुद्धभाव श्रेय: कहिये कल्याण मय है उसकी उपलब्धि सकल चरित्र वाले प्रमाद रहित अर्थात् अप्रमत्त विरत नाम के ७ वें गुण स्थान में होती है।

यहां ग्रन्थकार ने सातवें गुण स्थान में केवल शुद्ध भाव बताया है। इससे यह दर्शाया है कि– सातवें से नीचे छठवें पांचवें गुण स्थान में शुद्ध भाव तो हैं नहीं, वहां शुभ भाव हो सकते हैं और शुभभाव से पुण्यबंध ही होगा इसलिये श्रावकों को पुण्यबन्ध के ही काम करने चाहिये। और चूंकि ग्रन्थकार ने खास धर्मध्यान सातवें गुण स्थान में ही माना है और उसी में शुद्ध भाव भी इससे ग्रन्थकार का मत यही प्रकट होता है कि वे धर्म-ध्यान में शुद्धभाव ही मानते हैं और शुद्ध भाव श्रावक के नही हो सकते हैं इसीसे वे पंचम गुण स्थान में धर्मध्यान का निषेध करते हैं।

किन्तु सातवें गुण स्थान में धर्मध्यान की मुख्यता होने से ग्रन्थकार का वहां सर्वथा शुद्ध भाव मानना भी ठीक नहीं मालूम देता है। क्योंकि जब सातवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान नहीं और कषायजनित बन्ध का अभाव भी नहीं तो वहां सर्वथा शुद्ध भाव ही हो शुभ भाव न हो ऐसा कैसे हो सकता है। बल्कि मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १९७ की टीका में तो स्पष्टतया धर्मध्यान को स्वर्ग गति का कारण लिखा है—

"धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैतद्वे प्रशस्ते देवगति मुक्ति गति प्रापके।" यहां धर्मध्यान से देवगति होना बताया है। इससे सिद्ध है कि धर्मध्यान में शुभभाव भी होते हैं।

और यह भी एकांत नहीं हैकि पांचवें छठवें गुणस्थान में कुछ भी शुद्ध भाव नहीं है। चौथे से सातवें गुणस्थान तक जिनके जितने अंशों में मोह का अभाव है उनके उतने ही अंशों में शुद्ध भाव भी हैं ऐसा मानना पड़ेगा इसी से तो आगम में चौथे, पांचवें, छठवें आदि गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है।

और जो भावसंग्रहकार ने गाथा ३५७ में श्रावक के धर्मध्यान का निषेध करके फिर गाथा ३७१ में पांचवें छठवें गुणस्थान में उपचार से धर्मध्यान बताया है सो यहां उपचार का क्या अर्थ है ? यही कि वहां वास्तविक धर्मध्यान नहीं है। उपचार शब्द से तो ग्रंथकार का यही अभिप्राय ध्वनित होता है। तो क्या पांचवें छठवें गुणस्थान में वास्तविक धर्मध्यान का एकोदेश भी नहीं होता है ? ग्रंथकार का यह सब कथन ठीक नहीं है। क्यों कि धर्मध्यान के आज्ञाविचय आदि भेद हैं और सम्यक्त्व के साथ ही आज्ञाविचय हो जाता है। अतः पांचवें ही नहीं चौथे गुणस्थान में भी धर्मध्यान होना सिद्ध है। और इसीसे तत्वार्थ राजवार्तिक में चौथे से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान बताया है। और भावसंग्रहकार का केवल सातवें ही गुणस्थान में धर्मध्यान बताना यह आम्नाय तो श्वेतांबर सम्प्रदाय की है जो उनके तत्वार्थाधिगम भाष्य में उल्लिखित है। इसलिये भावसंग्रहकार का पांचवें ही नहीं महाव्रती छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के भी उपचार से धर्मध्यान बताना सिद्धांत विरुद्ध कथन है। इस विषय में विद्यानंदिस्वामी ने श्लोकवार्तिक में जो विवेचन किया है उस पर ध्यान दीजिये—

"कस्य तद्धर्मध्यानं स्यादित्याह—
साकल्येन विनिर्दिष्टं तत्प्रमत्ताप्रमत्तयोः।
अंतरंगतपोभेदरूपं संयततोः स्फुटं ॥
संयता संयतस्यैक देशेना संयतस्य तु।
योग्यतामात्रतः कैश्चिद्धर्म्यध्यानं प्रचक्षते ॥
धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न, पूर्वेषां निवृत्ति प्रसंगात्।
इष्यते च तेषां सम्यक्त्वप्रभावाद्धर्म्यध्यानं।"
नवममध्याय सूत्र ३६ की व्याख्या।

अर्थ—वह धर्मध्यान किसके होता है ? यह बताते हैं—अंतरंग तप का भेद होने से वह धर्मध्यान पूर्णरूप से प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दोनों के स्पष्ट तौर से माना गया है और संयतासंयत पांचवें गुणस्थान में वह एकोदेश रूप से माना गया है तथा असंयत गुणस्थान में भी वह जैसी जहां योग्यता है उस रूप माना गया है। "धर्मध्यान अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थान में ही होता है।" ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्यों कि ऐसा कहने से नीचे के गुणस्थानों में उस धर्मध्यान के अभाव का प्रसंग आवेगा। क्यों कि सम्यक्त्व के प्रभाव से सातवें से नीचे के गुणस्थानों में भी आगम में धर्मध्यान बताया है।

पाठक देखेंगे कि भावसंग्रहकार ने जहां छठवें गुणस्थान में वास्तविक धर्मध्यान ही नहीं बताया है वहां विद्यानंद्याचार्य पूर्ण धर्मध्यान बताते हैं। इसी तरह भावसंग्रहकार जहां पांचवें गुणस्थान में भी वास्तविक धर्मध्यान न बता कर भद्रध्यान आदि विभिन्न प्रकार के धर्मध्यान की कल्पना करते हैं वहां आचार्य विद्यानंदि पांचवें गुणस्थान में भी थोड़े रूप में उसी धर्मध्यान को बताते है जो सातवें गुणस्थान में होता है। इस तरह विद्यानंदिस्वामी के मत से भावसंग्रहकार का मत मिलता नहीं है।

अगर श्रावक के धर्मध्यान न माना जाये तो चक्रवर्ती जैसी विभूति के धारी राजा भरत "घर में ही वैरागी थे" यह कहावत कैसे घटित हो सकेगी। यह उनके गृहस्थाश्रम में साधु हुए धर्मध्यान का ही प्रताप था जो दीक्षा लेने के अंतर्मुहूर्त बाद ही उन्होंने केवल ज्ञान पा लिया। सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक तो देशव्रती भी न थे फिर भी उनके ३३ सागर की नरकायु घटकर ८४ हजार वर्ष प्रमाण ही रह गई, यह धर्मध्यान का प्रभाव नहीं तो और किसका था ? धर्मध्यान के ही प्रताप से देशव्रती का उत्पाद शास्त्रों में १६ वां स्वर्ग तक लिखा है। पार्श्वनाथ चरित में मरुभूति का जीव हाथी भी देशव्रत से १२ वां स्वर्ग गया है।

और जो भावसंग्रहकार ने पूजादि क्रियाकांड के प्रचार के उद्देश्य को लेकर एकांतरूप से श्रावक के लिए पुण्य सम्पादनार्थ प्रवृत्ति मार्ग की मुख्यता बताकर पांच अणुव्रत तीनगुणव्रत आदि देश चारित्र, स्वाध्याय संयम तप आदि निवृत्तिमार्ग की ओर उपेक्षावृत्ति दिखलाई है वह जैनधर्म की समीचीन नीति के ही नहीं अपितु प्राचीन आगम परम्परा के भी विरुद्ध है। आगम में तो जो आचार्य प्रथम मुनि धर्म का उपदेश न देकर श्रावक धर्म

का उपदेश देने लगता है तो वह भी दंड योग्य समझा गया है क्योंकि पांचवें गुणस्थान के वर्णन में जो पद्धति भावसंग्रह में अपनाई है वैसी पद्धति प्राचीन देवसेनाचार्य की नहीं हो सकती है। क्योंकि अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रंथ में ऐसा लिखते हैं—

जिनपुंगव प्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥
इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०६॥

अर्थ—जिनेन्द्र के आगम में मुनीश्वरों का जो आचार कहा है वह गृहस्थों को भी अपनी पदवी और शक्ति का विचार करके तदनुसार सेवन करना चाहिए। अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ को भी यह रत्नत्रय एकदेश रूप से प्रतिसमय निरंतर पालते रहना चाहिए—

इस प्रकार भावसंग्रह में उसके कर्ता ने जिस मनोवृत्ति को लेकर पांचवें गुणस्थान का वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि ग्रंथकार का लक्ष्य उस समय उक्त क्रियाकांड के प्रचार करने का था। इस प्रकार का क्रियाकांडी साहित्य का निर्माण बहुत करके १४ सदी से शुरू हुआ है।

मंडलपूजा में जयादि ८ देवियों, १६ विद्यादेवियों, २४यक्षयक्षियों, और ३२इंद्रोकी स्थापना कर उनकी पूजा करने की जैसी पद्धति आशाधर, इंद्रनंदि, एकसंधि आदि के क्रियाकांडी साहित्य में पाई जाती है वैसे ही पद्धति इस भावसंग्रह में भी दृष्टिगोचर होती है। (देखो गाथा ४४६से-४५४) इत्यादि कारणों से यह भाव संग्रह भी एकसंधि आदि के आस पास के समय में ही रचा गया जान पड़ता है।

यहां हम पाठकों को यह भी बतला देना चाहते हैं कि करीब ४० वर्ष पहिले यह भाव संग्रह ग्रन्थ मूल गाथा बद्ध माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसकी प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया पं० पन्नालालजी सोनी ने की थी। छाया करने में कई जगह अशुद्धियां कर रक्खी हैं। अशुद्धियों के कुछ नमूने देखिये—

गाथा २४ सव्वस्सेण–सर्ववस्तुना। चाहिये सर्वस्वेन
गाथा ३८२ जइणो–यतीना। चाहिये जैनः
गाथा २०५ णिवादियं–वंदिनः। चाहिये नृपं द्विजं
गाथा २५० करयलाओ–करे लग्नां चाहिये करतलतः

कुछ अरसे पहिले इस ग्रन्थ का पं० लालारामजी शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद करके कुछ दातारों की सहायता से प्रकाशित कर इसे बिना मूल्य वितरण भी किया है। इसके पूर्व संस्करण में संस्कृत छाया में जो अशुद्धियां थीं वे सभी प्रायः इस प्रकाशन में भी मौजूद हैं। उन अशुद्धियों से इसका हिन्दी अनुवाद भी जहां तहां गलत होगया है। अनुवाद की गलतियों में से भी एक नमूना यहां पाठकों की जानकारी के लिये दे देते हैं—

जीवों के शुभ, अशुभ, और शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। गाथा ६ वी में कहा है कि–जो शुद्ध परिणाम कल्याण के कर्ता हैं वे तो सातवें गुण स्थान में होते हैं। (यह गाथा इस लेख में ऊपर उद्धृत हुई है) इसके आगे की गाथा इस प्रकार है—

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपाव संजणया।
ते पंच भाव मिस्सा हो ति गुण ठाण मासेज्ज ॥७॥

अर्थ—"बाकी जो दो शुभ अशुभ भाव हैं वे पुण्य पाप के बन्ध करने वाले हैं इस प्रकार जीवों के तीनों परिणाम गुण स्थान को आश्रय करके औपशमिकादि पंच भावों में मिले रहते हैं।" यह तो सही अर्थ है, किन्तु प० लालाराम जीने इसके उत्तरार्द्ध का गलत अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव औदयिक आदि पांच भावों से मिल कर गुणस्थानों के आश्रय से रहते हैं।" हम अनुवादकजी से पूछते हैं कि आपने यहां औदयिक आदि पांच भावों में शुभ अशुभ दो ही भावों का मिलना कैसे बताया, शुद्ध भाव को क्यों छोड़ गये? शुद्ध भाव पंचभावों से बाहर है क्या? फिर आप ही ने आगे गाथा ८ के भावार्थ में शुभ अशुभ शुद्ध इन तीनों भावों को पंचभावों में गर्भित भी लिख दिया है। दर असल

बात यह है कि गाथा ७ की संस्कृत छाया जो पूर्व संस्करण में अशुद्ध थी वही इस संस्करण में भी है। उसी के आधार पर हिंदी में अर्थ करने से यह गल्ती हुई है।

इसी हिंदी टीका वाले संस्करण के पृष्ठ २६७ पर अनुवादकजी ने सूचना छपाई है कि—"बहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर में कहीं भी इसका यंत्र नहीं मिला जिससे इन पद्यों का अर्थ नहीं बैठा है।" अनुवादक की इस सूचना पर हमारा निवेदन है कि–यह कोई प्राचीन ग्रंथ नहीं है जो इसमें लिखा यंत्र दक्षिण उत्तर में कहीं न मिले। दरअसल में आपके दिमाग में यह प्राचीन ग्रंथ जंचा हुआ है इसीसे आपने अच्छी तरह तलाश नहीं किया है। हम बताये देते हैं कि इस यंत्र का नाम त्रिलोकसार यंत्र है और यह विद्यानुशासन पूजा सारादि ग्रंथों में पाया जाता है। आप वहां देख सकते हैं।

(६) इस ग्रंथ में दान के प्रकरण में गाथा ५०५ से लेकर ५०८ तक जो कथन किया गया है वह भी खास विचारणीय है। वहां लिखा है कि–"जो कुछ भी सिद्धांत शास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो और कुछ भी बाह्य अभ्यंतर तप का धारी हो तथा दृढ़ ब्रह्मचारी हो वह वेदमय तपमय पात्र है ऐसा पात्र नियमतः संसार से तारने वाला है।

इस कथन में जो रहस्य छिपा हुआ है वह यह है कि –"वस्त्रधारी भट्टारकों को उत्तम मध्यम जघन्य पात्रों में से कौनसा पात्र माना जाये? जैनागम में जो इन पात्रों के लक्षण लिखे गये हैं उनके अनुसार तो प्रायः निष्परिग्रही नग्न मुनि उत्तम पात्र माने जाते हैं। तब वस्त्रधारी भट्टारकों को कौनसा पात्र मानना चाहिये? इसी प्रश्न का समाधान ऊपर के कथन में किया गया है और उससे यह सूचित किया है कि वेदमय तपमय होने से वस्त्रधारी भट्टारक भी एक विशिष्ट पात्र हैं। इसीसे उनके लिए सिद्धांतज्ञान, तप और ब्रह्मचर्य का होना तो बताया गया है किंतु अपरिग्रही निरारंभी, नग्नलिंगी होने का कथन नहीं किया है।

जिस प्रकार भावसंग्रहकार ने गृहस्थी के लिए धर्म-ध्यान और पंचमकाल के हीनसंहननी साधु के अधिक निर्जरा होने आदि का स्वच्छंद कथन किया है। जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है। उसी प्रकार वेदमय तपमय पात्र की एक नई कल्पना यहां भी की है। इससे स्पष्ट है कि यह भाव संग्रह भट्टारक को जमाने की रचना है।

इसके अलावा एक बात यह भी है कि प्राचीन देवसेन ने दर्शनसार आराधनासार आदि छोटी छोटी रचनाएं सूत्र रूप से की हैं और इसीसे उनकी रचनाओं के नामों के अन्त में प्रायः सार शब्द पाया जाता है। भावसंग्रह सातसौ गाथाओं का एक बड़ा ग्रंथ है अतः यह उन प्राचीन देवसेन का नहीं है ऐसा प्रतिभासित होता है।

दूसरी बात यह है कि—आशाधर के बनाये टीका ग्रंथों में बहुत से उद्धरण ग्रंथांतरों के मिलते हैं। उनसे ग्रंथकारों के समय निर्णय करने में बड़ी मदद मिलती है। खास कर वे आचार ग्रंथ जो आशाधर से पूर्व बन चुके थे उनमें से तो जहां तक मेरा खयाल है कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं बचा है जिसका कुछ न कुछ उल्लेख आशाधर ने अपने सागर अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में न किया हो। आशाधर से पूर्ववर्ती आचारग्रंथ ये थे—

"पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अमितगति श्रावकाचार, यशस्तिलक, रत्नकरंडश्रावकाचार, वसुनंदि श्रावकाचार, आदि पुराणका जैन संस्कार प्रकरण, मूलाचार और उसकी आचारवृत्ति टीका, पद्मनंदिपंचविंशतिका, चारित्रसार और रत्नकरंडकी प्रभाचंद टीका।"

जबकि आशाधर ने इन सब ग्रंथों के उद्धरण लिये हैं तब क्या कारण है कि उन्होंने भावसंग्रह ग्रंथ का एक भी उद्धरण नहीं लिया। जबकि उन्होने देवसेन के अन्य ग्रंथ दर्शनसार आराधनासार के भी उद्धरण लिये हैं। आराधनासार पर तो उन्होंने टीका भी लिखी है। कारण स्पष्ट है कि–आशाधरजी के वक्त तक भावसंग्रह ग्रंथ बना ही न था तब वे उसका उल्लेख कैसे करते। जिस प्रकार पूज्यपाद श्रावकाचार उमास्वामी श्रावकाचार, कुंद

कुंद श्रावकाचार। सावयधम्म दोहा, और शिवकोटिकी रत्नमाला आदि भी आचार के ग्रंथ हैं किंतु ये सब आशाधर से बाद के बने हुए हैं इसीसे इनका उल्लेख आशाधर के ग्रंथों में कहीं नहीं पाया जाता है। उसी प्रकार भाव संग्रह ग्रंथ भी आशाधरजी के बाद का बना हुआ है इसीसे उसका उल्लेख भी आशाधररचित ग्रंथों में नहीं मिलता है।

इस प्रकार जांच करने से यह भाव संग्रह ग्रंथ निश्चय ही अर्वाचीन सिद्ध होता है। यह १० वीं शताब्दि में होने वाले देवसेन का न होकर १४ वीं शताब्दि में होने वाले किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा रचा हुआ जान पड़ता है। संभवतः यह उन देवसेनका भी हो सकता है जिन्होंने अपभ्रंशभाषा में सुलोचना चरित लिखा है। सुलोचना चरित की समाप्ति का समय श्रावण शुक्ला १४ बुधवार राक्षस संवत्सर दिया है एक राक्षस सं०। वत्सर वि. सं. १३७२ में भी पड़ता है। भावसंग्रह का रचना समय हमने जो ऊपर १४ वीं शताब्दि अनुमान किया है उससे भी इसकी संगति बैठती है तथा सुलोचना-चरित्र के कर्ता ने अपने गुरु का नाम विमलसेन लिखा है। भाव संग्रहकार ने भी अपने गुरु का नाम विमलसेन लिखा है। एवं भाव संग्रह की रचना में काफी तौर पर अपभ्रंश भाषा के शब्द पाये जाते हैं। इन सब कारणों से सुलोचना चरित्रकार और भाव संग्रहकार दोनों का बहुत कुछ मेल बैठता है अतः दोनों अभिन्न मालूम पड़ते हैं। रहा सुलोचना चरित्र में देवसेन ने अपने गुरु विमलसेन का उल्लेख करते हुए उन्हें मलधारी लिखना जबकि भावसंग्रह में देवसेन ने उन्हें गणी लिखा है। इतने मात्र से दोनों की भिन्नता नहीं सिद्ध की जा सकती हैं। भिन्नता के लिए अन्य कोई पुष्ट प्रमाण होने चाहिए। हो सकता है कि विमलसेन के अनेक शिष्यों का संघ होने से वे गणी या गणधर कहलाते हों और मलधारी उनकी कोई उपाधि होने से वे मलधारी नाम से भी पुकारे जाते हों। इसलिए एक ही देवसेन ने अपने दो ग्रंथों में से एक में तो अपने गुरु के नाम के साथ मलधारी शब्द का प्रयोग कर दिया हो और दूसरे में गणधर शब्द का। ये ही नहीं पिछले कई भट्टारकों ने भी अपने को गण, गणधर, और गणभृत् शब्द से उल्लिखित किया है। और यह कहना कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन ने दर्शनसार और आराधना सार के मंगलाचरण में अपना नाम श्लेषरूप से ध्वनित किया है। वही पद्धति भावसंग्रह में भी अपनाई है इसलिए दर्शनसार और भाव संग्रह के कर्ता दोनों एक है। इस हेतु में भी कुछ सार नहीं है। क्यों कि मंगलाचरण में श्लेष रूप से अपना नाम प्रकट करने की परिपाटी देवसेन की ही नहीं अन्य ग्रंथकारों के ग्रंथों में भी देखी जाती हैं। हां, यह ठीक है कि भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन नहीं है जिनको पांडवपुराण के कर्ता माथुरसंघी यशःकीर्ति ने अपनी गुरु परम्परा की पांचवी पीढ़ी में बताया है। भाव संग्रह के कर्ता के लिए यह भी जरूरी नहीं है कि वह काष्ठा संघी आदि कोई जैनाभासी ही हो। वह वैसा मूल संघी भी हो सकता है जैसे कि अन्य सहस्त्र भट्टारक अपने को मूलसंघी लिखते हैं।

भाव संग्रह में कई ऐसी गाथायें हैं जो निश्चयतः अन्य ग्रंथों की हैं और वे इसमें मूलका अंग बनी हुई हैं। जैसे कि 'हिंसार हिए धम्मे…'' गाथा। यह गाथा कुंद कुंद के मोक्ष पाहुड़ की है जो भावसंग्रह में २६२ वें नम्बर पर पाई जाती है। इसी तरह गोम्मटसार पंचसंग्रह आदि ग्रंथों की भी इसमें कुछ गाथायें जहां तहां दृष्टि-गोचर होती हैं। जबकि उपर्युक्त जांच से यह भावसंग्रह आशाधर से बाद का बना सिद्ध हो जाता है तो इन गाथाओं के बाबत कुछ विद्वानों की जो यह धारणा बनी हुई है कि गोम्मटसारादि ग्रंथों में ये गाथायें भावसंग्रह से ली गई हैं वह धारणा गलत सिद्ध होती है। और अब यह कहना चाहिए कि ये गाथायें भावसंग्रहकार ने ही उक्त ग्रंथों से लेकर अपना ली है। इसी तरह इसमें वसुनंदि-श्रावकाचार की भी कई गाथायें बिना किसी उत्क्षेप के पाई जाती है। जिनमें से ''संकाइ दोसरहियं'' आदि ६ गाथायें जो भाव संग्रह में नं० २७६ से २८४ तक पाई जाती हैं वे भी विशेष विचार करने से वस्तुतः वसुनंदि श्रावकाचार की ही प्रतीत होती हैं। जो किसी तरह भावसंग्रह में प्रक्षिप्त हो गई हैं। क्यों कि प्रकरण को देखते हुए

भावसंग्रह में इन गाथाओं की कुछ भी संगति बैठती नहीं है। अगर देवसेन को ऐसा कुछ कथन करना अभीष्ट होता तो वे प्रकरण संगत गाथा २६३ के आगे कर सकते थे। भावसंग्रह की गाथा २७८ में कहा है कि—"उन अर्हंतों के द्वारा कहे हुए नवपदार्थ, पंचास्तिकाय, और छत द्रव्यों का आज्ञा और अधिगम से श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है।" इसके आगे नव पदार्थों आदि के नाम और उनके स्वरूप का वर्णन होना क्रम प्राप्त है किन्तु जो गाथा २८५ से शुरु होता हैं। इसलिए बीच की २७६ से २८४ तक की वे ६ गाथायें स्पष्टत: अप्रासंगिक नजर आती हैं। भाव संग्रह के उस प्रकरण में जबकि सम्यक्त्व के अंगों के नाम तक भी नहीं हैं तो अंगों में प्रसिद्ध होने वालों की कथाओं का उल्लेख करना साफ ही असंबद्ध मालूम देता है। किंतु वसुनंदि श्रावकाचार में इन गाथाओं का होना संगत मालूम देता है। वसुनंदि ने अपने इस श्रावकाचार में जहां सप्त व्यसनों का वर्णन किया है वहां भी गाथा १२५ से १३३ तक में व्यसनों की कथाओं का उल्लेख किया है। यही नहीं गाथा ३४८—३४६ में वैयावृत्य का फल पाने वाले वसुदेव और श्रीकृष्ण के भी नाम लिखे हैं। उसी तरह सम्यक्त्व के अंग सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख करना वसुनंदिकी कथन शैली को प्रकट करता है। इससे वे गाथायें वसुनंदि श्रावकाचार की ही हो सकती है ऐसा मानने को बाध्य होना पड़ता है। इसलिए वसुनदि श्रावकाचार की कोई एक हस्तलिखित प्रति में इन गाथाओं को "उक्तंच भावसंग्रहात्" वाक्य के साथ लिख देना अवश्य ही किसी गल्ती का परिणाम है। इस गल्ती की पुष्टि इस बात से भी होती है कि वसुनंदि श्रावकाचार में ग्रंथ भर में कहीं भी उक्तं च का नाम निशान नहीं है। उक्तं च की यह प्रणाली तो अधिकतया भावसंग्रह में ही नजर आती है जो उसकी कई हस्तलिखित प्रतियों से सिद्ध है। तथा और भी विचारने का विषय है कि पं. आशाधरजी ने वसुनंदि श्रावकाचार के कई उद्धरण लिये हैं इससे कह सकते हैं कि उन्होंने वसुनंदि श्रावकाचार को अच्छी तरह से देखा है तो विवादस्थ उक्त छहगाथाओं के पूर्व में लिखा "उक्तं च भावसंग्रहात् "वाक्य भी आशाधरजी की नजर में गुजरा होगा तब यह स्वाभाविक है कि उनकी इच्छा भाव संग्रह ग्रंथ को देखने की भी हुई ही होगी और वे उसे प्राप्त कर देखा होगा। यदि यह सब हुआ हो तो आशाधर के साहित्य में भावसंग्रह के उद्धरण भी मिलते। किंतु आशाधरजी का तो जितना भी साहित्य इस समय उपलब्ध है उसमें तो कहीं भी भाव संग्रह की कोई गाथा उक्तंच रूप से लिखी नहीं मिलती है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि—वसुनंदि श्रावकाचार की प्रति में आशाधरजी के वक्त भी उन ६ गाथाओं के साथ "उक्तंच भावसंग्रहात्" वाक्य नहीं था और हो भी कैसे जबकि भावसंग्रह ग्रंथ आशाधरजी से पहिले बना ही न था। यह तो मानने में नहीं आता कि जानकारी होते भी आशाधरजी उसे न प्राप्त करें या उन्हें वह न मिल सके।

यदि ऐसा कहा जाये कि "अगर ये गाथायें भावसंग्रह की न होकर वसुनंदि श्रावकाचार की हैं तो भावसंग्रह में इनका उल्लेख उक्तंच रूप से क्यों नहीं है?" तो इसका उत्तर यह है कि—ये ही क्या वसुनंदिश्रावकाचार की तो अन्य भी गाथायें इसमें बिना उक्तंच के मिलती हैं। इसी तरह के ग्रन्थों की भी मिलती है। इसकी गाथा नं० २६२ को देखिये जो इसमें मूक का अंग बनी हुई हैं। दर असल में यह गाथा मोक्षपाहुड़ की है जो वहां ६० नम्बर पर पायी जाती है। तथा भावसंग्रह की हस्तलिखित प्रतियों की हालत पर जब हम विचार करते हैं तो माणिकचन्द ग्रन्थ माला में जो भावसंग्रह छपा है। उनमें एक प्रति तो सं. १५५८ की लिखी हुई है और दूसरी सं—१६२७ की लिखी हैं। किन्तु दोनों प्रतियों में बड़ा ही अन्तर है। सं.१६२७ प्रति में ग्रन्थान्तरों के बहुत से उद्धरण हैं किन्तु सं. १५५८ की प्रति में उतने उद्धरण नहीं हैं। इन प्रतियों के अलावा ए. प, सरस्वती भवन झालरापाटन की एक और प्रति भी हमने जो सं—१४८८ की लिखी हुई है। उसमें भी प्राय: ग्रन्थान्तरों के उतने ही उद्धरण मिलते है जितने कि सं. १६२७ की उक्त प्रति में पाये जाते है। इन उदाहरणों में और तो क्या संस्कृतभाव संग्रह तक के उद्धरण मौजूद हैं। विद्वानों का खयाल है कि संस्कृत भाव संग्रह की रचना

बहुत करके प्राकृत भावसंग्रह के भाशय को लेकर की गई है। ऐसी हालत में उद्धरणों से विद्वानों ने यही फलितार्थ निकाला है कि ये उद्धरण मूल ग्रन्थकार के द्वारा उद्धृत नहीं। हुये हैं। किन्तु किसी स्वाध्यायशील व्यक्ति ने भाव संग्रह की प्रति के हांसिये पर लिख दिये थे जो आगे चल कर प्रतिलिपिकार ने नासमझी से उन्हें मूल के साथ नकल कर दिये हैं। अगर यही बात ठीक है तो वसुनंदिश्रावकाचार की वे विवादास्थ ६ गाथायें भी हांसिये पर से उठ कर मूल में शामिल हो गयीं हों ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता है? इसी से तो उनकी स्थिति भावसंग्रह के प्रकरण से नहीं मिलती है। और जबकि संस्कृत के भाव संग्रह प्राकृतके भावसंग्रह से अनुवादित है और संस्कृतके भावसंग्रह में सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन होते हुये भी उसमें अङ्ग प्रसिद्ध कथाओं का जिकर नहीं है। इससे क्या यह सिद्ध नही होता कि संस्कृत भाव सग्रंह के कर्त्ता वाम देव के वक्त भी प्राकृत के भावसग्रंह में वे ६ गाथायें नहीं थीं। उसमें वे बाद में प्रक्षिप्त हुई है

यहां यह भी जान लेना चाहिये कि सं. १५५८ की लिखित प्रति में यशस्तिलक चम्पू, संस्कृत भावसंग्रह आदि के उद्धरण न होने से इसे ही देवसेन की मूलकृति मानली जाय सो ऐसा भी नहीं है। इस प्रति में भी थोड़े बहुत हांसिये के उद्धरण जरूर मूलमें शामिल हुये हैं। इसके लिये देखिये भाव सग्रंह का ५१६वें नम्बर का दोहा यह दोहा सावयधम्म पुस्तक का है जो अपभ्रंश भाषा में है और यहां बिना किसी उक्तंच के मूल के शामिल हो रक्खा है। सावयधम्म के उद्धरण १६वीं शताब्दि के पहिले के ग्रन्थों में नहीं देखे जाते हैं और उक्त दोहा भावसग्रंह को सम्वत १४८८ की लिखी झालरापाटन की प्रति में भी नहीं है, जबकि अन्य सबही उद्धरण उसमें भी लिखे मिलतेहैं। इत्यादि कारणों से सावधम्मका रचना काल बहुत आधुनिक मालूम होता है।

सर्वथा यह भी न समझना कि भावसंग्रह में सब ही उद्धरण हांसिये पर से ही मूल में शामिल हो गये हैं। बल्कि इनमें से कितने ही उद्धरण मूल ग्रंथकार के द्वारा भी उद्धृत हो सकते हैं। जैसा कि वसुनंदि श्रावकाचार की कई गाथाओं को इसमें उद्धृत मिलने से जाना जा सकता है। इन गाथाओं में से कुछ गाथायें तो ज्यों की त्यों ले ली गई हैं और कुछ गाथायें मामूली हेर फेर करके उद्धृत की हैं। ऐसी गाथाओं की तालिका ज्ञान पीठ से प्रकाशित वसुनंदि श्रावकाचार की प्रस्तावना में देख सकते हैं। हेर फेर की हुई गाथाओं से तो यही निश्चय होता है कि खुद भाव संग्रहकार ने ही वसुनंदि गाथायें अपनाई हैं। "वसुनंदि ने ही भावसंग्रह की गाथाओं को अपनाया हो" ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है। इसके लिये उदाहरण स्वरूप हम एक गाथा पेश करते हैं—

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
तस्स फलेणुववज्जइ सो उत्तयभोयमीसु ॥२४५॥

यह गाथा वसुनंदि श्रावकाचार की है। इसमें लिखा है कि—"जो मिथ्या दृष्टि भद्र (मंदकषायी) पुरुष उत्तमपात्रों को दान देता है उसके फल से वह उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होता है।" इसी गाथा को कुछ रद्दोबदल करके भावसंग्रह में निम्नरूप से लिखी है:

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावई वरभोए फुडु उत्तमभोयभूमीसु ॥४६६॥

वसुनंदि की उक्त गाथा के प्रथम चरण में आये "भद्दो" शब्द की जगह भावसंग्रह में 'पुरिसो' शब्द में तबदीली तो करदी परन्तु पुरिसो शब्द में अर्थ की वह खूबी न आसकी जो भद्दो शब्द में थी। इससे साफ प्रमाणित होता है कि भाव संग्रहकार के द्वारा ही वसुनंदि की गाथाओं में हेरफेर किया गया है।

भावसंग्रह की ऐसी स्थिति को देखते हुए न्यायकुमुदचंद्र के पृष्ठ ८५६ पर "षड्विधो हि आहार: प्रवचने प्रसिद्ध:" वाक्य के साथ "णोकम्मकम्महारो…."गाथा उद्धृत हुई है। वही गाथा भावसग्रह में ११० वें नम्बर पर स्थित है। वह गाथा भी खास भावसंग्रह की नहीं प्रतीत होती है। वह किसी अन्य प्राचीन आगम की जामपड़ती है। और वहीं से प्रभाचंद्र ने न्यायकुमुदचंद्र में उद्धृत की है न कि भावसंग्रह पर से।

"मतना कोई उत्सूत्र कथन हो जाये" इस बात का प्राचीनकाल में बड़ा भय रहता था। इसीसे प्रखरबुद्धिवाले निर्मलप्राचार के धारी कोई बड़े प्राचार्य ही शास्त्र निर्माण का कार्य करते थे। यह नियंत्रण आगे चलकर धीरे धीरे लुप्त होता चला गया, फिर तो वस्त्रधारी भट्टारक ही नहीं गृहस्थी भी इस काम के अधिकारी बन बैठे। प्राय: १३ वीं शताब्दि और उसके बाद में तो साधुओं के शिथिलाचार और श्रावकों के क्रियाकांड को लेकर कतिपय शास्त्रों में जिस स्वच्छंदता से कथन किया गया है उस स्वच्छंदता के दर्शन इस भाव संग्रह में भी होते हैं। ऐसा इसके अध्ययन से सहज ही जाना जा सकता है। एक श्रेष्ठ आचार्य की रचना जैसी व्यवस्थित, सारगर्भित, पुनरुक्ति-पूर्वापर विरुद्धता आदि दोषों से रहित, प्राचीनग्रंथ परंपरा की अनुगामिनी होती है वैसी रचना इस भावसंग्रह की दिखाई नहीं देती है। और तो क्या "भावसंग्रह" इस नाम के अनुरूप औपशमिकादिभावों के लक्षण और उनके उपभेदों के नाम तक भी इसमें नहीं हैं।

इस प्रकार के ऊहापोह से मुझे यह भावसंग्रह प्राकृत ग्रंथ १० वीं शताब्दि में होने वाले देवसेन के द्वारा निर्मित नहीं प्रतीत होता है। किंतु किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा १४ वीं शताब्दि के लगभग का बना जंचता है। मेरे ये विचार कहां तक ठीक हैं इस पर विद्वज्जन ध्यान देंगे।

वास्कोडिगामा द्वारा किये गये उल्लेखों से यह बात पूर्ण रूप से विदित हो जाती है कि, मालाबार प्रान्त के समुद्री किनारे पर उस समय जो बस्ती थी वह न कभी हिंसा करती थी, इतना ही नहीं किन्तु समुद्र के किनारे पर रहने पर भी मांस मच्छी आदि के आहार को निषिद्ध ही मानती थी। इस वस्तु स्थिति से अनुमान होता है कि यह प्रजा जैनधर्मी ही होनी चाहिए, जिसका प्रभाव तमाम प्रजा पर पूर्ण रूप से पड़ा था। इसके उपरांत जैनधर्म के सम्बन्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय के अनेक उल्लेख मि० कोल ब्रुक की डायरी में पाये जाते हैं।

Shri Laxminarain Pathak
S. D. College, Sriganganagar.

Language and Style of Harichandra

Harichandra is one of a few famous Jaina Sanskrit poets who have contributed to Jainology and have exerted their utmost to awaken moral consciousness in society through their literary campositions. In this article the author has discussed the language andstyle of Harichandra.

HARICHANDRA is one of a few famous Jaina Sanskrit poets who have contributed to Jainology and have exerted their utmost to awaken moral consciousness in society through their literary compositions.

We find two works, viz., the Dharmasarmabhyudaya and the Jivandhara Champu to the poet's credit. A drama named "Jivandhara Nataka," the M/s of which has not yet come to light (IA XXXVI, p. 285), is also attributed to the name of Harichandra[1].

Nothing can definitely be told about the place of birth or residence of Harichandra. He gives his personal history at the end of Ds. showing his parentage, the name of his brother Laksmana and the name of his familiy-Nomaka. His father was Ardradeva who was the only son of his parents and his mother's name was Rathya (Ds. Prasasti 1-3). It appears that the poet himself was a follower of the Digambara sect (Ds. Prasasti 4), and the other members of his family (father mother, brother etc.) belonged to

1. There have been many writers by the name of Harichandra in the history of Sanskrit literature between the 1st century A. D. and the 13th centutry A. D. We, at first, find the names Haricandra and Bhattara Harichandra in the Madhukosi commentary of the Madhava Nidana at pages 17 and 20 respectively. Whether these names are of one person is not certain. Again Bana (700 A. D.) mentions one Bhattara Harichandra (vide Harsacharita 1-13). Another Harichandra is also mentioned in the Gaudavaho-800 of Vakpatiraja. After that two Harichandras are referred to by Rajasekhara. (900 A. D.) in his Kavya Mimamnsa Ch. X and Karpura Manjari I Book respectively. But our Harichandra (1120-1250 AD), the writer of Ds.* and Jc.* is quite distinct from other Harichandras as detailed above. Hultzsch also opines that the composer of Ds. is quite different from one Bhattara Harichandra as mentioned by Bana. Nor can he be identified with the physician Harichandra who, perhaps, resided in the court of the king Sahasanka (I A XXXV. p. 268). Ds. stands for Dharmasarmabhyudaya and Jc. for Jivandhara Champu.

some other faith.[1] Being converted to this sect, he might have lived in close contact of some learned Digambara Jaina Acharya under whom he seems to have learnt Sanskrit and Jaina scriptures and acquired the way and power of composing poetry (Ds. Prasasti 4-5). It also appears that his Kavya (Ds. was examined and appreciated by the learned critics of his period (Prasasti 9).

We are here to confine ourselves to the main topics.

Language--Our poet belongs to the decaying days of the ornate age (1120-1220 A. D.) and follows Magha as far as mannerism is concerned. He attaches much importance to both Sabda and Artha[2] for making the poetry more attractive and interesting. This notion corresponds to that of Magha also.[3] The poet was possessed of the poetic genius. He would have put forth the delicacy and gracefulness of the Kalidasan era, had he not been the follower of the above-cited poet (Magha) in the field of mannerism. The poet has shown his dexterity in presenting the Chitra Bandhas (Ds. XIX-78, 84, 86, 94, 98, 99, 101, 102, 104 etc).[4] Verbal exercises particularly abound in this very canto where there are some verses which give one sense if read forward as usual and another sense if read backwards.[5] Thus in one verse the first and third, and the second and fourth lines are identical[6]. In another stanze first and third lines read backwards the same way as second and fourth lines respectively.[7] There is again a verse comprising only one (Ds. XIX 82), two (Ds. XIX 54, 88, 92) and four letters (Ds. XIX 33). There is a stanza that has no labial letters (Ds. XIX 58). We find again a verse which has no palatal letters (Ds. XX 68).

All such verbal feats, though fit for the enjoyment of the learned of the time, present hurdles in understanding the meaning easily thereof. It is, there-

1. The tales and names of of gods, as seen in the Hindu Puranas are referred to by our poet in both the works frequently. This shows the great and abiding impact of Hinduism on his mind. Moreover, he hints at only his having been a Digambara while he leaves other members of his family in mentioning whether they were the followers of the Digambara sect or not (Ds. Prasasti 4).
2. वाणी मवेल्कस्यचिदेव पुण्यै: शब्दार्थ सन्दर्भ विशेष गर्भा । Ds. I-16.
3. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयम् विद्वान् अपेक्षते । SV. II=86.
4. Bharavi (K.XV), Magha (Sv. XIX) and Ratnakara (Hv. XLIII and XLVIII) have also indulged in presenting artificial Bandhas.
5. रागिताजिवरा कापि नेतेनाततामसा ।
   सामताततना तेने पिकारावजिता गिरा ॥ Ds. XIX 45
6. मतस्तमानसे सेना सदाना साखा रणे ।
   मतस्तमानसेसेना सद.नासाखारणे ॥ Ds. XIX 56 ॥
7. मारसार समाकारा राकामा सरसा रमा ।
   सा गता हसना तेन न तेनासहृतागसा ॥ Ds. XIX ॥

fore, evident that Harichandra's language has become somewhat difficult in the XIX canto of the Ds. The reader may get puzzled without a lexicon and commentary on this canto. The poet, no doubt, appears to be acquainted with the literature of lexicography as he has used a good number of obsolete words. Only at a few places he uses the language full of double entendre.[1] His occasional twisting of the language and his attempt at several extremely fantastic metrical devices may be taken as a bit repulsive to the modern reader.

Lastly his fondness for the use of idiomatic and proverbial expressions which are the result of his vast experience and close observation gives an indescribable charm to the language of his works.

Style-According to Sanskrit technical terminology Harichandra's style may be named as Vaidarbhi,[2] though he has, at times, evinced his poetic gifts of descriptive power and word-play[3] due to the literary taste of his period. But in view of his having presented the language of both the works in a simple and intelligible manner on the whole, we have to call it Vaidarbhi. No doubt, chronologically the poet does belong to the last and decaying days of the period of Sanskrit poetry when the high flowing ornate style was in vogue. It is, therefore, remarkable to note the simple way of the presentation of his poetic genius. He probably had in mind a special zeal for preaching the Jaina tenets among the public of his days and adopted the Vaidarbhi style when the Gaudi preponderated the literary field. He has, perhaps, hinted at the fact of taking to the Vaidarbhi that might have been opposed and criticised by the followers of the Gaudi style.[4]

Harichandra chiefly delights in the figure of speech-the Utpreksa[5]. If the reader once becomes acquainted with the partiality of the poet for this figure, he can understand him more easily.

He has been able to present original ideas in most of his Utpreksas (Jc. I-18, 55, 61, II-7, Ds. V-3, 6, 7, 11, X-10, 16, 29, XIV-1, 16,82, 83). Occasionally he

---

1. Vide Ds. I-10, 26, 29, 44, 57, 72, II, 19, 25, 33, III, 53, 59, XIV, 2, 4, XVII 45 etc.
2. Visvanatha defines the Vaidarbhi style as follows :—

   माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
   अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ S.D. IX, २. ३.

3. Vide Ds. XIX canto.
4. Vide Ds. XIX-10.
5. The examples are too numerous to be quoted here. However, note the following:— Ds. 1-3, 32, 39, 40, 43, 45, II-5,14,17, III-5, 6, 38, V-3, 6, 7, 10, VI-3, 36, 42, VII-7, 11,13, 24, 25, 36, VIII-10, 14, 17, IX-9, 18, X-16, 25, XI-3,26, XII-17, 47. XIII-14, 15, 19, XIV-2, 15, XV-5, 12, XVI-11, 39, XVII-17, 27, 36, XX-79. Jc. I-13, 15, 18, 20, II-7, III-4, 5, 15, IV-11, V-4, 9, VI-2, 4, 5, VII-44, VIII-39, 63, IX-11, 58, 102, XI-47 etc.
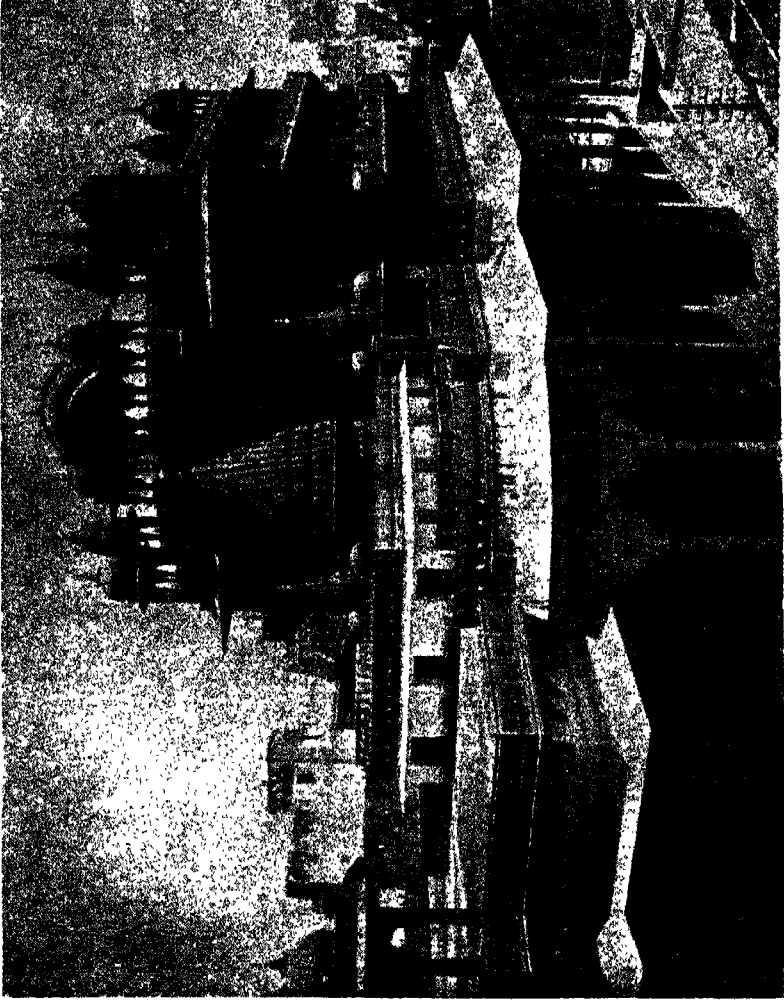
जैन नसिया, लाल मन्दिर, अजमेर

presents very fine Utpreksas (Ds. IV-15, 92, VII-42, XVII-64). But sometimes he indulges in artificiality (Ds. XI-27, 33, XIII-3, 4 etc.) His fondness for the excessive use of the Utpreksas has led a scholar to name him as Utpreksa Kavi, who surpasses even Magha in the field of this figure.[1]

The next important figure is the Upama. He shows his keen interest in different varieties of the simile. Learned simile (Ds. II-62, III-9, 19, 74, V-57, 70, IX-48, XV-43, [XVII-55, Jc. I-9). Similes based on general observations of nature and life (Ds. II-73, III-7, 45, 71, V-23, 35, 49, IX-7 etc.), Malopama-(Ds. II-79, V-82,86, XV-2, Jc. I-27, 58, 89, III-29, V-37, 41 etc.) Sensual simile (Ds. IV-13, VII-53), Abstract simile (Ds. V-70, VI-16, VII-1, 68, IX-76, XII-32 Jc. I-22. 49, 101 etc.) are noteworthy.

Many examples of Metaphors are also found in the works of the poet (Ds. I-4, II-64, 68, III-67, 69, XII-59, XIII-21, XV-17, XVI-43, Jc. 1-6, 41, 43, 99, II-1, 3, 8, 16, 21, III-18, 31, 42, 56, 57, 60, 62, IV-33, 35, V-19, 42, VI-2, 7, 31, 36, VIII-35, 36, X-58, 113, 120, etc.) are undoubtedly praiseworthy. Complicated Metaphors (Ds. XIV-20, 21, XV-45 , 48, 50, 51, 53, XX-11, 29) and simple Metaphors (Ds. XIV-18, 53, 61, etc.) are also very common.

It must be noted, however, that Harichandra is not so fond of Alliteration[2] as he is interested in the Yamaka.[3]

Of other figures of speech he has used Virodhahbasa (Apparent contradication) Jc. 1-3, 13, II-27, V-35, VI-26, X-50, XI-6, Ds. XVII-33, 45 etc.) Bhrantimana (Errors) (Jc. I-15, 17, 103, III-8, 9, 10, IV-9, VIII-34, XI-3, Ds. VII-31, VIII-3,), Udattalankara (The Exalted) (Jc. I-14), Vyatireka (Dissimilitude) Jc. I-19, III-31, Ds. I-32, 83, Samsayalankara (Jc. III-68, 69, V-43, VI-48, etc., Sahokti (Connected description) (Jc. I-21, 56, 59, 60, V-5, VII-20, Ds. XII-34.)

Apahnuti (Concealment) (Jc. I-24, VI-37, VII-24, Atisayokti (Hyperbole) (Jc. I-25, Ds. II-29, Svabhavokti (Natural description) (Jc. I-47, IV-8, Ds. VII-45, 59, Arthantaranyasa (Corroboration) (Jc. I-57, 91, III-5, 9, 22, VI-9. VII-3, VIII-5, Ds. VII-61, XIV-12, Dipaka (Illuminator) (Jc. I-34, Ds. XI-42, Tadguna (Borrower) (Jc. II-10, VII-45 XI-3, Kavyalinga (Poetical cause) (Jc. IV-10,) Asangati (Disconnection) (Jc. IV-39,) Parisamkhya (Special mention) (Jc. VI-28, Sandeha (Doubt) (Jc. VII-22, Ds. XVII-101), Samuccaya (Conjunction) (Jc. VII-36), Yatha Samkhya (Relative order) (Jc. VII-38, Vikalpa (Alternative) (Jc. VIII-30), Nidarsana (Illustration) (Jc. XI-28), Slesa (Paranomasia) (Jc. I-20, 23, 59, III-31, 67, V-31 VI-42, VII-41, VIII-29, Ds. 1-10, 23, 26, VII-27, etc., Drstanta (Exemplification) (Ds. VII-54, VIII-49, Pratipa (Converse) (Ds. VIII-55), Prativastupama (Typical comparison) (Ds. XIV-28, XV-25, XVIII-12,

1. Vide Prastavana to Jc. p. 41.
2. Only a few instances of Anuprasa are found. For examples Ds. XIX-34, 38, 48, 84 etc.
3. Most of the stanzas of Ds XIX may be taken as examples of this figure.

etc. have also been used by the poet.

Some stanzas and passages of both the works appear to be hinting at the dexterity of his being an adept in the art of conversation and dramaturgy. The stanzas Ds. III-49-60, 62-73 lend to the poem a conversational mantle where the King Mahasena and the sage Pracetasa exchange their views. Similarly the dialogues (Ds. IV 63-75) between the Minister and the king also point to the same element. The stanzas Ds. V-25, 26, 27-35, XV-8-11, 13, 15, 22, XVI-77-82, XVIII-14-43 XIX-5-43, Jc. I - 49 - 54, 94, II-4, III-11-26, IV-31, VII-29-38. VIII-2-9 -13, 24, 32. 44, etc. show him as a good conversationalist and go a long way to prove that he is more or less interested in dramaturgy also. We find some verses Jc. VIII-13, 45, X-32, 37, 85, 86, 100, XI-48, Ds. XV-22, 50, etc. that are very significant from colloquial point of view.

Harichandra's vocabulary is quite extensive and he is not afraid of using some obscure words. Some pet words and verbs occur again and again. He makes use of the verb BHA at many places Ds. I-40, 48, 49, 52, 54, 64, 66, 86, II-7, III-15, 26, IV-21, VIII-8 (Jc. I-47, III-29, 52 etc). Similarly the form Cakasti has been used by the poet more than once (Ds. I-33, 39 63, Jc. III-17 etc.). He is fond of Pronoun Compounds (Ds. I-2, 4, 5, 6, 7, 11, 41, 47, 81, II-53, 54, 67, 72, III-26, 49, XV-17, Jc. II-18, etc.) and Avyayibhhava (Ds. XIII-16, 18, 29, 35).

"Jainism is one of the great religions of the East which has moulded the lives of countless people to a higher plane of mental discipline and purity of thought. I am much attracted by the teachings of Lord Mahavir."

Ahmed Ali
Former Dy. High Commissioner
Pakistan.

जवाहिरलाल जैन

महावीर का सर्वोदय तीर्थ

अपने भौतिक जीवन की सुख सुविधाओं से जिन्हें संतोष नहीं होता, उससे आगे बढ़कर जीवन के उद्देश्य की जो खोज करना चाहते हैं, उनके सूक्ष्म तत्व को जानना चाहते हैं मानव और विश्व के रहस्य को समझना चाहते हैं, मानव की पीड़ा तथा उसके निवारण की उत्कण्ठा जिन्हें बेचैन किये रहती है, ऐसे महापुरुष ही साधना के कठिन पथ पर अग्रसर होते हैं। यह पथ दो प्रकार का है। एक तत्कालीन पंथों के अन्तर्गत रह कर ईश्वर साक्षात्कार, आत्मसिद्धि आदि का प्रयत्न और दूसरा तत्कालीन पंथों का बन्धन तोड़कर सत्य की शोध में नये मार्ग की खोज, प्राप्ति और लोगों को उस नये मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न। इस देश में पहला मार्ग वैदिक संस्कृति का रहा है और दूसरा मार्ग श्रमण-संस्कृति का। पहले मार्ग में नये साधकों ने वेद-प्रामाण्य मान्य करते हुए नये मार्ग खोजे और वे वैदिक विचारधारा से कितने भी दूर रहे हों, पर वे वैदिकधर्म के अंग स्वीकार कर लिये गये और जिन्होंने वेद-प्रामाण्य अस्वीकार किया, वे वैदिक धर्म-विचार से कितने भी निकट रहे हों, उन्हें अलग मार्ग निश्चित करना पड़ा। वे अलग सिद्धांत के प्रतिपादक हुए और बाद में वे नये धर्म में संस्थापक हो गये। वर्द्धमान महावीर और गौतमबुद्ध इस दूसरी परम्परा में थे। यद्यपि गौतम बुद्ध की भांति वर्द्धमान महावीर ने अपने आपको बिल्कुल ही नये मार्ग का यात्री नहीं माना, उन्होंने ऋषभदेव और पार्श्वनाथ को अपना मार्गदर्शक स्वीकार किया। लेकिन नये तीर्थ की स्थापना ही इस बात का सूचक है कि वर्तमान जैन धर्म बहुत कुछ उनकी मौलिक खोज, चिन्तन, आचरण, नियम और संगठन का परिणाम है।

महावीर ने सृष्टि की रचना, पालन और संहार करने वाले सर्व शक्तिमान् ईश्वर को नहीं माना, जो शत्रु का

> महावीर ने कर्म-सिद्धान्त, अनेकांत और रत्नत्रय—इन तीन तत्वों पर धर्म, दर्शन और समाज को आधारित किया है और इससे उन्होंने निश्चय ही इस विश्व में ऐसे सर्वोदय तीर्थ की प्रतिष्ठा की है जो देश और काल की अवधि से परे है।

सर्वनाश करने वाला और भक्तों को तुरन्त सर्व सिद्धि प्रदान कर देने वाला है, बल्कि इसके बजाय उन्होंने सर्वोपरि स्थान कर्मसिद्धान्त को दिया, जिसके अनुसार प्रत्येक चेतना युक्त प्राणी में सम्मान तथा सर्वशक्ति संपन्न आत्मा है, जिस पर उसके अपने किए हुए कर्मों का आवरण छाया हुआ है और उसे अपने पुरुषार्थ से ही हटाया जा सकता है। उसे हटाकर प्रत्येक प्राणी स्वयं सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर बन सकता है। यह सिद्धान्त एक बारगी ही ऊंच-नीच, छोटे-बड़े धनी-निर्धन, जात-पांत, देश-विदेश, स्त्री-पुरुष, इन सब भेदों को दूर हटाकर सबके लिए मुक्ति का मार्ग खोल देता है। यही नहीं यह तो केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी के लिए भी साधना का मार्ग प्रशस्त कर देता है और उनके साथ भी मनुष्य का भाईचारा कायम करने पर जोर देता है। यह जैन समाज की धर्म-विडंबना ही है कि आज उसमें भी छुआछूत, जात-पांत, आर्य-म्लेच्छ, पुरुष-स्त्री की तथाकथित उच्चता और हीनता के आधार पर भेद-भाव और धार्मिक अधिकारों की न्यूनाधिकता भी यहां तक घुस गई है कि भगवान् महावीर की मूर्ति के दर्शन तक भी तथाकथित नीची जाति के लोगों के लिए बन्द हैं। इस सारी विकृति का जैन धर्म और दर्शन से कोई

सम्बन्ध नहीं है, यह परिस्थिति इस धर्म के अनुयायियों में साम्प्रदायिकता के प्रवेश के बाद सत्ता और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए अपने चारों ओर के समाज के अन्धे अनुकरण से पैदा हुई और बढ़ी है।

कर्म-सिद्धान्त भौतिक जगत के वैज्ञानिक सिद्धान्त-कारण-कार्य सिद्धान्त को आत्मा के क्षेत्र में ले जाता है और मानव के सुख-दुःख का अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। यह अपने पुरुषार्थ के मूल आधार पर प्रत्येक के और सबके उदय का सिद्धान्त है।

जैन धर्म का दूसरा सिद्धान्त अनेकांत का है। यह भी अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। यह विश्व अत्यन्त-जटिल और रहस्यपूर्ण है। आत्मा का ज्ञान भी बहुत गहरा और कठिन है। सामान्य मनुष्य इनके एक पहलू को ही सामान्यतः समझ और जान सकता है इसलिए मानव जो कुछ प्रतिपादन करता है, उसे सही तरह से समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि वह प्रतिपादन किस दृष्टिकोण से, किस परिस्थिति में किया गया है, तभी उसका ठीक से मूल्यांकन किया जा सकता है। मानव का सारा दर्शन सापेक्ष है क्योंकि प्रत्येक मानव अपने युग और परिस्थिति से प्रभावित है। लेकिन मनुष्य केवल परिस्थितियों का ही दास हो और उन्हीं से पूर्णतया अभिभूत हो जाता हो, यह भी सही नहीं है, क्योंकि मनुष्य परिस्थितियों का और युग का निर्माण भी करता है, अतः परिवर्तन के साथ-साथ विश्व में तथा मानव से कुछ मूलध्रौव्य तत्व भी है। इस प्रकार जैन दर्शन पुरुषार्थ और परिस्थिति या भाग्य का समन्वय करता है। अनेकान्त का सिद्धान्त सारे विश्व के विचार को जैन धर्म की महान् देन है। यह सर्वोदय की दृष्टि सबके विभिन्न विचारों को समझने, उनमें से मूल तत्व को खोज निकालने, गौण तत्वों के मतभेद पर वजन न देने और सबको समान आत्म तत्व के आधार पर स्नेह तथा सम्मान के द्वारा साथ ले लेने की दृष्टि को समर्थन और बल देने वाला है।

जैन धर्म की तीसरी देन तीन रत्न या रत्नत्रय का सिद्धान्त है। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः'-उमास्वामि का यह महान् सूत्र विश्व में मानव-मुक्ति के सारे सम्भव प्रयत्नों का समन्वय करने वाला है। दुनियां के विभिन्न पंथो में से किसी ने भक्ति और आत्म-समर्पण पर जोर दिया है जैसे इस्लाम ने। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में गीता में श्री कृष्ण ने कहा है:—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमा शुचः ॥

इसके विपरीत कुछ पंथ जैसे वेदांत, सांख्य आदि ज्ञान पर ही जोर देते हैं और कुछ पंथ जैसे मीमांसा आदि कर्म या आचार-व्यवहार पर ही बल देते हैं और कहते हैं कि इसी से मानव का उद्धार सम्भव है, लेकिन महावीर का कथन है कि यह तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग बनते हैं। इसमें जहां तीनों रत्नों—महान् तत्वों का समन्वय है, वहां इन तीनों की महत्ता की स्वीकृति भी है। यह मानव और मानव-समाज के सर्वाङ्गीण विकास और प्रगति के लिए अनिवार्यत. आवश्यक इस महान् सत्य का सूचक भी है कि मानवीय प्रगति श्रद्धा, ज्ञान और आचरण-व्यवहार, इन तीनों से मिलकर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।

हमारा मानना है कि महावीर ने कर्म-सिद्धान्त, अनेकांत और रत्नत्रय—इन तीन तत्वों पर धर्म, दर्शन और समाज को आधारित किया है और इससे उन्होंने निश्चय ही इस विश्व में ऐसे सर्वोदय तीर्थ की प्रतिष्ठा की है जो देश और काल की अवधि से परे हैं। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र का यह कथन कि महावीर का सर्वोदय तीर्थ अनादि और अनन्त है—सर्वोदय तीर्थ मनाद्यनंतं—यह देश और काल की दृष्टि से किसी सीमित और संकुचित विचार का द्योतक नहीं है, बल्कि व्यापकतम दृष्टि से उसमें मानव और मानव-समाज के कल्याण का चिरंतन सन्देश है।

काका कालेलकर

विश्व-अशान्ति का एकमात्र उपाय-महावीर के धर्म की साधना

मैं जब कभी महावीर या महावीर के धर्म की प्रशंसा करता हूं तो लोग पूछते हैं तुम तो जाति के ब्राह्मण हो, वैदिक परम्परा को मानते हो—फिर महावीर जयन्ती पर क्यों आ गये ? तो मैं कहता हूं कि आस्तिकता की पराकाष्ठा महावीर में थी। वैदिक परम्परा यह है कि जो वेद को न माने वह नास्तिक है। किन्तु मुझे यह निश्चय हो चुका है कि वेद तो ग्रंथ है, शास्त्र नहीं। मैं किसी भी सिद्धांत के मामले में शास्त्र को प्रमाण मान सकता हूं, ग्रंथ को नहीं। ग्रंथ के अंदर जो सत्य है उसे मानता हूं। ऐसा ही ईश्वर को मानना न मानना आस्तिकता की पूर्णता नहीं है। मानने न मानने का प्रश्न तो बड़ा गौण है। प्रश्न तो आचरण का है। मैं तो यह कहता हूं कि जो अपने हृदय पर विश्वास रखे व आत्म प्रेरणा से कार्य करे वह आस्तिक और जो न रखे वह नास्तिक।

मैं महावीर को परम आस्तिक मानता हूं। महावीर ने मनुष्य जाति ही नहीं प्राणी मात्र के विकास और निर्माण का माध्यम अहिंसा मानी थी किन्तु उसका प्रारम्भ उनने क्रमवार किया स्वयं से शुरु कर कुटुम्ब जाति समाज राष्ट्र और विश्व पर। इस तरह उनके हृदय की बात कर्म द्वारा जग पर छा गई। उनके हृदय में यह आत्मीयता जागी कि प्राणी मात्र का कल्याण होना चाहिए। उनकी श्रद्धा इतनी जाग्रत थी कि उस मन के आदर्श को विश्व के सामने रख वे विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

मैं महावीर को परम आस्तिक मानता हूं। महावीर ने मनुष्य जाति ही नहीं प्राणी मात्र के विकास और निर्माण का माध्यम अहिंसा मानी थी किन्तु उसका प्रारम्भ उनने क्रमवार किया। स्वयं से शुरु कर कुटुम्ब, जाति समाज राष्ट्र और विश्व पर। इस तरह उनके हृदय की बात कर्म द्वारा जग पर छा गई। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने इस बात पर जोर दिया है कि महावीर के उपदेशों को हृदय में उतारा जाय।

महावीर ऐसे जमाने में हुए थे कि मनुष्य मनुष्य के रक्त का प्यासा था। उसने अहिंसा का जो आदर्श कर्म द्वारा उपस्थित किया वह न केवल उनके युग के लिए वरन् युग युग के लिए था। अतः उनने श्रद्धा को प्राणी मात्र तक फैलाया। वे भविष्य द्रष्टा थे। वे जानते थे कि आगामी हजारों वर्षों में अहिंसा कहां तक पहुंचेगी। और यह सही भी है कि उनकी बुनियाद से ही विश्व शांति और कल्याण होने को है। महावीर ने हृदय की आवाज पर श्रद्धामय बन यह जो किया वे आस्तिकता की पूर्ति के नाते सदैव मेरी आंखों में रहते हैं।

उनकी बुनियाद थी—अहिंसा मनुष्य का स्वभाव है। अहिंसा को सिद्ध करने का रास्ता तप है, उनने यही किया।

प्राज की दुनियां में भी जब गांधी ने यह देखा कि सत्य ही ईश्वर है तो उनने स्वयं सत्य का तप तपा और फिर राष्ट्र निर्माण का यज्ञ प्रारम्भ किया।

सभी धर्मकारों ने अहिंसा और तप को प्रधानता दी। मन पर काबू करना, वासना मारना, लोभ काम क्रोध शत्रुओं पर विजय तप है। यह कर लेने से अहिंसा मन में प्रतिष्ठित होगी। यह धर्म महावीर का धर्म है। वे जानते थे कि मनुष्य अल्पज्ञ और कमजोर है अतः उसने अहिंसा और तप के लिए भी सीढ़ियां बनाई—व्यवहार धर्म की बात कही। किन्तु हमने मूल को छोड़ दिया, गौण को पकड़ लिया—जैनियों से मेरी खास शिकायत है। आज हम छोटी छोटी बातों में हिंसा की दुहाई दे बचते हैं किन्तु शोषण (Exploitation) समाज खुल कर करती है। जैन समाज के जीवन में यह द्वैत आखिर क्यों? "बैंक बेलेन्स" बढ़ाने का धर्म आज महावीर की समाज भी करती है। अमेरिका में बैंकर्स सबसे अधिक दयालु और अहिंसक कहे जाते हैं किन्तु वहां के सब से बड़े धनी भी वे ही हैं। तो अहिंसा परायण हो, शोषण द्वारा सबसे बड़ी हिंसा करना यह तो महावीर के आदर्शानुयायियों का धर्म नहीं।

ऐसे धनिक लोग दान का सहारा ले बरी हो जाते हैं, वे सोचते हैं कि लूट कर कमाओ, दान कर देंगे, धर्म भी कमा लेंगे। किन्तु यह गलत है। दान तो परिग्रह से छुड़ा अपरिग्रही बन त्याग सीखने का मार्ग भर है। दान केवल ज्ञान—निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता। लोग इस तरह मूल छोड़ गौण को पकड़ लेते हैं।

किन्तु अब गरीबों का भगवान जाग्रत हुआ है। अब वे किसी को धनी नहीं होने देंगे, अंग्रेज बुद्धिमान थे कि उनने इस जाग्रति को पहचाना और अपना सर सलामत कर लिया। देशी राजों ने भी बुद्धिमानी कर अपना सर सलामत कर लिया। और यह सब अहिंसक क्रांति से आरम्भ हुआ। अब पूंजीवाद का नम्बर है। पूंजीपतियों को भी यदि सिर सलामत रखना है तो वे शोषण छोड़ें। आज तो समाज का धर्म है कि वह यह हृदय से माने कि सबके कल्याण में हमारा कल्याण है और मानव समाज एक है। मैं धन न कमाने की बात नहीं कहता किन्तु हृदय परिवर्तन की बात करता हूं। यदि आज हृदय बदल यों बन जाये कि चीन, अमेरिका, इंगलैण्ड और सारे विश्व के लोग मेरे भाई हैं तो विश्व युद्ध न हो। हमारी मान्यता अलग अलग हो कोई बात नहीं। किन्तु साम्प्रदायिकता का ख्याल क्यों? श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी मन्दिर मार्गी यह पन्थ क्यों? ऐसी भेद की दीवार क्यों खड़ी की जाती है?

मुझे आश्चर्य होता है जब जैन समाज जो अनेकांत और समन्वय की दृष्टि रखता है, स्वयं छोटे छोटे पचड़ों में पड़ जाता है। महावीर का धर्म तो नास्तिक, हिंसक, दुराचारी सब मेरे भाई हैं—यहां से शुरु होता है। समता भाव उसका मूल है। तो मैं तो कहता हूं कि जैन समाज को पन्थ और सम्प्रदाय छोड़ अपने आपको जैन ही कहना चाहिए और तब वे महावीर के धर्म को प्रसारित करने में सफल हो सकेंगे। भेद बुद्धि को तो छोड़ ही देना होगा। अभेद अहिंसा को हृदय और साधना में उतारना होगा। हम अगर दूसरों के दोष देखने लगें तो स्वयं के दोषों को नहीं देख पायेंगे। मनुष्य में तो दोष अधिक हैं। अतः यदि उनका बहिष्कार शुरू कर देंगे तो स्वयं बहिष्कृत हो जायेंगे। अतः हम अपने दोष देखकर दूर करने का प्रयत्न करें। बिना क्षमा के चश्मे के दुनियां को न देखें। तभी प्रगति हो सकेगी। अहिंसा की शर्त है क्षमा, संयम, तप, सत्य। यदि यह नहीं है तो हम अहिंसक हो ही नहीं सकते।

और दूसरी बात है श्रम। बिना श्रम किये हम अहिंसक हो ही नहीं सकते। जीवन के लिए जितने भी उद्योगों की आवश्यकता है वह सब हमें करना चाहिए। दूसरों पर जीना तो शोषण याने हिंसा होगी। गांधीजी ने बुनियादी तालीम में जो सिद्धांत रखे वह मूलतः अहिंसक नव समाज निर्माण के मूल तत्व हैं। अभी जो राऊ में सर्वोदय सम्मेलन हुआ था यदि इसका यह नाम करण न होता तो मैं इसे ही "महावीर जयन्ती" नाम दे देता क्योंकि वहां हमने अहिंसा की स्थापना कैसे हो इसके सिवा

दूसरा प्रश्न ही नहीं सोचा। मैं तो अहिंसा के प्रसारक महात्मा गांधीजी को महावीर का अवतार मानता हूं।

अहिंसा की साधना में जो कठिनाई होती है वह यही कि आत्मा एक तरफ और शरीर के स्वार्थ वासना आदि दूसरी ओर खेंचातानी करते हैं। शरीर अपना पहले सोचता है और आत्मा दूसरों का ध्यान पहले रखता है। आदमी दूसरों के हित का पहले सोचते ही धार्मिक बन जाता है।

भूख लगने पर खाना यह तो पाप और चोरी है किन्तु स्वयं को भूख लगते ही आत्मा में यह ख्याल आता कि और भी कोई भूखा होगा उसे पहले दिया जाये, यही धर्म है। इस तरह जड़ चेतना में जो शाश्वत संघर्ष चलता है उसमें आत्मा को विजयी बनाना यही तप, त्याग और अहिंसा है।

———

(१) जैनियों के अहिंसा तत्व की प्रशंसा में निम्न महानुभाव ने लिखा है कि इसका प्रभाव अजैनों पर पड़ा है जैनियों के उद्योग से बहुत सी पशुबलि बन्द हुई है।

(२) उनका (जैनों का) साहित्य तो बहुत ही गम्भीर और देखने योग्य है।

(३) जैन कवियों ने हिन्दू व मुसलमान राजाओं के साथ बहुत काम किया है।

(४) बड़े साहित्य भण्डार के स्थापित करने वाले जैन लोग हैं।

(५) उन्होंने कथा ग्रन्थ भी बहुत बढ़िया लिखे हैं।

(६) भारतीय सभ्यता का इतिहास लिखने के लिये जैन कथाएं बहुत ही अमूल्य कारण हैं।

(७) जैन कथाओं में नीति व धर्म का स्पष्ट उपदेश है।

(८) जैन कथायें लोगों के प्राचीन दशा को बताने के लिए बौद्ध कथाओं की अपेक्षा बहुत अधिक विश्वास युक्त उपाय हैं

(९) जैन कथा साहित्य का प्रकाशन बहुत आवश्यक है।

—मि० जष्टन हर्टन, जर्मनी

कीर्तिचन्द्र रांवका
जैन दर्शनाचार्य

संत तारण-तरण और उनका तारण पंथ

भारत को अनेकानेक संतों के उत्पन्न करने का श्रेय है। सच कहा जाय तो यह सन्तों का देश है। तारण पंथ के प्रवर्तक महात्मा तारण तरण भी इसी देश को अपने पावन जन्म से अलंकृत कर चुके हैं। उनका जन्म मगसिर सुदि ७ विक्रम संवत १५०५ में बुन्देल खण्ड के पुष्पावती नामक ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि उनके पिता का नाम गढ़ासाहू और माता का नाम वीर श्री देवी था। यह पता नहीं चलता कि उनका जन्म नाम क्या था। आज तो वे हमारे सामने संत तारण तरण के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

वे जैन परिवार में जन्मे और जैन शास्त्रों का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया। कबीर आदि संतों की तरह वे भी क्रांतिकारी थे। जैन समाज उस समय अनेक प्रकार के निर्जीव क्रिया काण्डों से आक्रान्त था, अन्ध विश्वासों का बोल बाला था और उसे नाना विध गंदगियों ने दूषित कर रक्खा था। संत तारण तरण चाहते थे कि मानव समाज धर्म का वास्तविक स्वरूप समझे। बाह्य क्रिया काण्ड उसका उद्धार नहीं कर सकते। वे तो उसे बर्बाद कर रहे हैं। वास्तविक धर्म उसे मिलता नहीं और जो मिलता है धर्म का कोरा पाखण्ड है। यह स्थिति बड़ी चिन्तनीय थी। संत तारण तरण इसमें क्रांति करना चाहते थे। उनकी यह क्रांति सफल हुई और उन्होंने एक नये पन्थ को जन्म दिया जो आज तारण पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। जिस तरह श्वेताम्बर संप्रदाय में गलत परंपरा और शिथिलाचार से वेदनाभि भूत होकर श्रीलोंकाशाह ने स्थानक वासी संप्रदाय की और फिर उसमें से आचार्य भीखड़ जी ने तेरापंथी संप्रदाय की स्थापना की उसी तरह श्री तारण स्वामी ने दिगम्बर संप्रदाय में से तारण पंथ को जन्म दिया।

> संत तारण आज हमारे बीच नहीं हैं, पर इसमें कोई शक नहीं कि उनकी अमर आत्मा आज भी हमें सत्य के दर्शन की ओर आकृष्ट कर रही है। संत सूर्य की तरह सब ओर अपना प्रकाश फैलाते हैं। उनमें सांप्रदायिकता नहीं होती। जाति एवं कुल आदि का अभिमान भी उन्हें नहीं होता। वे अहिंसा की वाणी में बोलते हैं और अहिंसा ही उनकी साधना होती है। कोई भी उनकी छत्र छाया में आकर अपना कल्याण कर सकता है।

तारण स्वामी मूर्ति पूजा के विरोधी थे। फिर भी मंदिरों की आवश्यकता समझते थे। वे मंदिरों में प्रतिमा नहीं अपितु शास्त्रों की स्थापना करते थे और शास्त्र ही उनके आराध्य थे। उन्होंने सब मिला कर चौदह शास्त्रों का निर्माण किया। उनका सारा साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक में शास्त्रीय ज्ञान की व्याख्या और दूसरे में निष्कलंक आत्मानुभूति का विवेचन था। इन ग्रंथों में नौ हजार श्लोक और एक लाख सूत्र हैं। आत्मा के विषय में उनका गहन विवेचन वास्तव में पढ़ने योग्य है। तारण स्वामी के कुछ ग्रंथों का सम्पादन स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने किया है।
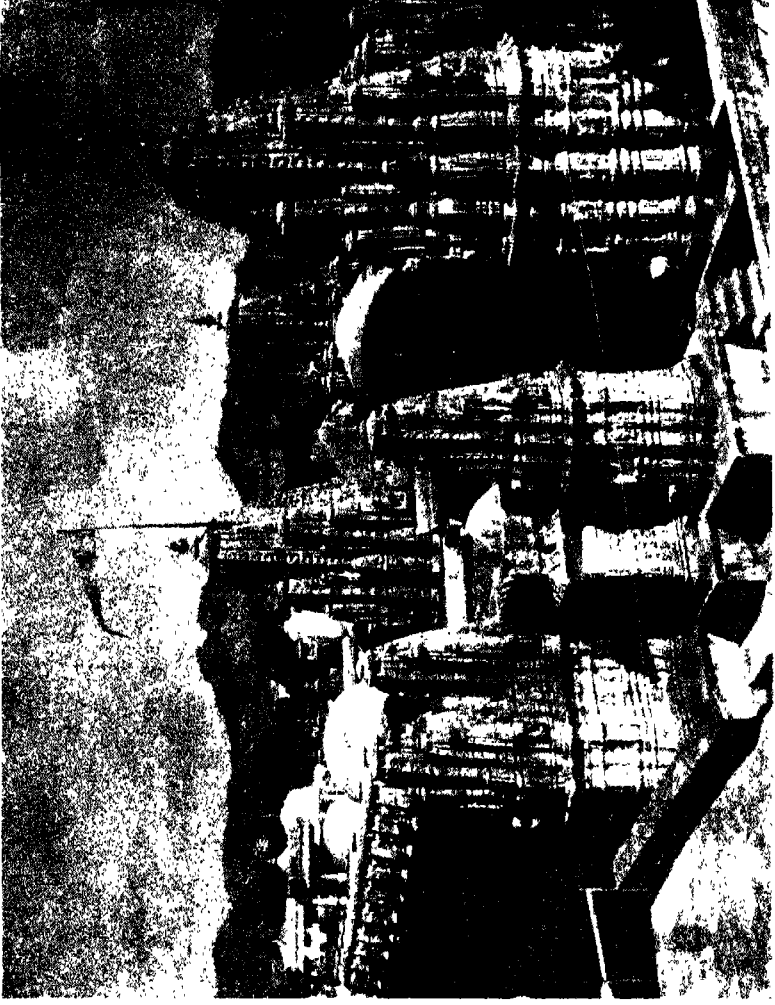
केसरियानाथजी का जैन मन्दिर, उदयपुर

इस पंथ के मानने वालों कीसंख्या सब मिलाकर करीब चालीस हजार है और इसके अनुयायी प्राय: बुंदेल खण्ड में ही मिलते हैं इनमें कई प्रसिद्ध व्यापारी हैं और बड़ी धार्मिक आस्था वाले सज्जन हैं। कई प्रतिष्ठित विद्वान इस धर्म के अनुयायी हैं। संत तारण का संभवत कोई भी ग्रंथ संस्कृत या प्राकृत आदि भाषाओं में नहीं है। उनके ग्रंथों की भाषा उस समय की शायद लोक भाषा है। वह व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई नहीं है। जरूरत है कि उनके शास्त्रों का प्रचार हो। संत तारण हमारे देश की महान् विभूति थे। उनकी क्रांति सत्य के लिए थी। उन्होंने इस क्रांति द्वारा जगत के लिए सत्यं शिवं सुन्दरम् का पथ प्रदर्शन किया।

सन्त सत्य द्रष्टा और सत्य प्रचारक होते हैं। जन मानस में सत्य दृष्टि को अंकित करने के लिए यद्यपि उन्हें नाना विघ्न बाधाओं और यातनाओं का सामना करना पड़ा, किन्तु वे ऐसी चीजों की बिना परवाह किये अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए सतत आगे बढ़ते रहे थे। प्रत्येक देश में ऐसे सन्त हुए है जिन्हें जगत का वातावरण स्वस्थ बनाने के महान प्रयासों में लोक निंदा भर्त्सना और तर्जना सहनी पडी किन्तु इन तुच्छताओं पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया और वे अन्त में सफल हुए संत तारण के क्रांति पथ में भी अनेक विघ्न आये होंगे पर वे उनकी अनवरत महान साधना में स्वत: ही विलीन हो गये।

संत तारण आज हमारे बीच नहीं हैं, पर इस में कोई शक नहीं कि उनकी अमर आत्मा आज भी हमें सत्य के दर्शन की ओर आकृष्ट कर रही है। संत सूर्य की तरह सब ओर अपना प्रकाश फैलाते है। उनमें सांप्रदायिकता नहीं होती। जाति एवं कुल आदि का अभिमान भी उन्हें नहीं होता। वे अहिंसा की वाणी में बोलते हैं और अहिंसा ही उनकी साधना होती है। कोई भी उनकी छत्र छाया में आकर अपना कल्याण कर सकता है।

तारण स्वामी का जीवन अधिक लंबा नहीं था। वे संवत १५७२ में दिवंगत हो गये। जहां वे देह मुक्त हुए थे वह स्थान आज तीर्थ बन गया है। यह तीर्थ स्थान (मल्हार गढ़) बीना (मध्यप्रदेश) से ६ मील की दूरी पर है। वहां उनके स्मारक स्वरूप एक समाधि स्थल भी बना हुआ है। उनकी समाधि के आसपास उनके हिन्दू मुसलमान और हरिजन शिष्यों की भी समाधियां बनी हुई हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका जीवन दर्शन आज भी मानव मन को प्रेरणा दे रहा है।

रतनलाल कटारिया

तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण : एक अध्ययन

चौबीस तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण-रंग शास्त्रों में निम्न प्रकार बताया है:—

१—"तिलोय पण्णत्ती" अधिकार ४

चन्द यह पुप्फदंता कुन्दुन्दुमार हार संकासा।
हरिदा सुपास पासा सुव्वय णेमी सणील वण्णाओ ॥५८८॥
विद्दुम समाणदेहा पउमप्पह वासु पुज्ज जिण णाहा।
सेसाण जिणवराणं काया चामीयरा यारा ॥५८९॥

२—'पउम चरिय' (विमल सूरि कृत) पर्व २०

चन्दाभो चन्द निभो बीओ पुण पुप्फदंत जिण वसभो।
कुसुम पियगु सवण्णो हवइ सु पासो विगय मोहो ॥५४॥
वर तरुण सालि वण्णो पासो णागिंद संथुओ भयवं।
पउमाभो पउमनिभो वसु पुज्जो किंसुय सवण्णो ॥५५॥
अंजन गिरि सरिस निभो हवइ य मुणि सुव्वओ नियस णाहो।
वर हिण कंठावयवो नेमि जिणो जाय वाण्णदो ॥५६॥
निद्धन्त कणय वण्णा सेसा तित्थंकरा समक्खाय ॥५७॥

३—'पद्म चरित' (रविषेणाचार्य कृत) सर्ग २०

चन्द्राभश्चन्द्र संकाशः पुष्पदंतश्च कीर्तितः।
प्रियंगु मंजरी वर्णः सुपार्श्वो जिन सत्तमः ॥६३॥
अपक्व शालि संकाशः पार्श्वो नागाधिपस्तुतः।
पद्म गर्भ समच्छायः पद्म प्रभ जिनोत्तमः ॥६४॥
किंशुकोत्कर संकाशो वासु पूज्यः प्रकीर्तितः।
नीलांजन गिरिच्छायो मुनि सुव्रत तीर्थ कृत् ॥६५॥
मयूर कंठ संकाशो जिनो यादव पुंगवः।
सुतप्त कांचनच्छायाः शेषाः जिनवराः स्मृता ॥६६॥

४—"अकृत्रिम चैत्यालय पूजा"—

द्वौ कुन्देन्दु तुषार हार धवलौ, द्वाविन्द्र नील प्रभौ।
द्वौ बंधूक सम प्रभौ जिनवृषौ, द्वौ च प्रियंगु प्रभौ॥
शेषा षोडश जन्म मृत्यु रहिता, संतप्त हेम प्रभाः।
ते सज्ज्ञान दिवाकराः सुरनुताः, सिद्धिं प्रयच्छंतु नः॥

५—पूजासार (हस्त लिखित पत्र ५३)

पार्श्वं सुपार्श्वौ हरितौ नीलाभौ नेमि सुव्रतौ ।
चन्द्र दंतौ सितौ शोणौ पद्म पूज्यौ परे परे ॥

(इन सब ग्रन्थों में—चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत को कुंदपुष्प, चन्द्र, बर्फ एवं हीरा मुक्ताहार की तरह 'श्वेत' सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को प्रियंगु मंजरी (मेंहेदी के पत्तों) की तरह अथवा बिना पके धान्य के पौधों की तरह 'हरित' मुनिसुव्रत और नेमिनाथ के नीलांजल गिरि अथवा मयूरकंठ की तरह 'नील' पद्मप्रभु और वासु पूज्य को कमल अथवा टेसू के फूल की तरह 'लाल' और शेष १६ तीर्थंकरों को तपाये सोने की तरह 'पीत' वर्ण वाले बताये हैं) ।

६—वरांग चरित (जयसिंह नंदि) सर्ग २७

सुवर्णवर्णा खलु षोड़शैव चन्द्र प्रभौ द्वौ च जिनौ सिताभौ ।
द्वौ द्वौ च संध्यांजन तुल्य वर्णौ द्वावेन दूर्वांकुर कांड भासौ ॥८७॥

७—जिन यज्ञ कल्प (आशाधर कृत) अध्याय १

सितौ चन्द्रांक सुविधि श्यामलौ नेमि सुव्रतौ ।
पद्म प्रभ सु पूज्यौ च रक्तौ मरकत प्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्व पार्श्वौ स्वर्णाभान्शेषांश्चालेखयेत्स्मरेत् ॥८१॥

८—अनगार धर्मामृत अध्याय ८ श्लो. ४१ की टीका (पृष्ठ ५६६)

श्री चन्द्र प्रभनाथ पुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी ।
रक्तांभोज पलाश वर्ण वपुषौ पद्म प्रभ द्वादशौ ॥
कृष्णौ सुव्रत यादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै ।
शेषाः संतु सुवर्ण वर्ण वपुषो मे षोड़शात्रघच्छिदे ॥

९—गौत्तम चरित (मंडलाचार्य धर्मचन्द्र कृत) अधिकार ५

चन्द्राभ पुष्पदंतेशौ श्वेत वर्णौ प्रकीर्तितौ । पद्माभ द्वादशौ रक्तौ श्याम लौ नेमि सुव्रतौ ॥१२८॥
सुपार्श्वनाथ पार्श्वौ द्वौ हरिद्वर्णौ च षोड़शः । तीर्थंकरा बुधैर्ज्ञेयाः संतप्त कनक प्रभाः ॥१२९॥

१०—चर्चाशतक (द्यानत रायजी कृत)

पहुप दंत प्रभु चंदसम सेत विराजे ।
पारसनाथ सुपास हरित पन्नामय छाजे ॥
वासु पूज्य दंत प्रभु अरु पदम रक्त माणिक द्युति सोहे ।
मुनि सुव्रत अरू नेमि श्याम सुन्दर मन मोहे ॥
बाकी सोले कंचन वरण यह विवहार शरीर थुत ।
निहचे अरूप चेतन विमल दरस ज्ञान चरित-जुत ॥४६॥

(इन ग्रन्थों में भी उपर्युक्त ५ नंबर तक के ग्रन्थों की तरह ही तीर्थंकरों का रंग बताया है सिर्फ मुनि सुव्रत और नेमिनाथ को 'नील' वर्ण की बजाय 'कृष्ण' वर्ण बताया है)

११—हरिवंश पुराण (जिनसेनाचार्य कृत) सर्ग ६०

चन्द्राभ एव चन्द्राभः सुविधिः शंख सत्प्रभः ।
प्रियंगुमंजरी पुंजवर्णः सुपार्श्वं तीर्थ कृत् ॥२१०॥
मेघ श्यामवपुः श्रीमान् पार्श्वस्तु धरणस्तुतः ।
पद्मगर्भ निभाभश्च पद्म प्रभ जिनाधिपः ॥२११॥
रक्त किंशुक पुष्पाभो वासुपूज्यो जिनेश्वरः ।
नीलांजना चलच्छायो मुनीन्द्रो मुनि सुव्रतः ॥२१२॥
नील कंठ स्फुरत्कंठ रुचिर्नेमिः समीक्षितः ।
सुतप्त कनकच्छायाः शेषास्तु जिन पुन्गवाः ॥२१३॥

(इसमें और तो सब उपर्युक्त ग्रन्थों की तरह ही बताया है सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को कंगणी के फूल एवं बादलों की तरह श्याम-कृष्ण वर्ण बताये हैं । साथ ही मुनि सुव्रत और नेमीनाथ को नीलवर्ण बताये हैं) ।

१२—तिलोयसार (नेमिचन्द्र कृत)

पउमप्पह वसु पुज्जा रत्ता धवला हु चन्द पह सुविही ।
णीला सुपास पासा णेमी मुणि सुव्वया किण्हा ॥८४७॥

१३—संस्कृत चौबीसी पूजा-जयमाल (ज्ञानचन्द्र जैनी लाहौर द्वारा प्रकाशित)

१४—चौबीस तीर्थंकरों का ज्ञातव्य नकशा (जीयालालजी, जौहरी नगर-मैनपुरी)

(इन सब में और कथन तो यथा पूर्व है सिर्फ सुपार्श्व पार्श्व को 'नील' वर्ण और नेमि-मुनि सुव्रत को 'कृष्ण' वर्ण बताया है । भूधरदासजी कृत 'पार्श्व पुराण' में भी पार्श्वनाथ प्रभु को नील वर्ण लिखा है देखो-अधिकार ७ श्लोक ३०-नील बरण नौ हाथ उतंग ॥)

१५—गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण का एतत्संबंधी कथन ठीक 'तिलोयपण्णत्ती' के समान है ।* पुष्पदंत कृत अपभ्रंश उत्तर पुराण का कथन गुणभद्रानुसार है सिर्फ नेमिनाथ को नील के बजाय कृष्ण बताया है ।

१६—'एकसंधि जिन संहिता' (प्रतिमा लक्षण-परिच्छेद श्लोक नं. १४१)—हरिवंश पुराण की तरह कथन है (पार्श्व-सुपार्श्व=श्याम । मुनि सुव्रत-नेमि=नील बताये हैं ।)

१७—कल्याण मंदिर स्तोत्र श्लो. २३ में पार्श्व नाथ को श्याम वर्ण बताया है । इसीलिए पाटण आदि में पार्श्व नाथ 'साँवलिया पारस नाथ' कहलाते हैं ।

१८—पार्श्व नाथ चरित (वादिराज कृत सर्ग १ श्लो. ६, सर्ग १० श्लोक ६६ में पार्श्व प्रभु को श्याम बताया है और सर्ग ११ श्लोक २३, ४५ एवं सर्ग १० श्लो. ६८ में मरकत (पन्ना) की तरह हरित वर्ण बताया है ।

---

* देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन—पृष्ठ ४१ प्रियंगु प्रसवच्छविः (सुपार्श्व)
पृष्ठ ४३५—बालशालितृणच्छायः (पार्श्व) पृ. २४६ सर्पाशन गलच्छायः (मुनिसुव्रत)
पृष्ठ ३७७—नीलांभोज दलद्युति (नेमीनाथ) ।

१६—'स्वयंभू स्तोत्र' (२०-२) में मुनि सुव्रत को मयूर कंठवत् नील वर्ण बताया है।

२०—मुनि सुव्रत काव्य (अर्हद्दास कृत) सर्ग ७ श्लोक ४-६ में मुनि सुव्रत नाथ को कृष्ण वर्ण और सर्ग ६ श्लो. ३३ में 'तमाल नीला कृति' सर्ग ४ श्लोक २३ में 'नीलांजन सलिभ' बताया है।

२१—दौलत रामजी ने 'पदम चरित' की वचनिका में नेमिनाथ को मयूर कंठ समान श्याम बताया (जबकि मयूर का कंठ नीला होता) सर्ग २० श्लोक ६५।

२२—रामचन्द्र कृत 'चौबीसी पूजा'
सुपार्श्वनाथ को हरितवर्ण। पार्श्वनाथ को मेघ समान कृष्ण वर्ण। मुनिसुव्रत को श्याम वर्ण बताया है।

२३—वृन्दावन कृत 'चौबीसी पूजा'। पार्श्वनाथ को हरित वर्ण। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को श्याम वर्ण बताया।

२४—कृत्रिमा कृत्रिम चैत्य पूजा

जंबू धातकि पुष्करार्द्ध वसुधा क्षेत्र त्रये ये भवा।
श्चन्द्रां भोज शिखंडि कंठ कनक प्रावृड्घनाभाः जिनाः ॥
सम्यग्ज्ञान चरित्र लक्षण धरा दग्धाष्ट कर्मेन्धनाः।
भूता नागत वर्त्तमान समये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥*

(जंबू द्वीप, धातकी द्वीप, आधा पुस्कर द्वीप अर्थात् अढाई द्वीप (मनुष्य लोक) के भरत ऐरावत और विदेह इन तीन क्षेत्रों में उत्पन्न, श्वेत-रक्त-नील-पीत और कृष्ण वर्ण वाले, रत्नत्रय के धारी, अष्ट कर्मों के हंता, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालीन तीर्थंकरों के लिए नमस्कार हो।)

इन २४ प्रमाणों से स्पष्ट है कि १६ तीर्थंकरों के पीत वर्ण, चन्द्रप्रभ-पुष्पदंत के श्वेत वर्ण और पद्मप्रभ-वासुपूज्य के रक्त वर्ण होने में सब ग्रन्थ एक मत हैं। सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्व तथा मुनिसुव्रत और नेमि इनके वर्ण के विषय में परस्पर मतभेद है। कोई सुपार्श्व पार्श्व को हरित कोई कृष्ण और कोई नील वर्ण बताते हैं। इसी तरह कोई मुनिसुव्रत और नेमि को नील और कृष्ण वर्ण बताते हैं जिसकी उपरोक्त २४ प्रमाणों के अनुसार निम्नांकित तफसील है :—

१ से ५ और १५ — सुपार्श्व पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = नील।
६ से १०—सुपार्श्व-पार्श्व=हरित। सुव्रत-नेमि=कृष्ण।
११ और १६—सुपार्श्व-पार्श्व=कृष्ण। सुव्रत-नेमि=नील।
—२४—
१२ से १४—सुपार्श्व-पार्श्व=नील। सुव्रत-नेमि=कृष्ण।
१७—पार्श्व=श्याम। १८-पार्श्व=श्याम और हरित। १९-सुव्रत=नील
२०—सुव्रत=कृष्ण (नील)। २१-नेमि=श्याम। २२-सुपार्श्व=हरित। पार्श्व सुव्रत=श्याम
२३—पार्श्व=हरित। सुव्रत-नेमि=श्याम।

---

* 'ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृ. ६४ में इसका अधूरा और गलत अर्थ किया है।

ऐसी हालत में यह विचारणीय हो जाता है कि-ग्रन्थों में यह परस्पर विरुद्ध और भिन्न कथन क्यों है ? क्या इसका कोई समाधान या संगति भी है या नहीं ?

नीचे समाधान प्रस्तुत किया जाता है:—

काला, नीला और हरा ये तीनों रंग एक (कृष्ण) ही माने जाते हैं-ऐसा कवि संप्रदाय है। महा कवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' सर्ग २ श्लो. १७ में लिखा है:—

स पल्वलोत्तीर्ण वराह यूथा न्यावास वृक्षोन्मुख बर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासित शाद्वलानि श्यामाय मानानि बनानि पश्यन् ॥

(नंदिनी गाय को चरा कर शाम के वक्त राजा दिलीप वापिस घर को लौटने लगे तो इस प्रकार वन की शोभा देखी—)

"सरोवर से निकले (कीचड़ से लिप्त अतः श्याम वर्ण। शूकर समूह और अपने आवास की ओर जाते) (नील वर्ण) मयूर तथा जिस पर मृग बैठे हैं ऐसी (हरी) दूब इन तीनों से मानों वन श्याम वर्ण हो रहा था"।

इस प्रकार कवि ने चामात्कारिक शैली से कृष्ण, नील और हरित इन तीनों को एक श्याम वर्ण द्योतित किया है।*

यह कवि संप्रदाय कोरा कल्पना मात्र ही हो ऐसा नहीं है प्रत्युतः प्रत्यक्ष अनुमानादि से भी इस की पुष्टि होती है यथा-गहरे नीले रंग के पदार्थ जैसे नीलम का पत्थर, मोर तूते की डली सामान्य तौर से काली ही दिखाई देती है। रोशनी के सामने करने पर या टुकड़े करने पर ही वह नीली दिखाई देती है। इसी तरह गहरे हरे रंग के पदार्थ भी काले ही दिखाई देते हैं जैसे पन्ने का पत्थर आदि।

संस्कृत शब्द कोशों में भी नीला रंग अलग नहीं बताया गया है। वह कृष्ण रंग के पर्याय-वाची रूप में ही बताया गया है; देखो-"अमर कोष" कांड १ वर्ग ५ श्लोक २३-कृष्णे नीलाऽसित श्याम काल श्यामल मेचकः, ये ७ नाम काले रंग के दिये हैं जिनमें १ नाम 'नील' भी है। और इसी लिए भौंरे को नीलक, नीलंगु। काले उड़द को नील माष। कीचड़ और अंधकार को नील पंख। कृष्णांजनगिरि को नीलगिरि। अग्नि को नील पृष्ठ। काली मक्खी को नील मक्षिका। शनिश्चर को नीलवसन। काले सुरमे को नीलांजन। काले बादल को नीलाभ कहते हैं। इसी दृष्टि से प्रमाण नं. २० के 'तमालनील' और नीलांजन' शब्दों में प्रयुक्त 'नील' शब्द का अर्थ नीला न होकर काला ही है क्योंकि तमाल वृक्ष काला ही होता है (देखो अमर कोष-"कालस्कंध स्तमालः स्यात") इसी तरह अंजन सुरमा भी काला ही होता है।

'जिन सहस्त्र नाम की श्रुतसागरी टीका पृष्ट २११ में' केशव, शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा है-"प्रशस्ता अलिकुल नील वर्णाः केशा मस्त के विदयते यस्य स केशवः" अर्थात् जिसके शिर पर भंवरे के समान काले केश हों उसे केशव कहते हैं। इसमें भी स्पष्टतया नील शब्द को

---

* धनंजय नाम माला के अमर कीर्ति भाष्य (ज्ञान पीठ प्रकाशन) पृ० ७२ में भी कृष्ण रंग के पर्यायवाची नामों में हरित और नील-मेचक (मेचकः शिखि कंठायः इति दुर्ग) शब्द दिये हैं इससे भी जाना जाता है कि हरे नीले को काले कहने की कवियों की मान्यता रही है।

कृष्ण वर्ण के ही रूप म प्रयुक्त किया है। इन सब प्रमाणों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि-'नील' का अर्थ कृष्ण भी होता है। अब 'हरित' के विषय में नीचे कुछ विवेचन किया जाता है:

कवि लोग इस पृथ्वी को "शस्य श्यामला" अर्थात् हरे हरे पौधों से श्याम वर्ण वाली, इस विशेषण से व्यक्त करते हैं। इससे हरे को भी काला कहने की पद्धति का पता लगता है। इसी दृष्टि से वादिराज ने 'पार्श्व नाथ चरित' में पार्श्व प्रभु को एक जगह हरा और एक जगह श्याम लिखा है। देखो प्रमाण नं. १८। तिलोयसार गाथा ७८४ में तीसरे काल के मनुष्यों का शरीर 'प्रियंगु-श्याम=हरित-श्याम वर्ण वाला बताया है। इस तरह स्पष्ट है कि हरे को श्याम भी कहा जाता है।

इस सब विवेचन से जिन्होंने नील अथवा हरित की जगह श्याम-कृष्ण वर्ण लिखा है वह तो समझ में बैठ जाता है किन्तु जिन्होंने हरित की जगह नीलवर्ण लिखा है उसका क्या समाधान है?

लोक में हरित शाक सब्जी को नीलोती कहते हैं। मालवा में हरे चणों को लीलवा कहते हैं (नील और लील एक ही शब्द हैं यथा नीलगर, लीलगर)। हरी दूब को हिन्दी और संस्कृत में ''नील दूर्वा' कहते हैं। कोंकण में 'नीली हरियाली,' गुजराती में 'नीलोध्रा,'। लीलीध्रो मराठी में 'नील दूर्वा' हरयाली, काली दूर्वा कहते हैं।

(प्राकृत शब्द महार्णव, में भी 'णील' शब्द का अर्थ हरा और नीला दोनों बताया है और प्रमाण में ठाणांग व पण्णावणा सुत्त १ का नाम दिया है। इसी तरह कोशों में इन्द्रनीलमणि का अर्थ नीलम (नीले रंग की मणि) और मरकत (हरे रंग का पन्ना) दोनों दिया है।

गोम्मटसार जीव कांड गाथा ४६५ में जघन्यभोग भूमि वालों का शरीर हरित वर्ण बताया है, इसे ही 'गौतम चरित्र, अ० ५ श्लो० ६२ में 'नील वर्ण से कहा है।

इस सब से यह स्पष्ट जाना जाता है कि-हरे रंग को नीला कहने की भी प्रणाली है। हरा रंग बनता भी नीले और पीले रंग के संयोग से है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थ कारों ने जो हरित, कृष्ण, और नील इन तीनों को परस्पर उलट पुलट-अथवा एक श्याम वर्ण ही प्रयुक्त किया है, वह अयुक्त नहीं है।

फिर भी एक सवाल उत्पन्न होता है कि तब क्या हरे और नीले कोई अलग रंग नहीं हैं ? अगर हैं तो पार्श्व-सुपार्श्व और मुनिसुव्रत-नेमी का वास्तविक रंग क्या है ? क्या ये चारों काले ही हैं ? अगर ये काले ही होते तो ग्रन्थकार इन को अलग अलग नहीं बताते, चारों को एक कृष्ण वर्ण का ही लिख देते। अलग अलग (युग्म) बताने से और साथ में अलग अलग रंग के वैसे ही उदाहरण देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि—इनका रंग भिन्न रहा है।

वह भिन्न रंग काले हरे और नीले में से कौन से तीर्थंकर का वास्तविक कौनसा है इसको निर्णय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है जो भी मान्य ग्रंथकारों ने लिखा है वह परस्पर विरुद्ध होने पर भी उसे संग्रह करके चलना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी युक्तिवाद का आश्रय लें तो निम्न तथ्य सामने आता है। काले रंग के मनुष्य तो देखे जाते हैं किन्तु हरे और नीले रंग के मनुष्य कहीं देखने में नहीं आते – हां नीली आंखों के मनुष्य अवश्य देखे जाते हैं।

हरा रंग कोई स्वतंत्र रंग नहीं है वह पीले और नीले रंग के संयोग से बनता है इसीलिए उसका एक नाम 'पीतनील' है। देखो—'अभिधान चिन्तामणि" कोश पृष्ठ ५६९—"पीतनीलः पुनर्हरित्"।

जैन शास्त्रकारों ने रंग के ५ भेद बताये हैं—ये ही चौबीस तीर्थकरों के वर्ण के आधार रहे हैं। ये ५ भेद इस प्रकार हैं—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनमें नीला रंग तो है किन्तु हरा नहीं।

इसी तरह वर्ण नाम कर्म के उदय से जो कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म (लाल) शुक्ल ये ६ द्रव्यलेश्या—शरीर का रंग बताया है, उसमें भी नीला रंग तो है किन्तु हरा नहीं।

इस दृष्टि से तिलोयसारादि (प्रमाण नं. ११-१२-१३-१४-१६-२४) का कथन जिसमें हरे रंग के तीर्थंकर नहीं बताये हैं विशेष उचित प्रतीत होता है—बशर्ते कि 'नील' का अर्थ 'हरा' न लिया जाय। (तिलोयसार, के कर्ता ने 'नील' के साथ कोई उदाहरण भी नहीं दिया है जिससे जाना जाता कि उन्हें नील से कौनसा वर्ण विशेष इष्ट था।

यह तो हुआ २४ तीर्थंकरों का वर्ण विवेचन। अब प्रसंगोपात अन्य पौराणिक महापुरुषों का भी शरीर-वर्ण नीचे प्रस्तुत किया जाता है:—

(१) तिलोयसार, गाथा ८१८
१२ चक्रवर्तियों का शरीरवर्ण सुवर्ण सदृश (पीत) बताया है।

(२) जंबूदीव पण्णती—उद्देश २ गाथा १८२, १८३, १८४
९ बलदेवों का श्वेत तथा ९ नारायण-प्रतिनारायणों का नील कमल के समान (नीला) बताया है।

(३) तिलोय पणाती (भाग १ पृ० २०० से २०६)
१४ कुलकरों का रंग सुवर्ण सदृश (पीत) बताया है।

(४) हरिवंश पुराण सर्ग ६० श्लो० ५६७
नवनारायणों को अंजनच्छाय (कृष्ण वर्ण) बताया है। श्लोक ५६९ में तब बलदेवों को चन्द्रसम—श्वेत वर्ण बताया है।

(५) उत्तर पुराण (गुणभद्र कृत) में ९ वासुदेवों का रंग नील-कृष्ण बताया है और ९ बलदेवों का श्वेत बताया है। देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० ३८३-(श्रीकृष्ण) लसन्नि लाब्ज वर्णाभो। पृ० ८५, १२६, २४१, २५५ में क्रमशः बलदेव नारायण का रंग इस प्रकार द्योतित किया है:—शंखेन्द्र नील संकाशौ, शुक्ल कृष्ण त्विषौ, चन्द्रेन्द्रनील संकाशौ, अमेय वीर्यौ हंसांशनीलोत्पल समत्विषौ।

इस विषय में श्वेतांबर-मान्यता क्या है वह नीचे प्रकट की जाती है:

१—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्राचार्य कृत) कांड १ श्लो० ४९—

रक्तौ च पद्म प्रभ वासु पूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभ पुष्पदंतौ।
कृष्णौ पुनर्नेमि मुनी विनीलौ श्री मल्लि पार्श्वौ कनकत्विषोऽन्ये॥
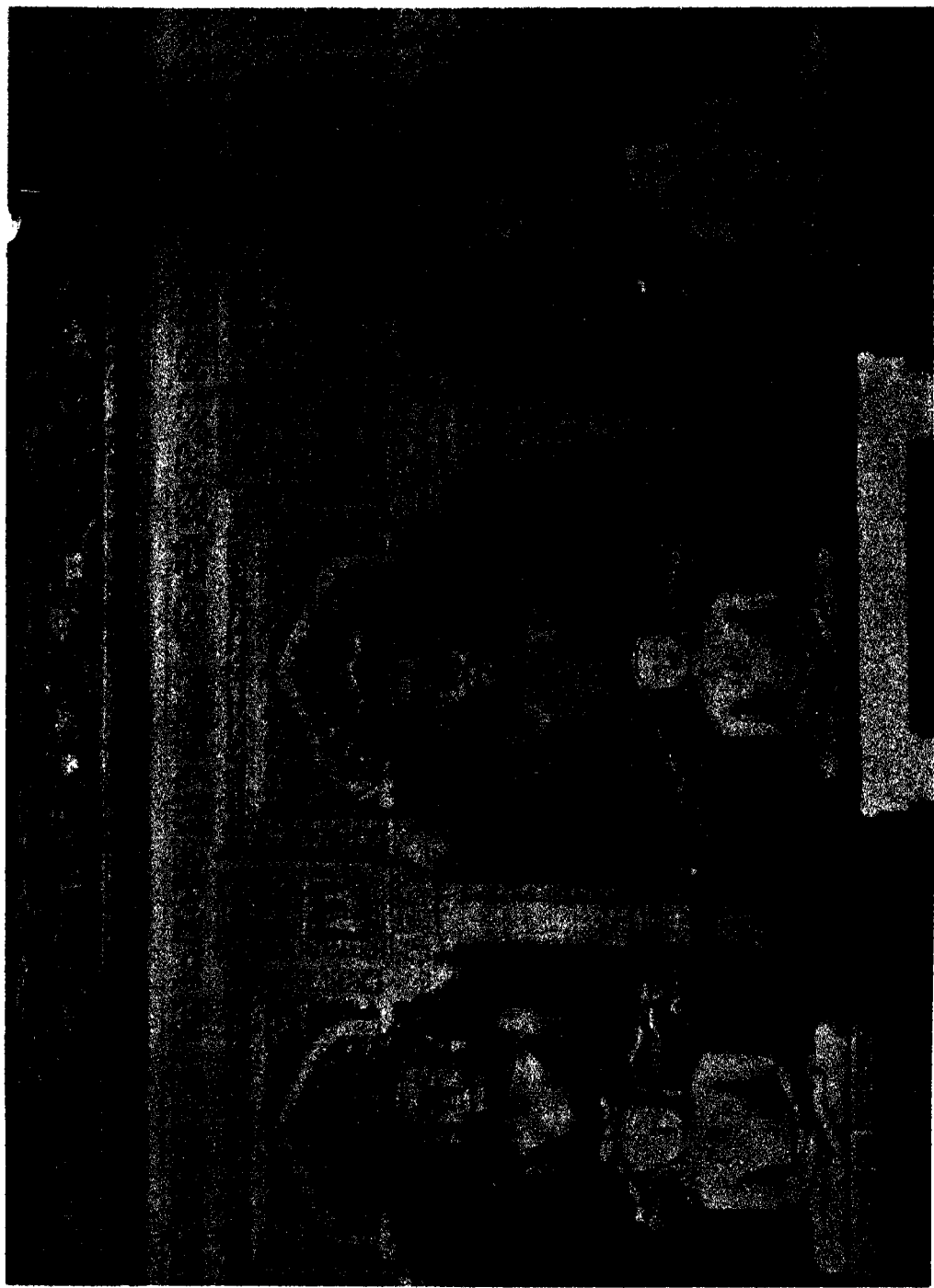
सांगानेर के सुविख्यात संघीजी के मन्दिर की वेदी में प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ स्वामी की भव्य प्राचीन मूर्तियां

छविकार : सुरेन्द्र काला

(अर्थ—पद्मप्रभ और वासुपूज्य 'लाल', चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत श्वेत', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ 'कृष्ण', मल्लि और पार्श्व 'नील' एवं शेष (१६) तीर्थंकर सुवर्ण रंग के हैं)।

२-३—"त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित" (हेमचन्द्र) में तथा "जैनरत्नसार" पृ. २८८ में भी उपर्युक्त ही कथन है।

४—विचार सार प्रकरण (पद्युम्नसूरि) :

पउ माभ वासु पुज्जा रत्ता ससि पुप्फदंत ससि गोरा।
सुव्वय नेमि काला पासो मल्ली पियंगु निभा ॥११०॥
वर कणय तविय गोरा सोलस तीत्थंकरा मुणेयव्वा।
एसो वण्ण विभागो चउवीसाय जिण वराणं ॥१११॥

(अर्थः—इसमें पार्श्व-मल्लि को प्रियंगु सदृश (हरित) वर्ण वाले बताये हैं—शेष कथन उपर्युक्त ही की तरह हैं)।

५—"मंत्राधिराज चिन्तामणि" में सागरचन्द्र सूरि रचित 'मंत्राधिराज कल्प' तृतीय पटल श्लोक ८८, ९० में—मुनि सुव्रत और नेमि का "तैलाक्तकज्जल कलेवर—कृष्णांग (गहरे काले) लिखा है। श्लोक ८७, ९१ में—मल्लि और पार्श्वनाथ को "कदलीदल नीलदेह" अर्थात् केले के पत्तों की तरह नील वर्ण वाले बताये हैं किन्तु केले के पत्तों का रंग हरा होता है नीला नहीं अतः यहां 'नील' का अर्थ उदाहरण के अनुसार 'हरा' ही लेना चाहिए। पूर्व में हरे को नीला कहने की पद्धति का दिग्दर्शन करा ही आये हैं। ऊपर भी प्रमाण नं. ४ में पार्श्व मल्लि को प्रियंगु-हरित वर्ण ही लिखा है। ऐसी हालत में एक बात विचारणीय है कि—ऊपर प्रमाण नं. १-२-३ में जो हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्व मल्लि को 'नील' बताया है सो उससे कौनसा रंग ग्रहण करना चाहिए? नील का अर्थ आसमानी और हरा ही नहीं होता, काला भी होता है। अगर हरा ही ग्रहण करें तब तो श्वे० आम्नाय में कोई मान्यता भेद नहीं होता और अगर आसमानी भी काला ग्रहण करें तो मान्यता भेद उत्पन्न होता है। हेमचन्द्राचार्य ने कहीं भी नील के साथ कोई उदाहरण नहीं दिया है इसमें यह निर्णय करना कठिन है कि—'नील' से कौनसा वर्ण विशेष उन्हें इष्ट था।

("त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित" :गुजराती अनुवाद पर्व ९ सर्ग ३ पृष्ठ ४७०-७१ में पार्श्व प्रभु को नीलमणी और नीलकमल की सदृश कांति वाले नीलवर्ण, लिखा है—यह ज्ञातव्य है)।

६—ऋषि मंडल स्तोत्र *

शिरः संलीन ईकारो विनीलोवर्णनः स्मृतः। वर्णानुसार संलीनं तीर्थकृन्मंडलं नमः ॥१३॥
शिरः ई स्थिति संलीनौ पार्श्व मल्ली जिनोत्तमौ ॥१५॥

(अर्थ—'ह्रीं' इस बीजा अक्षर की ईकार मात्रा का रंग विनील (विशेष नीला) किया जावे और उस पर उसी रंग के तीर्थंकर-पार्श्व मल्ली के नाम लिखे जावें) इसका कथन ठीक हेमचन्द्राचार्य ही की तरह है।

* यह कृति श्वेतांबरी ही है इस विषय में एक खोजपूर्ण लेख हमारे पिताजी का जैन संदेश के 'शोधांक' नं. ८ में प्रकाशित हुआ है उसे देखिये।

श्वेतांबर आम्नायानुसार यह २४ तीर्थंकरों का वर्ण विभाग है। इससे स्पष्ट है कि—दि० श्वे० आम्नाय में खास अंतर निम्न प्रकार है—मल्लिनाथ को श्वेतांबर नील वर्ण और सुपार्श्वनाथ को कनकवर्ण मानते हैं जबकि दिगंबर मल्लिनाथ को सुवर्ण वर्ण और सुपार्श्वनाथ को हरित या नील वर्ण मानते हैं अर्थात् श्वेतांबर सुपार्श्वनाथ की जगह मल्लिनाथ को विनील लिखते हैं। इस नाम-व्यत्यय के सिवा रंग के विषय में श्वे० हेमचन्द्राचार्य का कथन दि० "तिलोयसार" ग्रन्थ के कथन से मिलता है।

अब ६३ शलाका पुरुषों में से शेष का शरीर वर्ण श्वेतांबराम्नायानुसार क्या है यह नीचे बताया जाता है :

१—विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरी)

वन्नेण वासुदेवा नीला सव्वे बला च सुक्किलया ॥५७०॥
सच्चे विरागवरणा निम्मल कणगप्पभा मुणेयव्वा ।
छह खंड भरह सामी तेसि पमाणं अओ वुच्छे ॥५४३॥

(९ वासुदेव तथा ९ प्रति वासुदेव नीलवर्ण हैं और ९ बलदेव शुक्ल वर्ण हैं १२ चक्रवर्ती कनकवर्ण हैं)।

२—"त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित" (हेमचन्द्र) पर्व १ सर्ग ६

वासुदेवाः नवाऽसित्ताः ॥३३८॥
बलदेवाः सिता नव ॥३३६॥
काश्यपश्च क्रिणः स्वर्ण वर्णा अष्टैवु मोक्षगा ॥३२६॥

[इसमें वासुदेवों (प्रति वासुदेवों) को कृष्णावर्ण बताया है शेष पूर्ववत् है]

३—"अभिधान चिन्तामणि" (हेमचन्द्र) कांड ३

वासुदेवा अमी कृष्णा नव शुक्ला बला स्त्वमी ॥३६१॥

[इसमें भी प्रमाण नं. २ की तरह ही कथन है]।

ऊपर के विषय में दि० श्वे० आम्नाय में परस्पर क्या अंतर पड़ता है यह बताना अनावश्यक है। यह दोनों आम्नायों के दिये गये प्रमाणों से विज्ञपाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं। निर्णय की विधि पूर्व में प्रदर्शित कर ही आये हैं।

अब नीचे कतिपय ऐसे ग्रन्थोल्लेख प्रस्तुत किये जाते हैं जो तीर्थंकरों के शरीर-वर्ण विषय में कुछ विलक्षण ही प्रकाश डालते हैं :—

१—अपराजित पृच्छा (भुवनदेवाचार्य कृत)

चन्द्र प्रभ पुष्पदंतः श्वेतौ वै क्रौंचसंभवौ ।
पद्म प्रभो धर्म नाथो रक्तोत्पल निभौ मतौ ॥
सुपार्श्वः पार्श्वनाथश्चहरिद्वर्णौ प्रकीर्तितौ ।
नेमिश्च श्याम वर्णः स्यान्नीलोमल्लिः प्रकीर्तितः ॥
शेषा षोडशसंप्रोक्तास्तप्त कांचन सप्रभाः ।
वर्णानि कथितान्यग्रे लांछनानितत: शृणु ॥

—प्रतिमालक्षण (सं. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल) पृ. २७१

इसमें सुपार्श्वनाथ को जो हरिद्वर्ण बताया है वह दि० संप्रदायानुसार है और मल्लिनाथ को जो नील वर्ण बताया है वह श्वे० संप्रदायानुसार है इस तरह इसमें दोनों आम्नायों को अपित किया है किन्तु धर्मनाथ को रक्त वर्ण और मुनि सुव्रतनाथ को कांचन वर्ण बताया है वह दोनों आम्नाओं से विरुद्ध है इस तरह इस ग्रन्थ का कथन बड़ा ही बिलक्षण मालुम पड़ता है।

यह 'अपराजित पृच्छा' ग्रन्थ जैनेतर है इसके कथन से सिद्ध है कि इसके कर्त्ता को जैन (दि० श्वे०) ग्रन्थों का प्रामाणिक ज्ञान नहीं था। आजकाल जिस तरह अनेक जैनेतर विद्वान जैन मान्यताओं के विषय में अन्यथा प्रतिपादन करते देखे जाते हैं उसी तरह पूर्वकाल में भी ऐसा होता रहा है – यह इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है।

(२) "मूर्ति विज्ञानम्" (जी० एच० खरे कृत) पृ० २०२–२०५ में दिगम्बर मतानुसार तीर्थंकरों का वर्ण निम्न प्रकार बताया है। (देखो—पुष्पदंत कृत महापुराण भाग २ पृ० ५५८)

सुमति, पद्म=कुंकुम। वासु पूज्य=रक्त पार्श्व, मल्लि=नील। मुनि सुव्रत, नेमि=कृष्ण। सुपार्श्व=कांचन।

(इसमें मलिनाथ को नील और सुपार्श्व को कनचन वर्णी बताया है। वह श्वे. संप्रदायानुसार जबकि ग्रंथकार ने यह वर्ण-विवेचन दि० मतानुसार होने की बात कही है जो गलत ठहरती है। इसके सिवा सुमति नाथ को जो कुंकुमा (रोली केशर) के समान लाल वर्ण के बताये हैं वह दोनों संप्रदायों की दृष्टि से विरुद्ध है इस तरह इस ग्रंथ का कथन भी विलक्षण ही ज्ञात होता है। अगर 'सुमति' विषयक कथन को मुद्रण की गलती मानली जाय तो समग्र कथन श्वे० आम्नायानुसार हो जाता है किन्तु ग्रंथकार ने समग्र कथन को दिगम्बर मत का बताया है यह विलक्षणता फिर भी रहती है)

इस सब विवेचन से तर्थकरों के शरीर-वर्ण विषय में ग्रंथकारों के परस्पर भिन्न विरुद्ध कथनों के तथ्य को पाठकों ने अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया होगा। अंत में यह और बताना चाहता हूँ कि—ग्रंथों में अन्यत्र भी जहां रंगों को लेकर परस्पर भिन्नता विरुद्धता पाई जाती हो वहीं उपर्युक्त विवेचन को लगा लिया जाना चाहिये।

जिस तरह हरित, नील आदि में विविधार्थकला पाई जाती है उसी तरह 'गौर' शब्द में भी है, देखो हेमचन्द्र कृत 'अनेकार्थ संग्रह, द्वितीय कांड श्लोक–४२५" गौरः श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि"। अर्थात् "गौर" शब्द सफेद, लाल, और पीले तीनों रंगों में प्रयुक्त होता है।

संस्कृत भाषा में एक शब्द के अनेक अर्थ और आशय होते हैं, यह इसकी खासियत है। इस खासियत को अव्यवस्था, जटिलता या विरुद्धता का जनक नहीं समझना चाहिए किन्तु यह अनेकान्तता का द्योतक है, अतः समीचीन है।

परस्पर भिन्नता में जो यथोचित समन्वय नहीं कर सकते उन्हें ही विरुद्धता मालूम पड़ती है।

परमानन्द जैन

अपभ्रंश भाषा का रासा साहित्य

> रास या रासक परम्परा एक प्राचीन परम्परा जान पड़ती है। इसका उद्गम कब और कैसे हुआ, यह एक विचारणीय विषय है। यह परम्परा भी अपभ्रंश की देन कही जाती है, परन्तु यह बहुत प्राचीन है। रासा स्वरताल-नृत्य और लय के साथ की जाने वाली एक कला है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने अपभ्रंश भाषा के रास साहित्य पर खोज पूर्ण प्रकाश डाला है।

रास या रासक परम्परा एक प्राचीन परम्परा जान पड़ती है। इसका उद्गम कब और कैसे हुआ, यह एक विचारणीय विषय है। यह परम्परा भी अपभ्रंश की देन कही जाती है, परन्तु यह बहुत प्राचीन है। रासा स्वरताल-नृत्य और लय के साथ की जाने वाली एक कला है। रास वह वस्तु है जिसमें संगीत का रस या सार अथवा निचोड़ आप्लावित हो, अथवा जिसकी सुरीली मधुरतान और गंभीर नृत्य-कला दर्शक के मन को आनन्द विभोर करदे। रासाकला में गान के साथ नृत्य-कला की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्राचीनकाल में स्त्रियां 'लास्य' नृत्य करती थी। आज भी देश भेद से नृत्य-कला के अनेक भेद हैं। इस कला से जहां जनता का मनोरंजन होता था, वहां उसके प्रति आकर्षण भी होता था। यह संगीत कला का ही एक भेद ज्ञात होता है।

रास परम्परा का पुरातन उल्लेख भारत के नाट्य शास्त्र में पाया जाता है। अतः इसे अपभ्रंश भाषा की देन बतलाना या अभीरों से सम्बद्ध व्यक्त करना उचित नहीं है। जिस काल में अपभ्रंश भाषा में साहित्यिक रचनाएं नहीं होती थीं, उस काल में भी नृत्यकला प्रचलित थी, उसमें नृत्य के साथ रास भी होता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रास या रासक नृत्यकला या संगीत का ही एक भेद है। भरत ने नाट्य शास्त्र में रासक को एक उपरूपक माना जाता है और उसके ताल रासक, दण्डरासक और मंडल रासक ये तीन भेद बतलाये हैं।[1]

अभिनवगुप्तने अभिनव भारती में रास या रासक को गेयरूपक का एक भेद माना है। गेयरूपक में ताल और लय का विशेष स्थान होता है और इसमें अधिक से अधिक ६४ जोड़े भाग ले सकते हैं। जैसा कि नाट्यशास्त्र (भा० १ पृ० १८३) के निम्न पद्य से प्रकट है:—

"अनेकनर्तकी योज्यं चित्रताल लयान्वितम्।
आचतुष्षष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥"

आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में रासक को गेय काव्य माना है।[2] हेमचन्द्रने अनेकार्थ संग्रह कोष में रासक का अर्थ—क्रीडासु गो दुहाय भाषा 'श्रृंखलिके' दिया है, जिसका अर्थ—'ग्वालों की क्रीडा' तथा भाषा में श्रृंखलाबद्ध रचना होता है।

---

१. 'ताल लसक नाम स्यात् ततन्निध्य रासकं स्मृतम्।
दण्ड एसकं तु तथा मण्डल रासकम॥"—भरत नाट्य शास्त्र

२. 'गेयं डोम्बिका भाण प्रस्थान शिङ्गक भाणिका प्रेरण रामा क्रीड हल्ली।
एक रासक गोष्ठी श्री गदित राग काव्यादि॥" —काव्यानुशासन ८,४

हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में रासक का लक्षण हेमचन्द्र से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु उसके नृत्त-गीतत्व को पूर्णरूप से मान्य किया है[3]। वाग्भट्ट ने भी हेमचन्द्र का अनुसरण करते हुए उसे गेय रूपक में स्वीकार किया है। हां, विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में रासक के लक्षण पर विचार करते हुए, पात्र, वृत्ति आदि की पूर्ण रूप में व्याख्या करने का प्रयत्न किया है[4]।

महाकवि स्वयंभूने अपने छन्द ग्रन्थ में 'रास' का लक्षण बतलाते हुए उसे जन-मन अभिराम बतलाया है, इसी कारण वह लोकरंजक भी हुआ है। घत्ता, छड्डणिया, पद्धड़िया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छन्दों से युक्त रासाबन्ध काव्य-जन-मन अभिराम होता है।[5] इसके बाद ही कवि ने २१ मात्रावाला रासा छन्द का लक्षण भी दिया है। उस रासक या रासा छन्द के लक्षण पर विचार करने से अब्दुल रहमान का सन्देश रासक अपभ्रंशभाषा का सुन्दर काव्य-ग्रन्थ कहा जा सकता है।[6] अन्य अनेक रास यद्यपि इस कोटि के नहीं है परन्तु वे जीवन परिचयात्मक रास भी अपनी कम महत्ता नही रखते। स्वयंभू के इस छन्द लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में रासाबन्ध छन्द भी प्रचलित था।

कवि शार्ङ्गधर के द्वारा संगीत में दी हुई रास-सम्बन्धी कथा भी इसके मूल रूप पर कुछ प्रकाश डालती है। इस कथा में बतलाया गया है कि शिव ने ताण्डव नृत्य किया और पार्वती ने लास्य नृत्य। पार्वती ने उसे बाणासुरकी पुत्री ऊषा को सिखलाया, जो कृष्ण के नाती अनिरुद्ध को विवाही गई थी। उसने द्वारावती की गोपियों को और गोपियों ने सौराष्ट्र देश की नव-युवतियों को सिखलाया, और वहां से वह समस्त भूमण्डल में विस्तृत हुआ। परन्तु यह कल्पना है और इस प्रकार की कल्पना से कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं निकाला जा सकता है।

ब्रज की रासलीला तो लोक प्रसिद्ध है ही। यह प्राचीन परम्परा अपभ्रंश भाषा के विकास काल में उच्च स्तर पर थी। विक्रम की १० वीं से १३ शताब्दी तक इसमें अनेक रास रचे गए हैं। और बाद में राजस्थानी, हिन्दी और गुजराती मिश्रित भी अनेक रास रचनाएं देखने में आती हैं। विक्रम की १५ वीं शताब्दी में भ० सकल कीर्ति के लघु भ्राता एवं शिष्य ब्रह्म जिनदास के रचे हुए ४५ रासे मिलते हैं। रास परम्परा का उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष, या देवी–देवता की आराधना, और

३, 'षोडश द्वादशाष्टो वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।
पिंडी बन्धादि विन्यासे रासके तदुदाहृतम् ।।
पिंडात् तु भवेत पिंडी गुम्फनाच्छृंखला भवेत्।
भेदनात् भेद्यको जातो लता जातापनोदतः ।।
कामिनी भिर्गुर्वो भर्तुश्चेष्टिनं यत्तु नत्यते।
रामांइ बासन्त मासाद्य स शेषो नाट्य रासकः ।।"
—नाट्य दर्पण ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बडौदा १६२६ भाग १ पृ० २१४

४. 'साहित्य दर्पण पृ० १०४—१०५।'

५. 'घत्ता–छड्डणिआहि पद्धडिआहि सुअण्णरूएहिं।
रासा बंधो कव्वे जण–मण–अहि रामओ होइ।।"
—स्वयंभू छन्द ८–४६

६. एकवीस मत्ता णिहणउ उद्धामगिरु,
चउदसाइ विस्सामहो फगण विरइ थिरु।
रासा बंधु समिद्धु एउ अहिराम अरू—
—स्वयंभू छंद ८—४६

साधु या किसी सेठ की जीवन गाथा को अंकित करना, अथवा किसी विरहिणी नारी के सन्देश को उसके विरही पति तक पहुंचाने के लिये, अथवा आत्म–सम्बोधन के लिये रासा साहित्य की सृष्टि की गई है।

अपभ्रंश की प्राचीन चर्चरी रास

वर्तमान में उपलब्ध रासरचनाओं में सबसे पुरातन 'चर्चरीरास' है [1] जो प्रतिहार सम्राट्वत्सराज के समय जालोर (जाबलिपुर) के आदि नाथ मन्दिर में शक संवत् ७०० (वि. सं. ८३५) में उद्योतन सूरि द्वारा रचा गया था, और जो कुवलय माला कथा के प्रारम्भ में अन्तर्निहित है। इस चर्चरी रासकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं। इसमें बतलाया गया है कि—'मनुष्य समझ बूझ कर कार्य करे, अन्यथा मृत्यु के घेर लेने पर अन्य कुछ भी कार्य नहीं हो सकेगा।[2] 'तू विरक्त हो विरक्त हो संसार में भ्रमण मत कर।' इसमें चार ध्रुवकों की परिपाटी है जिनमें एक ध्रुवक जहां कामोन्मादक रस का जनक है वहां दूसरा ध्रुवक कामोद्रेकसे परान्मुख करने वाला है। और तीसरा ध्रुवक अशुचि मल–मूत्रादि से संयुक्त घृणित अस्थि पंजर को दिखाकर ज्ञान और विवेक की ओर ले जाता है। और चौथा ध्रुवक वैराग्य की ओर आकृष्ट करता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता कि जैन कवियों की रास रचना का उद्देश्य राग से हटा कर जन साधारण को ज्ञान–वैराग्य की ओर आकर्षित कर हित के मार्ग में संलग्न करना रहा है।

इस छोटी सी कृति (चर्चरी रास) में अनेक रसों का संमिश्रण है। इसमें भगवान महावीर के गणधर सुधर्म स्वामी की एक जीवन-घटना को अंकित किया गया है— वे एक दिन अकेले ही एक ऐसे वनमें गये, जहां ५०० भयंकर डाकुओं का समूह रहता था। वहां 'उन्होंने चर्चरी रास' युक्त एक गान गाया और ऐसा नृत्य किया कि डाकू दल ने सदा के लिये डाकेजनी छोड़ कर आत्म-बोध प्राप्त किया।[3] इससे इस रास की खास महत्ता ज्ञात होती है।

इसी तरह 'उपमिति भव प्रपंच कथा' में जिसका रचना काल वि० सं० ९६२ है और जिसके कर्ता कवि सिद्धर्षि है। उसका नाम 'रिपुदारणरास' है। जो संस्कृत भाषा के ५ ध्रुवक पदों को लिये हुए हैं, जिसका नाम सार्थक है, और गान, नृत्य, लय आदि से समन्वित है। जिसमें वह देश के सार्वभौमराजा तपन द्वारा सिद्धार्थ पुर के मिथ्यावादी और अहंकारी उद्दण्ड राजा रिपुदारण को तांत्रिक योगी से दण्ड दिलाने या उसे वशमें कर उसके विनाश करने का उल्लेख किया गया है। रिपुदारण की उद्दण्डता का उल्लेख उक्त रासके--'यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते' वाक्य से ज्ञात होता है।[4] इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा में अन्य कोई संक्षिप्त प्राचीन रास मेरे देखने में नहीं आये। परन्तु उसमें अन्य रास रचनाएं जरूर रची गई होंगी।

रासक रचनाओं में कई रचनाएं उपदेशक भावना के साथ सम्बोधक भावना से ओत-प्रोत हैं। इन रास रच-

---

१. देखो, कुवलयमाला कथा पृ० ४।

२. संबुज्झह किंण बुज्झह एत्तिए वि मा किंति मुज्झह।
कीरउ जं करियव्वयं पुण ढुक्कइ तं करिय व्वयं॥
—कुवलयमाला

३. 'जहा तेण केवलिणा अरण्णं पविसिऊण पंच–चोर–सयाइं रास–णच्चणच्छलेण महामोह–गह–गहियाइं अक्खिविऊण इमाए चच्चरीए संबोहियाइं + + + एवं च जहा काम–णिव्वेओ तहा कोह–लोह–माण–मायादीणं कुतित्थयाणं॥ समकालं चिय सव्व–भाव–वियाणएणगुरुणा सव्वण्णुणा तहा तहा गायंतेणंताइं चोराणं पंच विसयाइं संभरिय–पुव्व–जम्म–वुत्तंताइं पडिवण्ण–समण–लिंगाइं तहा कयं जहा संजमं पडिवण्णाइं ति।' —कुवलयमाला पृ० ४–५।

४. देखो, उपमिति भव प्रपंचकथा प्रस्ताव ४ श्लोक ४३७ से ४४२।

नाओं से ज्ञात होता है कि पुरातन काल में जो रास या रासक रचनाएं रची जाती थीं वे बहुत ही सारगर्भित होती थीं, किन्तु बाद में ज्यों ज्यों उनका विस्तार होता गया त्यों त्यों उन रचनाओं की महत्ता का मूल्य भी कम होता गया।

रास या रासक रचनाएं जैन सम्प्रदाय में भी पाई जाती हैं। परन्तु जैनियों में इसका रिवाज बहुत पुराना है। वीर कवि के विक्रमसंवत १०७६ में रचित 'जम्बू-स्वामिचरित' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि उनके पिता कविवरदेवदत्तने अपभ्रंशभाषामें 'अम्बादेवीरास' नामक एक ग्रन्थ बनाया था[५] जिसका रचनाकाल सं०१०५०के लगभग है। यह रासताल, स्वर, लय और नृत्यके साथ गाया जाता था। यह रचना अभी अनुपलब्ध है।

दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में रासो या रासरचनाएं अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषाओं में तीन चारसौके लगभग होंगी। दिगम्बर रासा ग्रन्थों की संख्या २०० के करीब है, जिसमें १६० के तो मेरी सूची में नाम दर्ज हो चुके हैं, शेषका ग्रन्थ भंडारों में अन्वेषण कार्य चल रहा है। यदि सभी ग्रन्थ-भन्डारों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया जाय तो उनकी संख्या दो सौ से भी ऊपर होगी।

जैनेतर कवियों ने भी अनेक रास ग्रन्थ बनाये हैं, 'पृथ्वीराजरासो, वीसलदेवरासो, खुमाणरासो, सन्देसरासो आदि के नाम प्रसिद्ध हैं इनमें सबसे पुराना पृथ्वीराजरासो बतलाया जाता है परन्तु उसका वर्तमान भाषारूप बहुत कुछ अस्त-व्यस्त है तो भी वह मूलरूप अपभ्रंशभाषाके बहुत नजदीक है। हां, उसकी कुछ ऐतिहासिक घटनाएं जरूर खटकने वाली हैं, उनका उपलब्ध इतिहास के साथ ठीक सामञ्जस्य नहीं बैठता—वे सुन सुनाकर यों ही गढ़ दी गई हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पृथ्वी राजके समय का ग्रन्थ नहीं है किन्तु वह बहुत बाद में लिखा गया है।

दिगम्बर सम्प्रदायका रासो साहित्य अभीतक अप्रकाशित है, उसके प्रकाश में आने पर अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनेक रास प्रकाशित हो चुके हैं।

हां, मुसलमान कवि 'अब्दुल रहमान' की सन्देश रासक रचना उल्लेखनीय है। यह रचना प्रकाशित हो चुकी है।

रासो रचनाएं तीन प्रकार की दृष्टि गोचर होती हैं, पहली राग परक अर्थात् श्रृंगार तथा बिरह-सूचक, दूसरी अध्यात्मरस संयुक्त, उपदेशपरक, और तीसरी रचना जीवन-चरित-सम्बन्धी है। इनमें अब्दुलरहमान की कृति सन्देशरास प्रथम प्रकार की रचना है, जो महत्वपूर्ण है। इसमें एक विरहिणी नायिका का विरह-सूचक-सन्देश विरही पति के पास पहुंचाना का उपक्रम दर्शाया है। जैसा कि उस ग्रन्थ के निम्न दोहों से स्पष्ट है:—

जसु पवसंतण पवसिआ मुइअ विओहण जासु।
लज्जिजइ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥ ३७॥

'हे पथिक, जिसके प्रवास करते हुए प्रवास नहीं किया और न जिसके वियोग से मरी ही, उस प्रिय को संदेश देती हुई लज्जित हो रही हूं।'

आगे नायिका उस पथिक से कहती है 'सन्देश बहुत विस्तृत है परन्तु मुझसे कहा नहीं जाता। जो कनगुरिया की मुंदरी (अंगूठी) थी वह बांह में समाजाती है[७] इससे उसके विरह-सम्बन्धी परिताप का अन्दाज लगाया जा सकता है।

---

५. नच्चिज्जइ जिणपय सेवयहिं, किउ रासु अंबादेवियहिं।
—जंबू स्वामिचरित प्रशस्ति

७. संदेसडउ सवित्थरउ, परमइ कह णु नजाइ।
जो कालं गुलि मूंदउउ, सो बाहडी समाई ॥
—सन्देश रासक

दूसरी रचनाएं आध्यात्मरस का संयुक्त है, जिनमें राग से विराग उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। उनमें आत्म सम्बोध जनक उपदेश की प्रधानता है। जैसा कि कुवलय माला के 'उक्तचर्चरीरास' में अंकित है। देव भक्ति रूप रचनाएँ भी जहां देव में अनुराग वर्धक है वहां देह भोगों से विराग की भी-सं-सूचक हैं। इसीसे उनकोगणना अलग नहीं की है। आध्यात्मिक रचनाओं में कविविनयचन्द्र का 'चूनडीरास' निर्भर पंचमी कहा रास तथा पंडित योग-देव का 'सुव्रतानुप्रेक्षाप्रेक्षारास' और अल्हिग का अनुप्रेक्षा रास आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं। कवि लक्ष्मीचन्द्र का दाहा, अनुप्रेक्षारास भी महत्वपूर्ण कृति है, जो संवेग-निर्वेदभाव की सां सूचक है। इन रचनाओं में ससार और शरीर के स्वरूप का निर्देश करते हुए वैराग कि अनुपम छटा को जागृत किया गया है। और कर्मास्तव तथा कर्मबन्ध से छुड़ाने का यत्न किया गया है। साथ ही बारह भाव-नाओं द्वारा वस्तु तत्व का विवेक करते हुए आत्मा को वैराग्य की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है।

तीसरी प्रकार की रासक रचनाओं में किसी व्यक्ति विशेष राजा, देवी, देवता, या सामान्य पुरुष अथवा किसी साधु या सेठ का जीवन-परिचय अंकित मिलता है। उसका चरित भाग तो सुन्दर होता ही है और इसीलिए वह दूसरों के जीवन पर भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता, वह मानव जीवन के गुणों की सुरभि से सदा पाठकों को सुवासित करता रहता है। ऐसे अनेक रास लिखे गये हैं,जैसे जंबूस्वामिरास, बाहुबलिरास, सुकुमाल सामिरास पृथ्वी राजरासो आदि आदि। ये सब रासग्रंथ एक प्रकार के चरित रास हैं, जो एक व्यक्ति विशेष के जीवन-घटनाक्रम की मुख्यता से लिखे गये हैं, परन्तु उनमें से जैन चरितरासों में जीवन-घटनाओं के परिचय के साथ सांसारिक देह-भोगों से विरक्ति दिखलाते हुए आत्मसाधना की ओर ले जानेका प्रभावक प्रयास किया गया है।

जंबूस्वामी रास में भगवान महावीर के संघ में दीक्षा लेने जंबूकुमार का जीवन-परिचय गूंथा गया है, जो अंतिम केवली थे। उनके जीवन की पवित्रता और वैराग्य की कहानी बड़ी रोचक है। दूसरे बाहुबलिरास में आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के लघुभ्राता बाहु-बली का महत्वपूर्ण जीवन चरित अंकित किया गया है, इसमें भी युद्ध राज्यत्याग और उनके एक वर्ष के कठिन तपश्चारण का वर्णन है। और उसका परिणाम आत्म-विभूति की प्राप्ति है। सुकुमाल स्वामीरास में अवन्ती के सुकुमाल की जीवन-गाथा दी हुई है। पृथ्वीराजरासों में राजापृथ्वीराजचौहान का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है।

इनके अतिरिक्त 'मयणजुज्झ' रास में योगीश्वर आदिनाथ का काम से युद्धकर उसे जीतने का सुन्दर एवं सरस वर्णन है। रचना अतीव आकर्षक है। कवि देवदत्त अम्बादेवीरास स्तुति परक एक रचना अवश्य थी, परन्तु वह अनुपलब्ध होने से उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकना कठिन है।

इस तरह अपभ्रंशके रासा साहित्यका कुछ परिचय कराया गया है। आशा है विद्वान इस पर विशेष विचार करेंगे। और रासा साहित्य के प्राचीन इतिहास को खोजकर प्रकाश में लाने का कष्ट करेंगे।

अपभ्रंशके अतिरिक्त हिन्दी गुजराती और राजस्थानी भाषा में भी अनेक रासग्रन्थ रचे गए हैं, जिन पर कभी प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा। जिनकी संख्या चारसौ के लगभग होगी।

कीर्ति स्तम्भ, चितौड़गढ़

गुलाबचंद्र
जैन दर्शनाचार्य
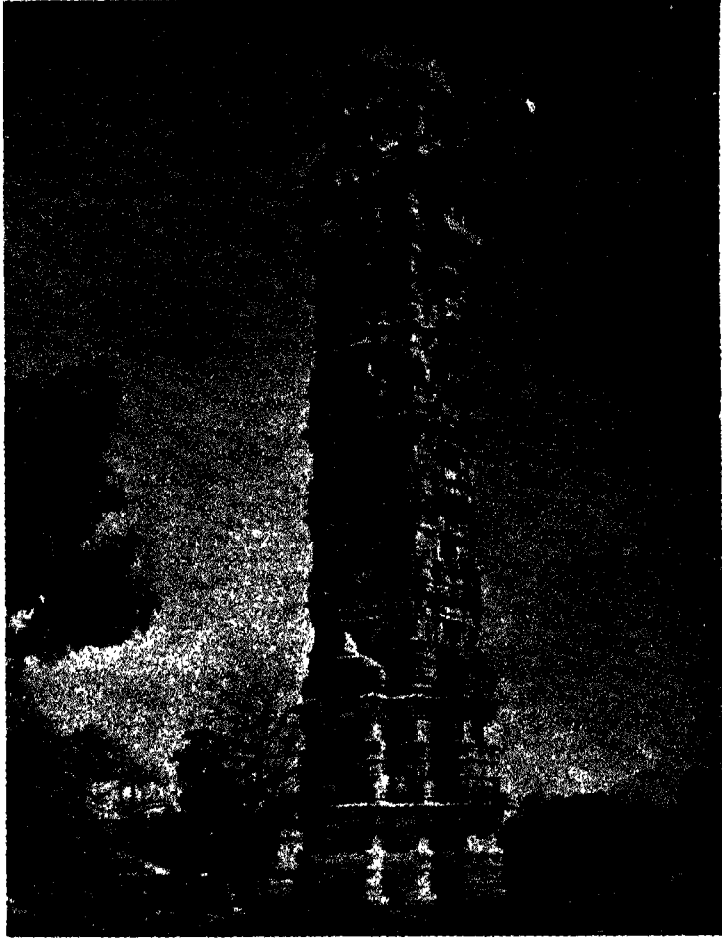
जैन धर्म में ध्यान का महत्त्व

ध्यान मन की एकाग्रता को कहते हैं। मन को निर्विषय बना लेना भी ध्यान है। सभी भारतीय धर्मों में ध्यान का बड़ा महत्व रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं लौकिक दृष्टि से भी उसका महत्व बहुत अधिक है। विचारों की एकाग्रता बिना मनुष्य का कोई काम अच्छी तरह नहीं हो सकता। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन धर्म में ध्यान के महत्व पर प्रकाश डाला है।

ध्यान मन की एकाग्रता को कहते हैं। मनको निर्विषय बना लेना भी ध्यान है। सभी भारतीय धर्मों में ध्यान का बड़ा महत्व रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं लौकिक दृष्टि से भी उसका महत्व बहुत अधिक है। विचारों की एकाग्रता बिना मनुष्य का कोई काम अच्छी तरह नहीं हो सकता। अच्छे न्यायाध्यक्ष, अच्छे वकील, चोटी के दार्शनिक और कलाकार आदि कोई भी एकाग्रता के बिना सफल नहीं हो सकते। एकाग्रता अपने आप में एक बहुत बड़ा संयम है। आज के जो महान् वैज्ञानिक हैं उनकी सफलता का रहस्य उनके मनकी एकाग्रता है।

जैन शास्त्रों में सामायिक के नाम से एक दैनिक कर्तव्य का निर्देश मिलता है। वह सामायिक मन की एकाग्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अगर मनुष्य को अच्छा गृहस्थ बनना है तो उसे अपने जीवन में एकाग्रता को महत्व देना होगा। चित्त की चंचलता को नष्ट करने के लिए ध्यान का आश्रय लिये बिना काम नहीं चल सकता।। वह विद्यार्थी विद्याभ्यास में अवश्य ही सफल होता है, जो चित्त को एकस्थ और एकनिष्ठ बनाने में अभ्यस्त हो चुका है। मनुष्य को प्रारम्भ से ही ऐसी आदत डालनी चाहिए जिससे वह किसी विषय पर लम्बे अर्से तक गहराई से विचार कर सके। इसके लिये शास्त्रों में सामायिक का विधान बतलाया गया है। यद्यपि सामायिक का उद्देश्य आत्म शुद्धि है किन्तु मनको एकस्थ बनाने में भी यह क्रिया बहुत बड़ी सहायक होती है। जो गृहस्थ साधक बनना चाहता है उसके लिये तो सामायिक एकान्त रूप से अनिवार्य है। किन्तु सामान्य मनुष्य के लिये भी इसकी बड़ी भारी उपयोगिता है।

जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक दृष्टि से ध्यान का सर्वांगीण वर्णन मिलता है। णाणसार के रचयिता श्रीयोगीराज पद्मसिंह ने लिखा है—

"पाहाणम्मि सुवण्णं कट्ठे अग्गी विणा पओगेहिं।
णजहा दीसंति इमो झाणेण विणा तहा अप्पा॥"

अर्थात् जैसे पाषाण में सुवर्ण और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के नहीं दीखती उसी प्रकार ध्यान के बिना आत्मा के दर्शन नहीं होते। ध्यान से ही आत्मा का शुद्ध प्रतिभास हो सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में ध्यान की सिद्धि के लिये कुछ मंत्रों का जाप बतलाया गया है, किन्तु मन स्थिर रखने के लिये केवल इतने से ही काम नहीं चल सकेगा। हमें अपने मन को एकाग्र करने के लिये जो उसमें उठने वाली रागद्वेषात्मक कल्पनायें हैं उनको दूर करने में लगजाना चाहिए। जितने जितने अंशों में हमारी व्यर्थ की कल्पनायें नष्ट होंगी उतने उतने अंशों में हम ध्यान की सिद्धि की

ग्रोर बढ़ते जावेंगे। मनुष्य के लिये रागद्वेष से उत्पन्न होने वाली इष्टानिष्ट कल्पनाओं को समूलत: नष्ट कर देना सरल काम नहीं है। हमको यह बात हृदयंगम करना है कि हमारे मन में जितनी कल्पनायें उठती हैं उनका ९९ प्रतिशत भाग बिलकुल व्यर्थ होता है। ये कल्पनायें शेखचिल्ली की तरह होती हैं, जागृत अवस्था में तो ये कल्पनायें चलती ही हैं, किन्तु स्वप्नावस्था में भी ये मनुष्य का पिंड नहीं छोड़तीं। इस प्रकार सब कल्पनाओं का आधार मनुष्यों का विकृत मन है। ऐसी कल्पनायें उत्पन्न न हों तो भी दुनियां में मनुष्य का काम चल सकता है और बड़ी अच्छी तरह चल सकता है। सच्चाई तो यह है कि ये कल्पनायें मनुष्य के मन को और भी विकृत, अशक्त और निर्बल बना देती हैं। जब ये कल्पनायें चिंता का रूप धारण कर लेती हैं तब उनका शरीर पर भी बहुत बुरा असर होता है। आत्मा की तो बात ही जुदा है। इसीलिए चिन्ता को चिता के समान कहा गया है।

सामान्यतया लोगों ने यह समझ रखा है कि ध्यान की क्रिया एक धार्मिक क्रिया है। और बाह्य जीवन के साथ कोई सबंध नहीं है और न उसकी कोई उपयोगिता ही है। किन्तु यह मानना गलत है। इसके विपरीत यह मान कर चलने वाले लोग बड़े नफे में रहते हैं, कि जो आध्यात्मिक होता है वह लौकिक व व्यवहारिक भी जरूर होता है। धर्म का आध्यात्मिक रूप उसके बाह्य रूप का कभी विरोधी नहीं है। ध्यान के विषय में भी यही बात है। वह केवल परलोक के लिए नहीं है और न वह परलोक की चीज ही है। हमने धर्म को केवल परलोक के लिए मानकर अब तक काफी हानि उठाई है और इसीलिए वह हमें मिलता भी नहीं है।

ध्यान के लिये न किसी खास स्थान व आसन की आवश्यकता है और न किसी माला एवम् मुद्रा की। जो इन झगड़ों में उलझ जाते हैं उनको ध्यान की प्राप्ति कभी नहीं होती। इनको ध्यान का आलम्बन मानना भी कोई खास महत्व नहीं रखता। इसीलिये आचार्य अमित गति ने कहा है—

"न संस्तरों भद्र समाधि साधनम्" अर्थात् हे मित्र समाधि का साधन आसन नहीं है। हमारा मन बड़ा चञ्चल है। जैसे जलाशय में तरंगे उठती हैं वैसे मन में भी तरंगे उठती हैं, यह काम प्रतिक्षण होता रहता है। जब तक कोई मन पर अर्थात् भाव मन पर विजय न पाले तब तक इन तरंगों का उठना समाप्त नहीं होता। मनको जीतना ही वास्तविक राजयोग है और यही ध्यान का फल है। मन को जीतने के लिये जो महज शारीरिक क्रिया की जाती है, जिसे प्राणायाम भी कहते हैं वह एक प्रकार का हठ योग है। हठयोग से चाहे कितनी भी सिद्धियां क्यों न प्राप्त हो जायं वह आत्मिक बंधन काटने के लिये कभी उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इसलिये जैन शास्त्रों में रागद्वेषात्मक कल्पनाओं को जीतने के लिए जितना जोर दिया गया है उतना प्राणायाम पर नहीं दिया गया है।

जैन शास्त्रों में दो मुख्य ध्यानों का वर्णन है। एक धर्म्मध्यान और दूसरा शुक्ल ध्यान। वे ही दो प्रशस्त ध्यान है। ये ही आध्यात्मिक ध्यान कहलाते हैं। इन दोनों में भी मुख्यता शुक्ल ध्यान की है। यही मुक्ति का साक्षात् कारण है। धर्म्म ध्यान भी इसलिये प्रशस्त है कि वह शुक्ल ध्यान के लिये भूमिका तैयार करता है। जैन शास्त्रों के अनुसार यह भूमिका सातवें गुणस्थान तक चलती है। इस ध्यान के भी अनेक भेद हैं। इन भेदों में मनुष्य की श्रद्धा मिथ्या मार्ग पर भटकते हुए लोगों को सन्मार्ग पर लाने का विचार एवम् नाना प्रकार के कर्म जन्य विपाकों से सन्तप्त मानव पर सहानुभूति की भावनायें आदि अनेक विषयों पर चिंतन चलता है। जैन शास्त्रों में धर्म्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान इस प्रकार चार अथवा दस भेद बतलाये गये है। ये सारे भेद इन्हीं विषयों में गर्भित हो जाते हैं।

जब धर्म्म ध्यान की भूमिका समाप्त हो जाती है तब शुक्ल ध्यान का प्रारम्भ होता है। जैन शास्त्रों में इसे श्रेणी चढ़ना कहते हैं। ये श्रेणियां आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होती हैं, यहां ही से आत्मा और कर्म का सीधा

युद्ध शुरू होता है। इनमें कर्मों को दबाने की अथवा कर्मों के क्षय करने की प्रक्रिया चलती है। कर्मों को दबाना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि समूल उनका विनाश करना। क्रोध, मान, माया, लोभ एवम् इन सबका मूल मिथ्यात्व तथा इन कषायों की शाखा प्रशाखायें ही कर्म कहलाते हैं। ध्यान के द्वारा इन्हीं कर्मों को क्रमशः नष्ट किया जाता है। जिस ध्यान से कर्म नष्ट किये जाते हैं वह ध्यान शुक्ल ध्यान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

पांच ज्ञानों में सिर्फ श्रुत ज्ञान ही शुक्ल ध्यान का आधार है और कोई ज्ञान शुक्ल ध्यान का आधार नहीं बन सकता। केवल ज्ञान यद्यपि अत्यन्त विशद और विशाल ज्ञान है पर उसकी कोई पर्याय शुक्ल ध्यान नहीं बन सकती। शुक्ल ध्यान तो श्रुत ज्ञान की ही अविचल पर्यायें हैं, केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होने पर भी वह साध्य है किन्तु साधन नहीं। शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं, पृथक्त्व विचारवितर्क, विचार सूक्ष्म, क्रिया, प्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति। ये ही ध्यान मोक्षोपयोगी हैं क्योंकि इन्हीं से आत्मा का कर्मबंध छिन्न भिन्न होता है। पहला ध्यान आठवें गुण स्थान से ग्यारहवें गुण स्थान तक रहता है। दूसरा सिर्फ बारहवें गुण स्थान तक तीसरा तेरहवें और चौथा चौदहवें में होता है। इनमें प्रारम्भ के दो ध्यानों का आधार जैसा कि पहले किये दो श्रुतज्ञानी के ही होते हैं। अन्त के दो ध्यान क्रमशः तेरह और चौदहवें गुणस्थान वर्ती केवली के होते हैं। वास्तव में तो शुक्ल ध्यान के दो ही भेद हैं, क्योंकि अंतिम दो भेद को ध्यान के कार्य-कर्मक्षय की दृष्टि से कल्पित किये गये हैं, बात यह है कि केवल ज्ञानावस्था में एकाग्र चिन्ता निरोध नहीं होता जो कि ध्यान का मुख्य लक्षण है। ध्यान का संबंध मन से है अर्थात् मन से, किन्तु तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में भाव मन नहीं होता। भाव मन के लिये नोइन्द्रिय ज्ञाना वरण कर्म के क्षयोपशम का होना जरूरी है। परन्तु वहां उसकी सम्भावना ही नहीं है। इसलिए कि वहां पूरे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो चुका है। तीसरे ध्यान में अर्थात् तेरहवें गुणस्थान के अंत में योग की सूक्ष्म क्रियायें रहती है और उसे ही सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान कह दिया गया है। चौदहवें गुणस्थान में योग क्रिया बिल्कुल खत्म हो जाती है इसलिए वहां जिस ध्यान की कल्पना की गई है वह व्युपरत क्रिया निवर्ति है।

बारह तपों में ध्यान का स्थान सर्वोपरि है; क्यों कि वास्तविक तप यही है। अवशेष तप तो उसके मात्र साधन हैं और इसी दृष्टि से उसका महत्व भी है।

जैनों के द्रव्य संग्रह नामक ग्रंथ में ध्यान के अभ्यासियों के बारे में कहा गया है—

दुविहंपिमोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह ॥

अर्थात केवल ध्यान से ही मुक्ति के मार्ग की प्राप्ति हो सकती है फिर चाहे वह निश्चय मोक्ष मार्ग हो और चाहे व्यवहार मोक्ष मार्ग। यदि तुम्हें मोक्ष पाने की इच्छा है तो जरूर ही ध्यान का अभ्यास करो।

ध्यान में लवलीन होने का उपाय बतलाते हुए इसी ग्रंथ में कहा गया है—

मा मुज्झह, मारज्जह,
मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छहजइ चित्तं,
विचित्त झाणप्प सिद्धीए॥

नानाविध ध्यानों की सिद्धि के लिए यदि तुम चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो और द्वेष मत करो।

जैन शास्त्रों में ध्यान के चार भेद और भी हैं। ये चार भेद धर्म्यध्यान के हैं—पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत। पंच नमस्कारादिक पदों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान कहलाता है। भगवान् अरिहंत का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान के बारे में आचार्य अमित गति ने कहा है—

पिंडस्थो ध्यायते यत्र जिनेंद्रो हृं नकलमषः।
तत्पिंडपंचकध्वंसि पिंडस्थं ध्यानमिष्टते॥

अर्थात् अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य से समलंकृत आठ प्रतिहार्य सहित नरामर नमस्कृत शुद्धस्फटिक के समान शरीर वाले, महान् तेजस्वी घाति कर्म के क्षय से जिनको नौ लब्धियां प्राप्त हो चुकी हैं ऐसे पांच कल्याण को धारक, भगवान् अरिहंत का स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। पिंड अर्थात् शरीर में रहने वाले अरिहंत भगवान का ध्यान करना यह इसका शब्दार्थ है।

प्रतिमा या चित्र में परमेष्ठी के स्वरूप का आरोपण करके जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान कहलाता है। रूपस्थ ध्यान का अर्थ है प्रतिमा का ध्यान करना।

रूपातीत या अरूपस्थ का अभिप्राय सिद्धात्मा से है। सिद्धात्मा का ध्यान करना अरूपस्थ ध्यान कहलाता है क्योंकि वे शरीर रहित हैं इन चारों ध्यानों के क्रमश: अक्षरात्मक पद, पिंड अर्थात् शरीर में रहने वाले अरिहंत, प्रतिमा और सिद्ध ये चार ध्येय हैं।

पदस्थ ध्यान में अक्षर समूहात्मक नाना प्रकार के मंत्रों के द्वारा ध्यान किया जाता है। जैन शास्त्रों में सर्वाधिक महत्व अपराजित महामंत्र को दिया गया है इसी का नाम पंच नमस्कार मंत्र है। इसी को आधार बना कर सैकड़ों मंत्रों का निरूपण जैन शास्त्रों में मिलता है। जिनको नाना सिद्धियों का कारण बतलाया गया है। पिंडस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्व रूपवती इन पांच धारणाओं का समावेश हो जाता है। स्थानाभाव से इन धारणाओं का यहां विशेष विवेचन नहीं किया जा सकता।

संसार समुद्र से पार पहुँचने के लिए चित्त को शान्त और निराकुल बनाने के लिए भगवान् अरिहंत और सिद्ध आदि परमेष्ठियों का ध्यान करना आवश्यक है। अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन धर्म्यध्यान कहलाता है। चाहे धर्म्यध्यान हो चाहे शुक्ल ध्यान, दोनों ही ध्यानों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

मनुष्य की उन्नति के लिए जैन धर्म का चरित्र बहुत ही लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही ठीक, स्वतन्त्र, सादा तथा मूल्यवान है। ब्राह्मणों के प्रचलित धर्मों से यह एकदम भिन्न है। साथ ही साथ बौद्ध धर्म की तरह नास्तिक भी नहीं है।

—मेगास्थनीज, ग्रेक इतिहासकार

श्री बिरधीलालजी सेठी
जनरल मैनेजर राजस्थान बैंक, जयपुर।

जैनों की भावात्मक एकता

प्रारंभ में जैन संघ अविभक्त था, फिर इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर इस प्रकार दो संप्रदायों का जन्म हुआ। इसके बाद मूर्तिपूजा आदि अनेक विरोधों को लेकर श्वेताम्बर संप्रदाय में पहले स्थानकवासी और फिर उन्हीं में से तेरापंथ संप्रदाय का उदय हुआ। दिगम्बर संप्रदाय में से भी एक तारण पंथ संप्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इस समय जैनों के पांच संप्रदाय हैं, पर उनकी भिन्नता का कारण प्रायः उनका बाह्याचार अथवा बाह्य क्रियाएँ हैं जो द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव के कारण भिन्न भिन्न हो गई हैं। भगवान महावीर के मूल सिद्धान्त अहिंसा और अनेकान्तवाद इन सभी संप्रदायों को समान रूप से मान्य हैं। मुक्ति और मुक्ति का कारण, संसार और संसार का कारण तत्व व्यवस्था और पदार्थों का वर्गीकरण, व्रतों की परिभाषा, लोक विभाग, कर्म सिद्धान्त और कर्मों के भेद, सारी दार्शनिक एवं न्याय विषयक मान्यताएँ आदि अनेकों विषयों में कोई भेद नहीं है। इन सब संप्रदायों का दर्शन एक ही है। जैसे बौद्धों के योगाचार, माध्यमिक, सौत्रान्तिक और वैभाषिक ये चारों भेद भिन्न भिन्न चार दर्शन हैं, इस प्रकार दिगम्बर आदि पांचों भेद कोई भिन्न दर्शन नहीं हैं। स्त्री मुक्ति, शुद्र मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति, केवली कवलाहार आदि कुछ मान्यतायें ऐसी जरूर हैं जो कुछ भिन्नता की रेखा खींचती हैं। किन्तु इन मान्यताओं का महत्व आज इसलिये नहीं है कि मुक्ति का दरवाजा इस समय सभी के लिये बंद है। न इस समय दिगम्बरों को मुक्ति मिलेगी और न श्वेताम्बरों को। इस अध्यानुष्ठान की ओर ध्यान देना बिल्कुल अनावश्यक है।

ऐसी स्थिति में इन मतभेदों की बातें छोड़कर हमें अपनी भावात्मक एकता की ओर ध्यान देना चाहिये।

मतभेदों की बातें छोड़कर हमें अपनी भावात्मक एकता की ओर ध्यान देना चाहिये। यदि हम सब मिलकर लोक कल्याण के लिये अपनी शक्तियों का उपयोग करें तो हमारी भावात्मक एकता के सम्पन्न होने में क्षण मात्र का भी विलम्ब न हो।

यदि हम सब मिलकर लोक कल्याण के लिये अपनी शक्तियों का उपयोग करें तो हमारी भावात्मक एकता के सम्पन्न होने में क्षण मात्र का भी विलम्ब न हो। शास्त्रीय मान्यताओं में थोड़ा बहुत भेद तो हर एक संप्रदाय में होता है। स्वयं दिगम्बर संप्रदाय के शास्त्रों में इतने मत-भेद भरे पड़े हैं कि यदि उन सब मतभेदों का संग्रह किया जाय तो एक बहुत बड़ी जिल्द की जरूरत होगी। एक दिगम्बराचार्य दूसरे दिगम्बराचार्य से अनेक विषयों में तीव्र मतभेद रखते हैं। पौराणिक कथाओं में जो परस्पर मतभेद हैं उससे तो सभी स्वाध्याय प्रेमी परिचित हैं। ठीक यही हालत श्वेताम्बर संप्रदाय के शास्त्रों की भी है। वहां भी मतभेदों की गणना के लिये कई पोथे चाहिये। जब एक ही संप्रदाय के आचार्यों में विभिन्न मान्यताओं को लेकर तीव्र मतभेद हो सकते हैं तब भिन्न भिन्न संप्रदाय के आचार्यों में तो मतभेद स्वाभाविक ही है। हमें देखना यह है कि जब सब संप्रदायों की मूल मान्यतायें एक हैं तब छोटे छोटे मतभेदों का क्या महत्व है। आज हमें संसार के सब धर्मों के साथ समन्वय करना है किन्तु यदि हम अपने आप में ही भावात्मक एकता प्राप्त न कर सके तो दूसरे संप्रदायों के साथ कैसे समन्वय स्थापित कर सकते

हैं। हमें समूचे भारतीय राष्ट्र की ओर देखना चाहिये और इससे भी आगे समूचे विश्व की ओर भी हमें समन्वय की दृष्टि से देखना होगा।

यदि हम अनेकान्त शासन जैसे महान् समन्वय सूत्र पाकर भी अपने में भावात्मक एकता प्राप्त न कर सके तो यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा। इस दुर्भाग्य को साथ लेकर क्या हम समूचे राष्ट्र की भावात्मक एकता की बातें करने के अधिकारी हैं। हमें अनेकान्त शासन को सर्व प्रथम अपने जीवन में उतारना चाहिये तभी इसका गुणगान हमारे लिये उपयुक्त हो सकता है। जब हम यह मानते हैं कि दुनियां के सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता एवं उदार होना चाहिये तो सबसे पहिले हम अपने घर में तो सहिष्णु हो लें। जो घर में सहिष्णु नहीं हो सकते वे बाहर भी क्या सहिष्णु होंगे। हमें भगवान महावीर के सर्व धर्म सम भाव, सर्व जाति समभाव और सर्व जीव समभाव के महान सिद्धान्तों को जन मानस में उतारने के लिए सबसे पहिले इनका अमृतपान स्वयं ही करना चाहिये। हम देश में भावात्मक एकता स्थापित करने के तत्व को समझें इसी में हमारा भला है। भगवान महावीर ने तो हमें "सत्वेषु मैत्री" की शिक्षा दी है जो सारे विश्व में भावात्मक एकता का समर्थन करती है।

हमें जैनों की रचनात्मक एकता के लिए फिलहाल निम्नलिखित कदम उठाना चाहिए–

१. हमें अपनी किसी भी संस्था, भवन एवं मंदिर आदि के साथ दिगम्बर श्वेताम्बर आदि सांप्रदायिक नामों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

२. धर्मशाला, भवन या किसी भी ठहरने के स्थान में परस्पर किसी के लिए कोई बाधा या रुकावट नहीं होना चाहिए।

३. एक ऐसा धार्मिक पाठ्यक्रम होना चाहिए जो सभी जैन शिक्षण संस्थाओं में समान रूप से पढ़ाया जा सके।

४. दिगम्बर श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी और तारण पंथ इन सभी संप्रदायों में परस्पर भोजन एवं विवाह व्यवहार चालू कर देना चाहिए।

५. एक दूसरे के पर्वों, उत्सवों आदि में दिल खोलकर शरीक होना चाहिए।

६. शुद्रमुनि, ऋषिमुनि, तथा केवलि कवलहार आदि युग वाले विषयों को कभी मुंह पर नहीं लाना चाहिए।

७ एक दूसरे संप्रदाय के ग्रंथों का परस्पर पठन-पाठन आदि होना चाहिए। जैसे दिगम्बर संप्रदाय के महान न्याय ग्रंथ अष्ट सहस्त्री नामक ग्रंथ पर श्वेताम्बर महान विद्वान यशो विजय ने टीका लिखी है, वैसे विद्वानों द्वारा अब भी परस्पर ऐसा प्रयत्न होना चाहिए।

ये कुछ संकेत है। यदि हम वस्तुतः इन्हें क्रियात्मक रूप दे तो जैनों में परस्पर भावात्मक एकता स्थापित हो सकती है। इसमें कोई शक नहीं कि यही एकता हमारे समूचे राष्ट्र की भावात्मक एकता स्थापित करने में सहायक होगी।

श्री सौभागमल जैन

राजस्थान के उल्लेखनीय जैन मन्दिर

जैन धर्म संसार के अत्यन्त प्राचीन धर्मों में से एक है। कुछ खोजी विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि जब आर्य यहां आये उसके पहले भी यहां एक धर्म था और वह जैन धर्म था। इसकी प्राचीनता वेद व अन्य वैदिक ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है। जब मोहन जोदड़ो की खोजें पूर्ण रूप से हो चुकेंगी और वहां के भग्नावशेष अच्छी तरह पढ़े जा चुकेंगे तब इसकी प्राचीनता के विषय में और भी विशद प्रकाश पड़ेगा।

जैन धर्म के साथ साथ उसकी उपासना पद्धति भी काफी प्राचीन है। इस उपासना पद्धति के मुख्य आधार जैन मन्दिर और जैन प्रतिमायें हैं। सच कहा जाय तो जैन धर्म को जीवित रखने में इन मन्दिरों का बहुत कुछ श्रेय है। यद्यपि समय समय पर परिवर्तन होने के कारण जैनों की उपासना पद्धति में अनेक भेद हो गये पर इसका मन्दिरों पर कोई असर नहीं पड़ा। जैनों के कला पूर्ण मन्दिरों में जो अध्ययन सामग्री उपलब्ध होती है उसका महत्व कम नहीं है। जैन स्थापत्य कला का भारतीय स्थापत्य कला में खास स्थान है, यही बात मूर्ति कला के सम्बन्ध में भी है। जैनों के तीर्थ और मन्दिर सारे भारतवर्ष में सहस्त्रों की संख्या में है। कला की दृष्टि से इन मन्दिरों की कला का भारतीय कला साहित्य में उल्लेखनीय स्थान है।

जैनों के बहुत से मन्दिर तो पहाड़ों पर हैं। वे बड़े ही मनोज्ञ हैं। पहाड़ों पर मन्दिरों के अतिरिक्त विशाल प्रतिमायें भी हैं जो पहाड़ों में ही उकेरी गई है। जगत प्रसिद्ध गोमटेश्वर बाहुबली की ५७ फुट की विशाल प्रतिमा संसार में अपनी सानी नहीं रखती। यह संसार के

जैन स्थापत्य कला का भारतीय स्थापत्य कला में खास स्थान है यही बात मूर्ति कला के सम्बन्ध में भी है। जैनों के तीर्थ और मन्दिर सारे भारतवर्ष में सहस्त्रों की संख्या में हैं। कला की दृष्टि से इन मन्दिरों की कला का भारतीय कला साहित्य में उल्लेखनीय स्थान है।

आश्चर्यों में से है। इसके विषय में अब तक अनेक विदेशी और भारतीय लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है।

देवगढ़, खजुराहो, पपौरा, चन्देरी, अहार, कुण्डलपुर, आदि स्थानों के जैन मन्दिर वास्तव में दर्शनीय हैं। आबू, चित्तौड़, जालोर, जैसलमेर, नागौर, रणकपुर, कम्मारिया, अटूणडी, केशरियानाथ, जैसलमेर, महावीरजी, सांगानेर और आमेर के मन्दिर अपने स्थापत्य एवं शिल्प कला के उत्कृष्टता की दृष्टि से अद्वितीय है। इनमें आबू के मन्दिर तो वास्तव में संसार के आश्चर्यों में है। इन मन्दिरों के विषय में प्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टाड ने यह लिखा है कि मैं ढूंढता था वही मिल गया। रणकपुर में धारणा साहू के द्वारा बनाया गया मन्दिर एक हजार से अधिक कला पूर्ण स्तम्भ वाला है। इन मन्दिरों को हम भारत की स्थापत्य एवं शिल्प कला का उत्कृष्ट नमूना कह सकते हैं।

सांगानेर का संघीजी का मन्दिर भी बहुत प्राचीन है और कला की दृष्टि से इसका अपना ही महत्व है। इनके

अतिरिक्त जयपुर का सिरमोरियों का मन्दिर, पटोदी का मन्दिर, बड़ा तेरापन्थी मन्दिर, और बड़े दीवानजी का मन्दिर, अनेक दृष्टियों से महत्व पूर्ण है। जयपुर के अनेक मन्दिरों का इसलिए भी महत्व है कि उनमें हस्त लिखित प्राचीन शास्त्र भण्डार है जयपुर के महावीर स्वामी के मन्दिर व सांगानेर के संघीजी का मन्दिर तथा बाहर के आमेर के नेमिनाथ स्वामी के मन्दिर में प्राचीन व कला पूर्ण प्रतिमायें है। ऐसी प्रतिमायें बड़े और छोटे दीवानजी के मन्दिर में भी हैं। कला प्रेमियों का कर्तव्य है कि इन मन्दिरों के अवश्य दर्शन करें।

महावीर तुम्हारा अभिनन्दन

(श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ)

तुम युग परिवर्त्त का महापुरुष !
तुम महा क्रांति के अग्रदूत !
तुम विश्व वंद्य ! पावन पुनीत !
तुम भारत के सच्चे सुपूत !
तुम से ही देश निहाल हुआ तुमको है शत शत वंदना।
घनघोर अन्धेरा छाया था
हिंसा की ज्वाला भभक रही
पशु-पक्षी की तो गणना क्या
नर-यज्ञ कुण्डियां धधक रही
मानव ने दानव रूप धरा था, सभी ओर दारुण क्रंदन ॥
अवतरित हुए तुम जगती पर
भू-मण्डल पर फैला प्रकाश
आशा की किरणें चमक उठीं
सब हुए प्रफुल्लित थे निराश
उद्धार विश्व का करने को तुम आये थे त्रिशलानन्दन।
फूंका जनजन के मानस में
शुचि सत्य अहिंसा—शंख नाद
'जीओ औ जीने दो' वाला
दे मन्त्र, सिखाया स्याद्वाद
अपरिग्रह का सन्देश सुना कर कर दिये सभी के पावन मन ॥

सांगानेर में गोदीकों के मन्दिर के वेदी

श्री सुरज्ञानीचंद
न्यायतीर्थ

क्या जैन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है

यह एक कटु सत्य है कि जैन साहित्य के प्रचार में सब से अधिक उदासीनता स्वयं जैनों ने दिखलाई है। जैन यदि उपेक्षा की दृष्टि से इसे न देखते और इसके प्रचार के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते तो अब तक कभी भी इसका ठीक रूप से मूल्याङ्कन हो गया होता। विभिन्न भाषाओं में लिखा गया विभिन्न विषयों का जैन साहित्य यदि जैनेतर विद्वान पाठकों के हाथों में पहुंचता तो वे इसकी विशेषताओं का अवश्य समादर करते और उनके द्वारा उनका रसास्वादन सामान्य लोग भी कर सकते। लोगों को जो यह ख्याल है कि जैन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि जैनों का काव्य एवं कथा साहित्य दार्शनिक एवं आध्यात्मिक साहित्य स्थापत्य कला, मूर्तिकला, आदि कला सम्बन्धी साहित्य लोगों के हाथों में नहीं पहुंचता। दूसरा कारण यह भी है कि जैन साहित्य के विषय में लोगों ने पहले से ही ये विचार बना रखे हैं कि यह केवल धार्मिक साहित्य है। वैसे तो कोई भी लेखक किसी न किसी धर्म का अनुयायी अवश्य होगा और उसकी रचनाओं में उस धर्म की मान्यताओं का प्रतिबिम्ब किसी न किसी रूप में अवश्य ही परिलक्षित होगा। वैदिक मुसलमान, ईसाई, आदि किसी भी धर्म का अनुयायी अपनी किसी भी रचना को अपने धर्म के प्रवाह से अछूता नहीं रख सकता। हम किसी भी रचना को पढ़कर चाहे उसके रचयिता की अन्य बातों का पता न लगा सकें पर उससे उसके धर्म का पता जरूर लगा सकते है। यद्यपि इसका अपवाद भी मिल सकता है किन्तु बहुत कम। कोई भी कालिदास, भवभूति, माघ, दण्डी, सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि की रचनायें पढ़कर सहज ही पता लगा सकता है कि कौन सी रचना किस धर्म के अनुयायी कवि की है। इसलिए जैन ग्रन्थकारों की रचनाओं पर यदि उनके धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा हो तो यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रभाव के कारण किसी जैन काव्य, जैन कथा, जैन पुराण, आदि को केवल धार्मिक साहित्य कह कर उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो यह बहुत अनुचित होगा। यह समझ में नहीं आता कि तुलसीदासजी की रामायण तो धार्मिक ग्रंथ नहीं है किन्तु जैन पउम चरिउ या पद्म पुराण जैनों का धार्मिक ग्रंथ है। जैसे रामायण है और किसी भी धर्म के अनुयायी को उसे केवल रामचरित समझकर पढ़ना चाहिये वैसे ही जैनों का पउम चरिउ को भी राम कथा समझ कर पढ़ना चाहिए। उस में उसी प्रकार के अलंकार उसी प्रकार के रस और उसी प्रकार का कथा शिल्प है। यदि कोई भेद है तो केवल इतना ही है कि उसमें ग्रन्थ के सारे पात्रों को जैन

> जैन साहित्य की भारतीय वाङ्मय को बहुत बड़ी देन है। वह भारतीय साहित्य का पूरक है। यही बात बौद्ध साहित्य के विषय में भी है। हमें धर्मों से निरपेक्ष होकर ही साहित्य को देखना चाहिये। तभी हम उसके प्रति न्याय कर सकते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का जो कर्त्तव्य है उसकी ओर भी उनका ध्यान जाना चाहिए।

मान लिया गया है। जैसे कि बाल्मीकि रामायण या तुलसी रामायण में उन्हें ब्राह्मण धर्म के अनुयायी माना गया है। बौद्ध जातकों में उनका अन्य ही रूप सामने आता है। हम कबीर के रहस्यवाद को यह कहकर उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते कि वह अमुक धर्म का अनुयायी है। तब क्या कारण है कि हम बनारसीदास के रहस्य वाद को कवि के जैन होने के कारण उतना महत्व नहीं देते। कवि तो कवि है उसका कोई सम्प्रदाय नहीं होता। कवियों का सम्प्रदाय ही उसका सम्प्रदाय है। कवियों के सम्प्रदाय में ईश्वर को जगत का कर्त्ता माना जाता है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानता पर जैन धर्म के अनुयायी कवि को अपने काव्य में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता अवश्य मानना पड़ेगा। इसका मतलब यह है कि कवि धर्म, देश एवं काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं होता। वह तो सबका है जो उसे उसके साथ धर्मों का विशेषण लगा कर पहचानना चाहते हैं वे इसे सीमाओं में बांध देते हैं और यह एक बहुत बड़ी गलती है।

यही बात दार्शनिक के विषय में भी है। चाहे किसी भी धर्म का मानने वाला दार्शनिक हो। वह तो दार्शनिक है इसलिए किसी धर्म का उससे सम्बन्ध जोड़कर उसकी साहित्यिक सेवाओं की उपेक्षा करना किसी भी दृष्टि से न्याय नहीं है। जब संस्कृत साहित्य के उल्लेख का अवसर आये तो हमारा ध्यान उन सब रचनाओं की ओर जाना चाहिए जो संस्कृत भाषा में लिखित हैं। फिर चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के कृतिकार के द्वारा लिखी हुई हों। यही बात हिन्दी अपभ्रंश, प्राकृत, आदि सभी संसार की भाषाओं के सम्बन्ध में भी है। बात यह है कि साहित्य या भाषा का सम्बन्ध किसी धर्म से जोड़ना उनके प्रति एक प्रकार का अन्याय है। यह अन्याय तब होता है जब हमारे मन में साम्प्रदायिकता सजग हो जाती है।

जैन साहित्य की भारतीय वाङ्मय को बहुत बड़ी देन है। वह भारतीय साहित्य का पूरक है। यही बात बौद्ध साहित्य के विषय में भी है। हमें धर्मों से निरपेक्ष होकर ही साहित्य को देखना चाहिये। तभी हम उसके प्रति न्याय कर सकते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का जो कर्त्तव्य है उसकी ओर भी उनका ध्यान जाना चाहिए विद्वानों एवं विचारकों के पास जैन साहित्य पहुंचाने की जिम्मेवारी स्वयं जैनों की है। इस जिम्मेवारी की अब तक घोर उपेक्षा हुई है। और यही उपेक्षा जैन साहित्य के प्रचार में बाधक बनी है। साहित्य एक प्रकार का प्रकाश है। इस प्रकाश को जो अंधेरे कमरों में बन्द किये हुए रखते हैं वे स्वयं उस प्रकाश एवं मानव जाति के प्रति बहुत बड़ा अन्याय करते हैं।

अमृतलाल
शास्त्री दर्शन साहित्याचार्य, वाराणसी

नेमिनिर्वाण-एक अध्ययन

भारतीय संस्कृत साहित्य में जैन साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। यों साहित्य में सभी विषयों का समावेश हो जाता है, किन्तु प्रस्तुत लेख में केवल काव्य साहित्य की चर्चा अपेक्षित है।

समस्त वाङ्मय की रचना मानवमात्र के हित की दृष्टि से की गई है, किन्तु अन्य शास्त्रों की कठिनाई को देख कर आचार्यों ने मानव को सरल रीति से शिक्षा देने के लिए काव्य शास्त्र का निर्माण प्रारम्भ किया। अन्य शास्त्र एक-एक विषय की शिक्षा देते हैं, पर काव्य शास्त्र संक्षेप में सभी शास्त्रों का सार, सरल और सरस शब्दों में बतलाने का प्रयत्न करता है। चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् श्री विश्वनाथ ने जो चौदह भाषाएं जानते थे—लिखा है "अल्प बुद्धिवालों को भी चूंकि काव्य से ही सुख पूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के फल की प्राप्ति, बिना परिश्रम के ही हो जाती है, अत: मैं उस (काव्य) के स्वरूप का निरूपण कर रहा हूँ"—

चतुर्वर्गफल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
चतुर्वर्गफल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

साहित्य दर्पण १—२

दसवीं शताब्दी के विद्वान् श्री मम्मट ने—जो वाग्देवता के अवतार माने जाते हैं—लिखा है "काव्य यश का जनक, अर्थ का उत्पादक, व्यवहार का बोधक, अमङ्गल का विनाशक, शीघ्र ही आनन्द का जनक और स्त्री के समान सरसता से उपदेश प्रदान करने वाला है।"

> आज लोग धर्मशास्त्र को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं। धर्मशास्त्र में वर्णित शिक्षाएं यदि काव्य के माध्यम से दी जायें तो पाठकों के ऊपर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत महाकाव्य में बीच-बीच में सुन्दर धार्मिक शिक्षाएँ दी हैं जो मानव को प्रभावित करने वाली हैं। लेखक ने इस लेख में नेमि-निर्वाण काव्य पर खोजपूर्ण प्रकाश डाला है।

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतर क्षत ये।
सद्यः परनिर्वृतयु कान्तासम्मित तयोपदेश युजे ॥"

काव्य प्रकाश १—२

मम्मट के पूर्व वर्ती अलङ्कारिकों ने भी यही बात लिखी है, और अग्नि पुराण और विष्णु पुराण में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

जिस बात में रस हो-जो बात सरस हो उसे सभी सुनना चाहते हैं न कि नीरस को। व्याकरण आदि शास्त्रों की बातें नीरस होती हैं, जब कि काव्य की बातें रस से ओत प्रोत होती हैं। सरस वाक्य का ही नाम तो काव्य है। जैसा कि विश्वनाथ कवि राज ने लिखा है—'वाक्य रसात्मक काव्यम्'—साहित्य दर्पण १-३

सरस होने के कारण ही काव्य 'काव्यशास्त्र' कहे जाने लगे और इनका खूब ही प्रचार हुआ। पौराणिक कथाओं का आश्रय लेकर खण्ड काव्य, महाकाव्य, नाटक,

चम्पू, आख्यान, आख्यायिका और गद्य काव्यों की रचना की गई। कुछ विद्वानों ने कल्पित कथाओं को आधार बनाकर भी काव्य रचे। फलतः चारों ओर यह सुनाई पड़ने लगा कि 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'।

अलङ्कार शास्त्र में नौ रसों की चर्चा आती है। उन रसों में श्रृङ्गार प्रधान माना जाता है–'श्रृङ्ग प्राधान्यम् ऋच्छति गच्छतीति श्रृङ्गारः'। इसी रस का पुट देकर कुछ कवियों ने ऐसे काव्यों का भी निर्माण किया, जिन्हें पढ़कर मानव का मन विकृत हुए बिना नहीं रह सकता। राजा महाराजा भी ऐसे काव्यों को पसन्द करने लगे। फलतः काव्यों से लाभ के स्थान में हानि होने लगी। यह देखकर कुछ लोग यह स्पष्ट कहने लगे कि 'शास्त्र काव्यने हन्यते' और कुछ लोग तो यहां तक कहने लगे कि 'रण्ड गीतानि काव्यानि'। ऐसी स्थिति में जैन विद्वानों ने बहुत सतर्क होकर काव्य रचना की। जैन काव्यों को ध्यान से पढ़ने पर यह बात स्पष्ट ही समझ में आ जाती हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जैन काव्य में अनेक विशेषताएं ज्ञात हो जाती हैं।

महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' की रचना की। यह खण्ड काव्य उनकी प्रतिभा का अद्भुत नमूना है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। किसी मार्ग का इतना सरस वर्णन करना, कालिदास के लिए ही सम्भव था। कालिदास की लेखन शैली पाठक के हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेती है। किन्तु कालिदास ने अपनी रचना में श्रृङ्गार की अति कर दी। इसीलिए इनका मेघ दूत जब भग वज्जिनसेनाचार्य के सामने पहुंचा तो उन्होंने शान्त रस का पुट देकर उसका काया कल्प ही कर डाला उसे पार्श्वनाथ का चरित बना दिया। मेघदूत के जिन पद्यों से राम टेक मे लेकर कैलास पर्वत तक का मार्ग ज्ञात होता है, उन्हीं से जैनों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन वृत्त का परिचय मिलना एक असम्भव सी बात है। किन्तु जिनसेन ने मेघदूत की समस्या पूर्ति कर के इसे सम्भव बना दिया। मेघदूत में विप्रलम्भ श्रृङ्गार है, जब कि उसकी समस्यापूर्ति–पार्श्वाभ्युदय में शान्त रस।

महाकवि धनंञ्जय ने रामायण और महाभारत की कथा का आधार लेकर 'राघव पाण्डवीयम्' महा काव्य की रचना की। इस महाकव्य में श्लेष का चमत्कार आरम्भ से अन्त तक है। एक अर्थ से राम-कथा और दूसरे से पाण्डव–कथा निकलती है। प्रत्येक श्लोक से दो–दो अर्थ निकलते हैं। इसीलिए इस महाकाव्य का दूसरा नाम 'द्विसन्धानम्' है, जो विद्वतसंसार में प्रचलित है। इस महा काव्य में आदि से अन्त तक वेदर्दी रीति का आश्रय किया गया है।

बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरित' की, जिसका दूसरा नाम 'द्वयाश्रयकाव्य' है, रचना की इसके प्रारम्भ के बीस सर्गों में संस्कृत और अन्त के आठ सर्गों में प्राकृत भाषा का आश्रय किया गया है। हेमचन्द्र ने इससे अपने संस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के उदाहरणों को प्रदर्शित किया है।

इसी तरह के और भी अनेक जैन काव्य प्रकाशित हो चुके हैं जो अपनी विशेषताओं के कारण विद्वत्संसार में समाहित हैं। 'नेमिनिर्वाणम्' उन्हीं महा काव्यों में से एक है। यह महाकाव्य ऊपर लिखे तीन काव्यों की शैली से विभूषित नहीं है, किन्तु इसमें अनेक विशेषताएं हैं, जो अन्य काव्यों में नहीं पाई जातीं।

लेखक का परिचय

नेमि निर्वाण के लेखक ने अपने महा काव्य के अन्त में संक्षिप्त परिचय दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे अहिच्छत्र के निवासी थे। उनकी जाति पोरवाड थी। उसके पिता का नाम छाहड और उनका स्वयं का नाम वाग्भट था ––

"अहिच्छत्र पुरोत्पन्न प्राग्वाट कुलशालिनः।
छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्धं वाग्भटः कविः॥"

(हस्तलिखित प्रति के आधार से)

इनका अनुमानित समय ग्यारहवीं शताब्दी है

नाम में भ्रम

वाग्भट के नाम के अनेक कवि हुए हैं, जिनके नाम के बारे में विद्वानों को भी भ्रम [1] हो जाता है। किन्तु पिता का नाम ज्ञात होने से उनके बारे में उत्पन्न हुआ भ्रम दूर हो जाता है। प्रस्तुत कवि के पिता का नाम छाहड था, जैसा कि ऊपर के पद्य से स्पष्ट है। काव्यानुशासनकार के पिता का नाम नेमिकुमार, वाग्भटालङ्कार के कर्ता के पिता का नाम सोम और अष्टाङ्ग हृदय के लेखक के पिता का नाम सिंहगुप्त था। विशेष जानकारी के लिए इनके ग्रन्थ और श्रद्धेय प्रेमीजी का इतिहास देखिये।

ग्रन्थ का विषय

प्रस्तुत महाकाव्य के पन्द्रह सर्गों में जैनों के बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जीवन वृत्त वर्णित है। उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पांच कल्याणों में अन्तिम निर्वाण मुख्य है, अतः इसी के आधार पर प्रस्तुत महा काव्य का नाम 'नेमि निर्वाणम्' रखा गया है।

रस, रीति और गुण

प्रस्तुत महाकाव्य में शान्तरस है। यों बीच-बीच में प्रसङ्गवश और रस भी हैं, किन्तु वे सब अङ्ग (गौण) हैं शान्त रस अङ्गी (प्रधान) है। रीति वैदर्भी है। आरम्भ से अन्त तक प्रस्तुत ग्रन्थ में असमस्त पदों का प्रयोग किया गया है। कहीं समस्त पद भी हैं, किन्तु लम्बे लम्बे समस्त पद नहीं है। ग्रन्थ में आदि से अन्त तक प्रसाद और माधुर्य इन दो गुणों का सम्मिश्रण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अलङ्कार शास्त्र के अनुसार शान्त रस के साथ इन्हीं दो गुणों का होना उचित है।

प्रस्तुत महाकाव्य की विशेषताएं

(१) भगवान् नेमिनाथ के चचेरे भाई भगवान् कृष्ण थे। कृष्ण के ऊपर ब्राह्मण कवियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें कुछ महाकाव्य भी हैं। 'शिशुपालवध' इन में से एक है। इसके लेखक महाकवि माघ थे। इनका समय लगभग आठवीं शताब्दी है, क्योंकि इनके महाकाव्य के 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः' इत्यादि पद्य नवमी शताब्दी में निर्मित ध्वन्यालोक में उद्धृत हैं। यह काव्य भारवि के काव्य (किरातार्जुनीयम्) के बाद लिखा गया है, किन्तु उससे अच्छा है। मल्लिनाथ ने इसका बहुत समय तक अध्ययन कया था—'माघे मेघे गतं वयः'। काव्य सभी दृष्टियों से अच्छा है। किन्तु 'शिशुपाल वध' इस नाम में 'वध' उचित नहीं जचता जान पड़ता है। इसीलिए विद्वत्संसार में इस महाकाव्य का 'माघ' नाम प्रचलित हो गया है। वाङ्भट ने देखा भगवान कृष्ण के बारे मे तो माघकवि महाकाव्य लिख चुके हैं, किन्तु

---

१. सिद्धान्त शिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर लिखते हैं—

"......साहित्यिक क्षेत्र में वाग्भट का अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान है। वाग्भटालङ्कार, काव्यानुशासन, नेमिनिर्माण महाकाव्य, ऋषभदेवचरित, छन्दोनुऽशासन और आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाङ्ग हृदय आदि ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट माने जाते हैं। इन सब के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्तियों ने इनकी रचना की है, इस विषय में मतभेद है। कुछ लोग वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय दो वाग्भट हुए हैं, ऐसा मानते हैं। उनके मत में प्रथम वाग्भट केवल वाग्भटालङ्कार के निर्माणक है और काव्यनुशासन, ऋषभदेव चरित तथा छन्दोनुशासन इन तीन ग्रन्थों को ये लोग दूसरे वाग्भट की रचना बतलाते हैं। किन्तु नेमि निर्वाण महाकाव्य तथा आयुर्वेद की अष्टाङ्ग हृदय संहिता इन में से किस वाग्भट की कृति है इस विषय पर ये लोग प्रकाश नहीं डाल सके हैं। वास्तव में तो इन सब ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट नाम के एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।"

—काव्य प्रकाश भूमिका पृ० ८०
(ज्ञान मण्डल, वाराणसी से प्रकाशित संवत् २०१७)

उनके बड़े भाई नेमिनाथ के बारे में किसी ने नहीं लिखा, इसी कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने 'नेमि निर्वाणम्' महाकाव्य लिखा। 'वध' अमङ्गल सूचक है, अतः वाग्भट ने अपने महाकाव्य का मङ्गल सूचक 'नेमिनिर्वाण' नाम रखा। यह प्रस्तुत महाकाव्य की पहली विषशेता है।

(२) प्रस्तुत महाकाव्य में प्रारम्भ के चौबीस पद्यों में क्रमशः २४ तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है, जिनके पढ़ने से उन (तीर्थङ्करों) का विराग होना व्यक्त होता है। जैनेतर काव्यों के प्रारम्भ में ऐसे भी मङ्गल श्लोक हैं, जिनसे उनके परमाराध्य देवों की सरगता [1] व्यक्त होती है। विरागता ही मुक्ति की जननी है और सरागता संसार की, इसीलिए जैन ग्रन्थों में विरागता या वीतरागता की महिमा वर्णित है। इसका पुट प्रस्तुत महाकाव्य के मङ्गल पद्यों में भी है। यह इसकी दूसरी विशेषता है।

(३) महाकाव्य के वर्णनीय विषयों में अलङ्कार शास्त्र के अनुसार राजा और रानी का वर्णन आवश्यक है, जैसा कि अलङ्कार चिन्तामणिकार ने आचार्य जयसेन 'भूमुक्पत्नी' इत्यादि पद्य में सूचित किया है। रानी का वर्णन करते समय उसका नख-शिख शृंगार ब्योरेवार लिखा जाता हैं, यहां तक कि कुछ तो योनि तक का भी वर्णन कर डालते हैं। किन्तु प्रस्तुत महाकाव्य इसका अनुवाद है। इसमें नायिका का इस ढंग से वर्णन नहीं किया गया। यह इसकी तीसरी विशेषता है।

(४) काव्यों में नायक की अनेक पत्नियों का वर्णन मिलता है, किन्तु इस काव्य में वह भी नही है। प्रस्तुत महाकाव्य के नायक भगवान् नेमिनाथ हैं। उन्हें ब्याह के समय ही वैराग्य हो गया था, अतः वे बाल ब्रह्मचारी ही रह गये। उनके विरक्त हो जाने से राजुल भी विरक्त हो गई। शास्त्रीय दृष्टि से छः फेरे तक 'कन्या' व्यवहार होता है। राजुल का तो एक भी फेरा नहीं फिरा था, अतः उसका विवाह हो जाता तो भी उचित था, पर उसने विवाह नहीं करवाया। इस घटना का पढ़ने वालों के ऊपर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। आज के युग में लोग राग के सागर में गोते लगाते दृष्टि गोचर हो रहे हैं। अतः ऐसे काव्यों की आवश्यकता है जो जनता को रागसागर में डूब-मरने से बचा सकें। कवि प्रजापति के समान माना जाता है-'अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः'। कवि जनता की भावना को चाहे जैसा उभार सकता है। यदि वह स्वयं शृङ्गारी है तो जनता को शृङ्गारी और विरागी है तो जनता को भी विरागी बना सकता है। इस दृष्टि से आज के युग में नेमि निर्वाण महाकाव्य बहुत ही उपयोगी है। यह उसकी चौथी विशेषता है।

(५) आज लोग धर्म शास्त्र को उपेक्षा-दृष्टि से देखने लगे हैं। धर्म शास्त्र में वर्णित शिक्षाएं यदि काव्य के माध्यम से दी जायं तो पाठकों के ऊपर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत महा काव्य में बीच-बीच में सुन्दर धार्मिक शिक्षाएं दी हैं जो मानव को प्रभावित करने वाली हैं। उनमें अहिंसा की शिक्षा मुख्य है-"जो अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए प्राणियों का वध

---

१. चत्वारः प्रथयन्तु विद्रुमलता रत्नाङ्गुलि श्रेणयः
श्रेयः शोणसरोज कोरकरुचस्ते शाङ्गिणः पाणयः।
भालेष्वब्जभुवो लिखन्ति युगपद्ये पुण्यवर्णावलीः
कस्तूरीमकरी मकरीः पयोधर युगे गण्डद्वये च श्रियः॥
प्रसन्नराघवम् १-१

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाने क्रिया
तैस्तै र्बन्धुवधूजनस्यवचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नेव सङ्गमे
संसेहत्फलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तुवः॥
रत्नावली १—२

करता है, वह दुष्ट जाड़े से बचने के लिए निश्चय ही धधकती हुई आग में प्रवेश करता है। जैसे अग्नि में प्रवेश करने से दुख: होता है इसी तरह हिंसा करने से भी दुख होता है, क्योंकि हिंसा सभी प्रकार के दुःखों का उदय कराने के लिए मूल मन्त्र है"—

"नि: शेष दु:खोदय मूलमन्त्र
यो देह पुष्टयै वधमादधाति ।
नूनं स शीतार्ति भिदे दुरात्मा
प्रवेशमग्नी ज्वलिते करोति ।।"
नेमिनिर्वाण १३-१५

"यदि कोई हिंसा करता है तो उसके तप और दान करने के प्रयत्न व्यर्थ हैं, और यदि वह कभी भी हिंसा नहीं करता तथा न ही उसे आदर की दृष्टि से देखता है तो उसे तप और दान के लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता ?"

"वधं विधत्ते यदि जातु जन्तुरलं,
तपोदान विश्राम यत्नैः ।
तमेव चेन्नाद्रियते कदाचिदलं,
तपो दान विधान यत्नै ।।"
वही १३-१८

"यदि कोई व्यक्ति सैकड़ों तप करले और निरन्तर दान भी देता रहे किन्तु यदि उसके मन में भी कभी हिंसा का भाव उत्पन्न हो जाय तो उसकी सब तपस्याओं और दान पर पानी फिर जाता है।

"तनोतु जन्तु: शतशस्तपांसि,
ददातु दानानि निरन्त राणि ।
करोति चेत्प्राणिवधे ऽभिलाषं,
कर्पानि सर्वाण्यपि तानि तस्य ।।"
वही १३-१८

दया अमृत के समान है और हिंसा मद्य के। यद्यपि ये दोनों ही आत्मा रूपी महा समुद्र में उत्पन्न होती हैं, किन्तु इन दोनों में से एक (कृपा) मानव को अमर बनाने में कारण और दूसरी (सुरा) उसे कुगतियों में गिराने वाली मूर्च्छा प्रदान करती है—

"कृपा सुधेवात्म सुधाम्बुराशी,
हिंसा सुरेव द्वयमम्यु देति ।
एका नाराण ;ममरत्व हेतु रन्यातु,
मूर्च्छा पतनाय दत्ते ।।"
वही १३-२१

प्रस्तुत अहिंसा के विचार भगवान् नेमिनाथ के हैं, जो उनके मन में जूनागढ के बाड़े में घिरे हुए पशुओं के करुण क्रन्दन को सुनने से उत्पन्न हुए थे। इनके छोटे भाई भगवान कृष्ण गो रक्षा का समर्थन करते थे किन्तु भगवान नेमिनाथ की दृष्टि में सभी प्राणी रक्षणीय थे। यह बात प्रस्तुत प्रकरण के पढ़ने से बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। यह इसकी पांचवीं विशेषता है।

(६) छन्दों का प्रयोग

प्रस्तुत महा काव्य के सातवें सर्ग में आर्या आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, जिनकी संख्या चालीस से भी ऊपर है। श्लोकों में छन्दों के नाम भी कवि ने बड़ी कुशलता से दे दिये हैं, जिनका अर्थ प्रस्तुत कथा के साथ लगता चला जाता है। कहीं-कहीं तो छन्दों की विशेष बातें और परिभाषाएं भी आ गई हैं। जैसे—

"वृत्तं व्रजति न भङ्ग यदीयत त्वंक चेतसां विदुषाम् ।
जन्म भयास्तर सास्ते भान्त्येतस्मिन् गणाः ख्याताः ।।"
७-१

पहला अर्थ—इस रैवतक (गिरनार) पर्वत पर प्रसिद्ध साधुओं के सङ्घ विराजमान हैं। उनकी आत्मा जन्म आदि के भय से मुक्त है। जो विद्वान् हृदय से उनके स्वरूप का चिन्तन करते हैं, चरित्र उनका निर्मल हो जाता है।

१. "लक्ष्मैतत्सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः ।
षष्ठां ऽयं न लघू वा प्रथमे ऽर्धे नियतमार्यायः ।।
"षष्ठे द्वितीय लात्परके न्ले मुखलाच्च सयति पद नियमः ।
चरमे ऽर्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठांलः ।।"
वृतरत्नाकर २-१,२

दूसरा अर्थ—छन्द शास्त्र में जगण, नगण, मगण, भगण, यगण, सगण, तगण और रगण ये आठ गण प्रसिद्ध हैं। जो विद्वान् इन गणों के स्वरूप को हृदय से समझ लेते हैं, उनका छन्द, भङ्ग (छन्दो भङ्ग) नहीं होता।

"मुनिगण से व्या गुरुण युक्तार्या जयति सामुष्र।
चरणगतम खिलमेव स्फुरति तरां लक्षणं यस्याः।।७-२

पहला अर्थ—इस पर्वत पर आर्यिका जी विराजमान हैं। उनको मान्यता मुनियों के समान है। उनके साथ उनकी गुरु-प्रधान आर्यिका भी हैं। उनके चिह्न चरणायोग के अनुकूल हैं। आर्यिकाओं में वे सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्हें हमारा नमस्कार हो।

दूसरा अर्थ—आर्याछन्द, सभी छन्दों में उत्कृष्ट है—[आर्या तथैव भार्या........]। उसके पूर्वार्द्ध में सात गण (मुनि गण) और एक गुरू होता है[1]। उसके प्रत्येक चरण का पूरा का पूरा लक्षण कवि को अन्य छन्दों की अपेक्षा शीघ्र ही स्फुरित हो जाता है।

रघुवंश, कुमार सम्भव, किरात, शिशुमाल वध, नैषध, धर्मशर्माभ्युदय, द्विसन्धान, और चन्द्रप्रभ आदि प्रचलित महाकाव्यो में 'चण्डवृष्टि' छन्द का प्रयोग देखने में नहीं आया। प्रस्तुत महा काव्य के सप्तम सर्ग के छयालीसवें पद्य में इसका प्रयोग किया है। यह इसकी छठी विशेषता है।

(७) अलङ्कारों का चमत्कार।

प्रस्तुत महाकाव्य के प्रणेता को अलङ्कारों का पूर्ण ज्ञान था। वे उनके प्रयोग में अत्यन्त कुशल हैं। उन्होने अलङ्कार की परिभाषा को ध्यान में रखकर काव्य नहीं बनाया, किन्तु उनके काव्य में वे स्वयं आते गये। उनकी योजना के लिए कवि को स्वतन्त्र प्रयत्न नहीं करना पड़ा। यही कारण है जो वाग्भटालङ्कार के प्रणेता ने प्रस्तुत महा काव्य के पद्यों को अपनी कृति में उदाहरण रूप दिया। अभी तक उपलब्ध अलङ्कार ग्रन्थों में ऐसा एक भी नहीं, जिस में किसी एक ही ग्रन्थ से उदाहरण लिये गये हों। यह सौभाग्य केवल नेमि निर्वाण के प्रणेता को ही प्राप्त है। वाग्भटालङ्कार में दोषों का प्रकरण भी है, पर उसमें प्रस्तुत महा काव्य का एक भी उदाहरण नहीं, केवल अलङ्कार-प्रकरण में, विशेषतः यमक के प्रकरण में इसके पचीसों पद्य उद्धृत हैं। इससे ज्ञात होता है कि वाग्भटालङ्कार के प्रणेता की दृष्टि में प्रस्तुत महा काव्य सर्वथा निर्दोष था। यह इसकी सातवीं विशेषता है।

(८) उत्प्रेक्षाओं की विच्छित्ति।

अन्य अलङ्कारों की अपेक्षा उत्प्रेक्षा को विशिष्ट महत्व दिया जाता है। उपमा का प्रयोग आसानी से हो जाता है, पर उत्प्रेक्षा के प्रयोग में बड़ी कठिनाई पड़ती है। इस बात को वे ही समझ सकते हैं जो स्वयं सत्कवि हैं। प्रस्तुत महा काव्य में जो उत्प्रेक्षाएं की गई हैं, उनमें चमत्कार है। जैसे

एवं विधां तां निजराजधानीं निर्मापयामीति कुतूहलेन।
छाया छलादच्छजले पयोधौ प्रचेतसा या लिखितेव भाति ॥
१-३८

द्वारका पुरी समुद्र के बीच में है। समुद्र के स्वच्छ जल में उसकी छाया पड़ रही है। इसके ऊपर कवि की उत्प्रेक्षा (कल्पना) है कि वरुण ने उसका नकशा खींच लिया है, यह सोच कर कि मैं (वरुण) भी अपने लिए इसी तरह की राजधानी बनवाऊंगा। वरुण पश्चिम दिशा का स्वामी है। वह समुद्र में निवास करता है। यह कवि संसार में प्रसिद्ध है। इसी आधार से कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है। यह इसकी आठवीं विशेषता है।

(९) प्रस्तुत महाकाव्य के अन्त में भगवान नेमिनाथ की दिव्य देशना का संक्षेप में वर्णन है। अलङ्कार शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि काव्य कर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की शिक्षा देते हैं। मोक्ष पुरुषार्थ का सहायक धर्म पुरुषार्थ है। अतः काव्यों में इसका उपदेश होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत महा काव्य के अन्तिम सर्ग में इसका उपदेश है। मेरा ख्याल है जैन काव्यों में सबसे पहले वाग्भट ने ही इसे प्रारम्भ किया। द्विसन्धान महा काव्य प्रस्तुत महा काव्य से पहले बन चुका था, पर उसमें यह बात-अन्तिम सर्ग कर्मोपदेश नहीं है। प्रस्तुत महा काव्य है। बाद चन्द्रप्रभों

नेमिनाथ स्वामी की एक प्राचीन मूर्ति – दिगम्बर जैन नमियांजी, आमेर

चरित और धर्म शर्माभ्युदय आदि काव्यों के अन्तिम सर्गों में धर्मोपदेश का वर्णन है। जैनेतर काव्यों में यह बात दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रस्तुत महा काव्य की यह नवमी विशेषता है।

प्रस्तुत महा काव्य में भगवान नेमिनाथ के पूर्व भवों का वर्णन है। पूर्वभवों के पढ़ने से पाठक को यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्मों का बुरा फल होता है। इससे पाठक का आत्मा के आस्तिक्य वाद के ऊपर भी दृढ़ विश्वास हो जाता है। नायक की भवावली का वर्णन जैनेतर काव्यों में नहीं के ही बराबर मिलता है। महापुराण आदि जैन पुराणों में भवान्तरों का वर्णन मिलता है। मेरा ख्याल है कि भवान्तरों का वर्णन महा काव्य में वाग्भट ने पहले किया। इनके बाद इस शैली को वीर नन्दी और हरिचन्द्र आदि ने भी अपने महा काव्यों में अपनाया। इस विषय में अभी छान बीन की अपेक्षा है। यदि मेरा ख्याल ठीक है तो यह प्रस्तुत महा काव्य की दसवीं विशेषता है।

इसी तरह सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो और भी अनेक विशेषताएं ज्ञात हो सकती हैं। ज्ञात विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि नेमि निर्वाण महा काव्य उच्च कोटि के महा काव्यों में से एक है।

हीराचंद वैद

जैन कला चित्र दीर्घा (JAINA ART PHOTO GALLERY)

जैन मन्दिरों की कलापूर्ण झांकियां समय समय पर हम सबको ही देखने को मिलती हैं। पर उस समय हममें से बहुतों का दृष्टिकोण केवल धार्मिक ही रहता है। मंदिर की कला की प्रशंसा के आगे यदि निर्माता के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर दी तो बहुत हुआ। पर इतिहासकारों ने इसका दूसरा पक्ष भी देखा है और वह यह है कि आज हमारे राष्ट्रीय इतिहास की ये अमूल्य निधियां हैं। हजारों वर्ष पूर्व का इतिहास आज इन मन्दिरों के पीछे ही मुंह बोल रहा है। इन मन्दिरों की वास्तुकला, इनके बिम्ब, इनके शिलालेख यदि आज न होते तो न केवल जैन बल्कि भारतीय इतिहास भी आज नही के बराबर होता। आज ये मूर्तियां और मन्दिर ही हमारे इतिहास में हजारों वर्ष पूर्व तक हमको घुमा ले गये हैं। आज यह कह देना साधारण बात है कि इन मन्दिरों में व्यर्थ लाखों रुपया लगाया जाता है पर मेरी उनसे विनती है कि वे धार्मिक रूप को चाहे न देखें, पर उनके सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व का अवश्य मूल्यांकन करें।

जयपुर नगर के मध्य नगर की स्थापना के साथ ही स्थापित श्री जैनश्वे०तपागच्छ मंदिर(घीवालों का रास्ता,-जयपुर) के प्राङ्गण में ऊपर के विचारों को जानने व व समझने के लिये ही एक नया प्रयास किया गया है। राजस्थान के जैन मंदिरों की कला कृतियों को सुन्दर झांकियों व चित्रों के माध्यम से वहां सुसज्जित की गई है। यह एक नयी दृष्टि है व नया मोड़ भी। पर प्रयास सफल रहा है। यद्यपि यह काम और भी बडे स्तर पर होता तो अधिक व्यापक बनता पर एक सुप्रयास किसी भी स्तर पर हो अनुमोदनीय होना चाहिये।

करीब २२५ वर्ग में शीशे और चौखट में सुरक्षित रणकपुर, आबू, जैसलमेर लोद्रावा, केसरियाजी, कापरडा आदि तीर्थों के मन्दिरों की कलापूर्णछवियां काफी आकर्षण पैदा करती हैं। भगवान महावीर का जीवन सुन्दर चित्रों में अवश्य ही हमारे शासन नायक का परिचय प्राप्त करने के लिये काफी है।

यद्यपि अभी कुछ मास पूर्व ही इसका उद्घाटन हुआ है, पर थोडे समय में ही लोगों की रुचि इस ओर बढ़ी है। इस अवधि में कई विदेशी अतिथि जैन व अजैन बंधु इसे देख चुके हैं।

श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर

जयपुर के जैन दिवान

राजस्थान का इतिहास जैन इतिहास के बिना बिल्कुल अधूरा है। यहां के विभिन्न नगरों, छोटे बड़े कस्बों और गांवों में जैन सस्कृति, जैन कला एव जैन साहित्य की यत्र-तत्र बिखरी हुई प्राचीन सामग्री का यहां के इतिहास निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो शाखाओं के महापुरुषों ने इस प्रान्त की जो सेवाएं की है वे इतिहास के पृष्ठों में चिरस्मरणीय रहेगी। उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, बूंदी, कोटा, झालावाड़, जैसलमेर, डूंगरपुर आदि राजस्थान की सभी प्रमुख रियासतो मे राज्य के दिवान एवं अन्य उच्च पदों पर काफी जैन व्यक्ति रहे हैं और उनने राज्य की महत्वपूर्ण सेवाएं की है। उस समय दिवान दो प्रकार के होते थे जिनमें एक देश दिवान और दूसरे हुजूर दिवान। देश दिवान का अर्थ आज की भाषा में प्रधान मन्त्री और हुजूर दिवान से आशय विभिन्न विभागो के मन्त्रियो से था। प्रस्तुत लेख में जयपुर (ढूंढार) के जैन दिवानो के सबध में थोड़ा परिचय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

जयपुर का कछवाहा राजवंश काफी प्राचीन है और ११वीं शताब्दी से इस प्रान्त में अविच्छिन्न रूप से इसका दौर-दौरा रहा है। सर्वप्रथम इसकी राजधानी दौसा नामक नगर था जो आज भी जयपुर से ३५ मील दूर पूर्व की ओर अच्छा कस्बा है। इसके पश्चात् ११वीं शताब्दी में ही खोह [1] नामक स्थान राजधानी बना। इसके बाद रामगढ़ पर अधिकार हुआ और फिर १३वीं शताब्दी में आमेर पर जो जयपुर निर्माण से अर्थात् विक्रम सं० १७६४ से पूर्व तक राजधानी रहा। सन् १६४७ में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् जब देशी राज्य विलान हो गये तब तक जयपुर में कछवाहों का राज्य रहा। जयपुर नगर को बसाने वाले अद्भुत प्रतिभाशाली श्री सवाई जयसिंह थे। उनका जैनों के साथ निकटतम सम्पक था। इतिहासकार टाड् ने लिखा है [2] कि जैनियों को ज्ञानशिक्षा में श्रेष्ठ जानकर जयसिंहजी उन पर अत्यन्त अनुग्रह रखते थे। ऐसा भी प्रकट होता है कि उन्होंने जैनियों के इतिहास और धर्म के सम्बन्ध में स्वय शिक्षा प्राप्त की थी।

संवत् १०२३ में उक्त राजवंश नरवर (ग्वालियर) से इस प्रान्त में आया था। तभी से जैनों का राज्य-घराने से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और उन्होंने राज्य की वर्णनीय सेवाएं की है। कहा जाता है उस समय निरभैराम या अभैराम नाम का छाबडा गोत्रीय सज्जन महाराजा सोढ़देवजी के दिवान थे। यद्यपि उस समय से कोई क्रमबद्ध इतिहास हमारे सामने नहीं है, फिर भी जो जानकारी प्राप्त हुई है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि जैनियों की राज्य सेवाएं सदा स्मरणीय रहेगी।

हमें अब तक की खोज से जो जानकारी प्राप्त हुई है उससे जयपुर में करीब ५० जैन दिवानों के होने का पता लगा है। अभी यह खोज अधूरी ही है। सर्वप्रथम प्रामाणिक रूप से जिस व्यक्ति का परिचय मिला है वह है मिर्जाराजा जयसिंह (राज्यकाल सवत् १६७८ से १७२४ तक) के महामन्त्री मोहनदास भांवसा हैं। पर इस से पूर्व भी जैन आमात्यों के होने की कई किंवदन्तियां

---

१. जयपुर से ७ मील दूर पूर्व दक्षिण के कोने में है जो खोह (रैंबारियान) शांतिनाथजी की खोह के नाम से प्रख्यात है।

२. देखिए टाडराजस्थान पृष्ठ सं० ५८४ व वाके राजपूताना उर्दू पृष्ठ ६८२।

सुनी जाती हैं और उनमें सच्चाई भी है पर प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं होता और खोज की आवश्यकता है।

१. महामन्त्री मोहनदास

जैसा ऊपर लिखा है मिर्जाराजा जयसिंह आमेर के महामन्त्री थे। इनके पूर्वजों में सर्वप्रथम-जिस व्यक्ति का नाम मिलता है वे-सघी उदा थे। धार्मिक यात्रार्थ दूर देश में संघ चलाने वाले को संघी कहा जाता था। इनके लड़के मल्लिदास थे जो संघपति बने थे। मल्लिदास काफी प्रभावशाली व धार्मिक वृत्ति थे। संघ भार धुरन्धर जिनपूजा पुरन्दर, जिन प्रतिष्ठाकराणीकतत्पर आदि विशेषण इनके नाम के पीछे पढ़ने को मिलते हैं।[1] इनने विक्रम संवत् १६५६ में [2] दूधूनगर में बिम्ब प्रतिष्ठा कराई थी और दूधू, चोरू, बांदर सींदरी, सारखुण और अराई नामक पांच स्थानों में विशाल जिन-मंदिर बनवाये थे।

महामंत्री मोहनदास का जन्म १६५० के आस पास हुआ था। विवाह १६६३ में हुआ। ये धार्मिक वृत्ति थे। विक्रम संवत् १७१४ में इन्होंने आमेर में एक विशाल तीन शिखर का मंदिर बनवाया था। जो दो वर्ष में तैयार हुआ था और सं. १७१६ में उसकी प्रतिष्ठा हुई थी। यह विमल नाथ स्वामी का मंदिर था। महाराजा जयसिंह के मुख्य मंत्री रहते हुए इनने राज्य की काफी सेवा की थी। इनका शरीर धन पुत्रादिक सभी की सेवा में तत्पर थे। ये अम्बावती नगराधिकारी कहलाते थे। उक्त विमल नाथ स्वामी के मंदिर तत्कालीन शिलालेखों[3] में अंकित निम्न वाक्य बता रहे हैं कि ये कितने विशिष्ट व्यक्ति थे—श्री महाराजाधिराज श्री जयसिंहस्य मुख्य प्रधान अम्बावती नगराधिकारी जिन पूजा-पुरन्दर: सम्यक्त्वालकृत गात्रश्च विप्रदानेश्वर: जिन-प्रासादोद्धरण धीर: निजयश: सुधाधवली कृत विश्व: सार्थक-नामधेय: संघातिपति............।[3]

२. दिवान कल्याणदास

महामन्त्री मोहनदास के तीन पुत्र हुए—श्री कल्याणदास, विमलदास और अजितदास। श्री कल्याणदास दिवान थे। जेठ बुदि ६ सं० १७२३ को आगरा से श्री परकालदास ने शिवाजी को लाकर औरंगजेब के सामने खड़ा करने आदि का वर्णन करते हुए एक पत्र लिखा था जो आमेर के दिवान संघी कल्याणदास के नाम था। यह पत्र जयपुर के सरकारी रिकार्डों में है।

कल्याणदास के छोटे भाई अजितदास भी बहुत विशिष्ठ व्यक्तियों में थे। जयपुर का संघीजी का मंदिर १७९६ में इन्हीं ने बनाया था।

३. दिवान संघी हुकुमचन्द

उक्त महामन्त्री मोहनदास के वंश में ही आगे जाकर संघी हुकुम चंद दिवान हुए जिनका कार्यकाल १८८१ से १८९१ तक था। यद्यपि इस वंश में और भी दिवान होने के संकेत मिले हैं-पर पूरी जानकारी नहीं है। सं० हुकुमचंद को रावबहादुर का खिताब था—ये फौज मुसाहिब थे। सं. भूंथाराम के ये बड़े भाई थे। इनने लछमण डूंगरी (पानी का रिर्वायर) के पास तीनों नसियां स्थान पर एक विशाल मंदिर बनवाया जो संघीजी की नसियों के नाम से विख्यात है।

४–दिवान विरधीचन्द

ये संघी हुकुमचंद के पुत्र थे और अपने पिता के समय में ही इन्होंने संवत् १९९६ से १९९९ तक दिवान-गिरी की थी।

---

१. देखिए जयपुर के मंदिर के 'करकंडुचरित की अन्तिम प्रशस्ति।

२. देखिए आमेर के मंदिर में विराजमान पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति का लेख सांगानेर लवण, मोजमाबाद आदि स्थानों में १६५८ की मूर्तियां है।

३. ये शिला लेख जयपुर म्यूजियम में देखे जा सकते हैं। उक्त मंदिर साम्प्रदायिकता शिकार हुआ और शिव मूर्ति उसमें विराजमान कर दी गई। यह आमेर में ओसवालों के मंदिर के सामने वाला मंदिर मंदिर है। पास में विशाल हुआ हवेली और अन्य मकानात इन्हीके थे। आज भी इस मंदिर के भहरे में जैन मूर्तियां मौजूद हैं।

५-दिवान संघी झूंथाराम

इनने विक्रम सं. १८८१ से १८६१ तक दिवानगिरी की। ये अपने समय के कुशल राजनीतिज्ञ प्रतिभाशाली बड़ी सूझबूझ वाले एवं दृढ़ निश्चयी व्यक्ति थे। इनका शासन कठोर था। ये अपराधी को कठोर दंड देते थे। यही कारण है कि उस समय जयपुर में चोरी आदि सभी अपराध बहुत कम होते थे। यह काल देशी राज्यों में अंग्रेजों के आधिपत्य जमने का था। जयपुर में उस समय नाबालिग राजा थे। इससे फायदा उठा कर कई छोटे मोटे जागीरदार स्वतंत्र हो रहे थे, राज्य की सीमाएं अरक्षित थी और शेखावाटी प्रांत काबू से बाहर हो रहा था। राज्य की आय घट रही थी, राजनीतिक उथलपुथल मच रही थी और राजनीतिक षडयंत्र चल रहे थे। अंग्रेज इससे लाभ उठाना चाहते थे। संघीजी नहीं चाहते थे कि यहां अंग्रेजों का दखल हो–वे स्वतन्त्रता प्रेमी थे—जयपुर को गुलामी की जंजीरों में वे जकड़ देना नहीं चाहते थे। पैसा भले ही दे दिया जाय। उनने प्रान्त की सीमाओं पर नियंत्रण किया जो जागीरदार स्वतन्त्र होने की फिराक में थे उनको दबाया। इससे उनके विरोधी बढ गये। उन्हें मौका मिला और षडयंत्र होने लगे। अंग्रेजों के समय भारत में स्वतंत्रता प्रेमियों की जो दशा हुई वही संघीजी की हुई व इलजाम लगाये गये और जेल यातना भुगतनी पड़ी उनको।

६. दि. विमलदास छाबड़ा

ये आमेर पति महाराजा बिशनसिंह (जिनका राज्य काल १७४६ से १७५६ था) के दिवान थे। इनके पिता श्री बल्लुशाहजी महाराजा रामसिंहजी के समय में दिवान बताये जाते हैं। शिवाजी को मुगल दरबार में लाने के सम्बन्ध में बातचीत करने एवं समझाने के लिए बल्लूशाह जी को भेजा गया था। दिवान विमलदास साहसी और वीर पुरुष थे। लालसोट के पास किसी युद्ध में इनकी मृत्यु हुई बताई जाती है।

७–दिवान रामचन्द्र छाबड़ा

ये जयपुर निर्माता महाराजा जयसिंहजी के प्रधान अमात्यों में थे। इनका दिवानकाल-सं० १७४७ से १७७६ तक है। यही वे वीर थे जिनने आमेर को मुगलों के पंजे से छुड़ाया। बहादुर शाह ने आमेर पर कब्जा किया जयसिंहजी को आमेर छोड़ उदयपुर जाना पड़ा। दि० रामचन्द्र ने फौज एकत्र कर सं० १७६४ में आमेर पर आक्रमण किया [1] और मुगल प्रतिनिधि सैयद हुसैन खां को मार भगा दिया तथा यवनों से आमेर खाली कराया। ये चाहते तो स्वयं राजा बन जाते पर स्वामिभक्त थे। आमेर पति को बुलाया और राज्य सौंपा। इस पर मुगल नाराज हुए और जयसिंह के अपराधों की माफी की जो कार्यवाही मुगल दरबार में चल रही थी, वह स्थगित हो गई। मुगलों ने दि० रामचन्द्र को हटा देने के आदेश दिए।

दि० रामचन्द्र सफल शासक थे। इन्हें ढूंढार की ढाल कहा जाता है। कई युद्धों में ये सम्मिलित हुए थे। ये श्रद्धालु थे। साहीवाड का जैन मन्दिर इन्ही का बनाया हुआ है। इनने उज्जैन में एक नसियां बनाई। दिल्ली का जयसिंहपुरा का जैन मंदिर भी इन्ही का बनाया हुआ है इनके सम्बन्ध में निम्न कवित्त प्रचलित है—

रामचन्द्र विमलेश का ढूंढाहड़ की ढाल,
बांका ने सूधा किया सूधा किया निहाल....

घर राखणधरा राखण, प्रजा राखण पाण।
जैसिंह कहै छै रामचन्द्र तू सां चो छै दीवान।

इनको आमेर पतिकी तरफ से कई जागीरें मिली थीं। सांभर के लिए जयपुर जोधपुर में झगड़ा होने पर इन्हीं को पंच बनाया गया और इनने सांभर का आधा आधा हिस्सा दोनों को देना तय किया। जो स्वराज्य मिलने तक प्रचलित था। इस पर इनको सालाना नमक भी मिलता रहा।

८ दिवान फतहचंद छाबड़ा

ये दिवान रामचन्द्र के छोटे भाई थे और सम्वत् १७६५ से १७७१ तक इनने दिवानगिरी की। ये भी धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे।

---

१. देखिए इर्विन कृत लेटर मुगलज पृ० ६८ तथा वीर विनोद

९. दिवान किशनचन्द छाबड़ा

ये दिवान रामचन्द्र के लड़के थे सम्वत् १७६७ में इन्हें १०० बीघा जमीन किसी विशिष्ट कार्य करने के उपलक्ष में मिली थी। इनकी मृत्यु सं० १८१५ में हुई।

१० दिवान भीवचंद छाबड़ा

ये दिवान किशनचन्द के पुत्र थे। सम्वत् १८५५ से सं १८५६ तक इनने दिवानगिरी की वैसे राज्य सेवा में उच्चपद पर सं० १८२६ से ही थे इनका स्वर्गवास सं. १८६७ में हुआ।

११ दिवानरावजगराम पांड्या

प्रख्यात व्यक्ति राव कृपारामजी के ये पिता थे। संवत् १७७४ से १७६० तक इनका दिवान काल है। ये धनीमानी व्यक्ति थे। चाटसू जयपुर का एक प्रसिद्ध प्राचीन कस्बा है। पहले यह उदयपुर में था, फिर मुगलों के अधिकार में आया और फिर जयपुर वालों ने इस पर कब्जा किया। चम्पावती कुमाती पैमावती आदि नाम चाटसू के ही हैं। ये विभिन्नसमयों में बनते गये। चाटसू यह नाम राव जगरामजी के पूर्वज चाडमलजी के नाम से सम्बन्धित जाता बताया है। ये चाटसू के चौधरी कहलाते हैं। रावजी की मुगल दरबार में भी काफी पहुंच थी।

१२ दिवान राव कृपारामजी पांड्या

ये अपने समय के बहुत जबर्दस्त व्यक्ति हुए हैं। महाराजा जयसिंह के ये नवरत्नों में से एक थे। इनकी दिवानगिरी का काल १७८० से १७६० है। पर राज्य सेवा में ये इसके बाद भी वे कईवर्षों तक रहे। जयपुर के प्रतिनिधि स्वरूप मुगल दरबार में ये रहते थे। मुगल बादशाह के साथ बैठ कर शतरंज खेलना इनका साधारण कार्य था। सारे राजा महाराजा इनके सामने खड़े रहते थे और अपने कार्यों के लिए मुगल बादशाह से सिफारिश रावजी से कराते थे। रावजी नाराज न हो जायं, इसका सदा ध्यान रखते थे। इतिहास कारटाड ने इनको दिल्ली पति का कोषाध्यक्ष लिखा है। मुगल दरबार में इनको छ हजारी[1] मन्सब प्राप्त था।

जयपुर निर्माण में इनने करोड़ों की सहायता स्वयं दी थी। रावजी की पुत्री का विवाह माधोपुर के नगर सेठों के यहां हुआ था, उसमें कन्यादान का कार्य महाराजा जयसिंह ने किया था। हथलेवा छुड़ाने में २) देने का रिवाज रावजी ने कायम किया था जो आज भी प्रचलित है। माही मरातिब जो जयपुर नरेश की सवारी में लगते हैं वे राव कृपारामजी को मिले थे और उनने जयपुर नरेश को भेंट कर दिये।

ये धार्मिक वृत्ति के एक असांप्रदायिक एवं उदार विचारों के सज्जन थे। आपने जयपुर में चाकसू के चौक में स्थित विशाल जैन मंदिर बनवाया। दो चैत्यालय अपनी सात चोक की हवेली में बनवाये। आपने १२० सूर्य के मन्दिर बनवाये। गलता की पहाड़ी पर स्थित प्रसिद्ध सूर्य का मंदिर आप ही का बनवाया हुआ है।

महाराजा जयसिंह से राज्य छीनने का षड्यंत्र उनके भाई विजयसिंह कर रहे थे। उसकी सूचना रावजी ने जयसिंह को दी और उनको मुसीबत से बचाया। रावजी स्वामिभक्त थे और वे स्वामी भक्ति की परीक्षा में बिलकुल सफल हुए। इनका स्वर्गवास १८०४ में हुआ।

१३. दिवान भगतराम पांड्या—

ये रावजी के छोटे भाई थे जो १७६२ से १८०० तक दिवान रहे। इन्होंने भी अपने भाई की तरह ही राज्य सेवा की।

१४. दिवान राव फतहराम पांड्या—

ये राव कृपारामजी के तृतीय लघु भ्राता थे संवत् १७६० से सं. १८१३ तक इनने दिवानगिरी की। तब कृपारामजी के कोई पुत्र नहीं था अतः उनकी मातमी सं० १८०४ में इन्हीं के नाम हुई। सं. १८१४ में इनको जयपुर का वकील बनाकर मुगल दरबार में भेजा गया। जयपुर की ओर से इन्हें चार हजार वार्षिक मिलते थे। गांव अलग थे।

---

१. छह हजारीमन्सब का अर्थ—करीब ४०० घोड़े, १०० हाथी, ३०० बारबरदारी और ४० हजार मासिक वेतन (आइने अकबरी के आधार पर)

१५. दिवान राव भवानी राम—

ये दिवान फतहरामजी के पुत्र थे। संवत् १८४३ से १८५५ तक इनका दिवान काल है। ये साहित्यिक व्यक्ति थे। इन्होंने चतुर बिनोद नामक एक पुस्तक लिखी थी। ज्योतिष के भी ये अच्छे विद्वान थे।

१६. दिवान राव जाखी राम—

ये दिवान भवानी राम के लड़के थे और इनने भी काफी राज्य सेवाएं की हैं।

१७. दिवान विजयराम छाबड़ा—

ये तोलूराम के लड़के थे और विजयराम तोलूका बोला जाता था। तोलूका एक बेंक पड़ गया और आज भी इनके वंशज तोलूका कहलाते हैं। ये महाराजा जयसिंह के दिवान थे। महाराजा जयसिंह की एक बहिन दिल्ली बादशाह को देनी की थी—पर विजयराम के चातुर्य से वह बूंदी के हाडा बुधसिंह को चुपचाप परण दी गई। जयसिंह उस समय दिल्ली में थे। इस पर मुगल बादशाह नाराज भी हुआ और कहा कि मेरी मांग बुधसिंह ने क्यों परणी। पर बुधसिंह तो रणबांकुरे थे वे डरे नहीं। विजयरामजी की खैर ख्वाही से इनको एक ताम्रपत्र मिला था कि शाबाशा थे कुछाहा को धर्म राख्यो। जयपुर की राज्य पीढ़ी कभी उभटण नही होंगे और आपको बांटकर खावेगी। निजकरामजी बहुत वीर और साहसी व्यक्ति थे।

१८. दि० किशोरदास महाजन—

ये १७४६ से १७७६ तक दिवान रहे। ये दौसा के छाबड़ा गोत्रीय थे। विशेष जानकारी अपेक्षित है।

१६. दि० ताराचन्द बिलाला—

ये केशवदास के पुत्र थे। संवत् १७७३ से १७६० तक ये दिवान रहे। जयपुर में लूणकरण पांड्या वाला मन्दिर इन्हीं का बनाया हुआ है। पचेवर वालों के रास्ते में इनका विशाल मकान था। इनकी वंश परम्परा में अब कोई नहीं बनाया जाता।

२०. दि० नैनसुख तेरापंथी—

ये बड़े धार्मिक वृत्ति के थे। इनका दिवान काल सं० १७६६ से १७७० तक है। ये दौसा के छाबड़ा गोत्रीय थे। दौसा लालसोट बसवा पापड़दा चाकसू टोंक मालपुरा फागी आमेर आदि कई स्थानों में इनने जिन मंदिर बनाये थे—ऐसा इनके वंशज कहते थे।

२१. दि० श्रीचंद छाबड़ा—

ये दि. नैनसुख छाबड़ा के भाई थे और सं. १७७०-७१ में दिवान रहे।

२२. दि. कनीराम वैद—

ये खेमकरण के लड़के थे। संवत् १८०७ से १८२० तक ये दिवान रहे। जयपुर में मनीरामजी की कोठी के सामने जो मंदिर है वह इन्हीं का बनाया हुआ है। कठमाना नामक ग्राम (जो डिग्गी मालपुरा सड़क पर है) के निवासी थे। कठमाना का विशाल जैन मंदिर इन्हीं का बनाया हुआ है। इनके द्वितीय भ्राता श्री कीरतराम ने कठमाना के पास ही सोडा ग्राम में एक मंदिर बनाया था। कठमाना में आज भी आपके वंशज हैं।

२३. दिवान रतनचन्द साह—

दिवान पद पर इनकी सेवाओं का काल सं. १८२३ से १८२५ तक है। रतनचंदजी ने आमेर में एक विशाल मंदिर बनवाया और जयपुर में भी। जयपुर का मन्दिर अपने ज्येष्ठ भ्राता बधीचंदजी के नाम से रखा जो आज शुद्धाम्नाय का प्रमुख मंदिर है। गुम्बज में स्वर्ण का काम दर्शनीय है। यहां का शास्त्र भण्डार भी काफी उल्लेखनीय है।

२४. दिवान जयचंद्र साह—

ये रतनचंदजी के पुत्र थे और सं. १८२४ से ३५ तक दिवान रहे।

२५. दि. संघी नन्दलाल गोधा—

इनके पिता का नाम अनूपचंदजी था। आपने वि. संवत १८१३ से १८२८ तक दिवान पद को सुशोभित किया।

२६. दि. आरतराम खिन्दूका—

ये ऋषभादास के लड़के थे दिवानकाल १८१४ से १८३५। तक ये नेवटा ग्राम के रहने वाले थे, नेवटा में इनका बनाया हुआ मन्दिर है। जयपुर में इनके मकान में चैत्यालय है।

२७. दि. नोनदराम खिन्दूका—

दिवान आरतराम के पौत्र। दि. काल १८७४ से १८८१।

२८. दि. नैनसूख खिन्दूका—

पुत्र मुकन्ददास। दि. काल १८२१-१८२६। इनके वंशज जयपुर मुसरफों के चौक में है।

२९. दि. मोतीराम संघी गोधा—

पुत्र नन्दलाल। दि. काल १८२५-१८३४

३०. दि. अमरचन्द सोगाणी—

पुत्र भमाराम। दि. काल १८२६-१८३४

३१. दि. जीवराज संघी—

दि. काल १८३०-१८४०

३२. दि. मोहनराम—

पुत्र जीवराज दि. काल १८३४से १८६७ तक

३३. दि. गंगाराम महाजन—

पुत्र कालूराम-दि. काल १८४०-से १८४५

३४. दि. भागचन्द—

पुत्र सीताराम। दि. काल १८४२ से १८४६ तक। इनके वंशजों की चौडे रास्ते में हवेली है। चम्पालाल इनके वंशज हैं।

३५. दि. भगतराम बगडा—

इनके पिता का नाम सुखराम था। दिवान काल१८४२ से १८८५ तक ये उदार प्रकृति के धर्मात्मा व्यक्ति थे। इनने शांतिनाथजी की खोह में पहाडी पर केदार नाथ का मंदिर तथा तिवारा भर्तृ हरि एवं महादेव का मंदिर भी इन्हीं का बनाया हुआ बताया जाता है। एक बावड़ी इनने १८६४ में बनाई। उस पर आज भी शिलालेख मौजूद है। इनने उस समय खोह में तीन लाख रुपया लगाया बताया।

दि. श्योजीलाल छाबड़ा

ये चैनरामजी के पुत्र थे। दिवान काल-१८६५ से १८७५ तक है। जयपुर में इनकी हवेली वाला रास्ता इन्हीं के नामसे दिवान श्योजी लालजी का रास्ता कहलता है। ये संस्कृत एवं ज्योतिष के विद्वान थे। सरकारी रकम की वसूली में इनकी सेवाएं महत्वपूर्ण थीं।

३७ दि. अमोलकचन्द खिन्दूका

पुत्र नोनन्दराम दि. काल १८८२ से १८८६ तक।

३८ दि. संपतराम खिदूंका

ये दिवान आरतराम के पौत्र थे। दि. काल १८६१ से १८६६ तक है। ये अलवर में भी दिवान रहे।

दि. सदासुख छाबड़ा—

पुत्र जयचंद का। दि. काल १८५७—१८६४

३९ दि. कृपाराम छाबड़ा—

पुत्र जयचंद। दि. का १८६६-१८७५

४० दि. लिखमीचद छाबड़ा—

पुत्र जीवनराम। दि. काल १८६६ से १८७४। ये दौसा के तेरह पंथियों में से थे।

४१ दि. लीखमीचंद गोधा—

पुत्र भगतराम। दि. काल १८७४-१८८१

४२ दि. केसरीसिंह कासलीवाल—

दिवान काल १८०८ से १८१७। पहले १७८६ में ये नुसवान बीपूर्ण पर थे। फिर दिवान पद तक पहुँचे। बड़े धर्मात्मा थे। जयपुर का संगमरमर में कुराई के काम के लिए विख्यात सिरमोरियों का मंदिर इन्हीं का बनाया हुआ है। राज्य की ओर से इस मंदिर के निर्माण में २०००) मिले थे। जयपुर नरेश माधोसिंहजी के हाथों से इस मंदिर की नींव सं. १८१३ में लगी थी।

४३ दि. बालचंद छाबड़ा—

ये मोजीरामजी के पुत्र थे। मोजीरामजी भी दिवान बताये जाते हैं। बालचन्दजी का दिवान काल १८१८ से १८२६ तक था। इस समय जयपुर में राजनीतिक एवं साम्प्रदायिकता का विषैला वातावरण था। एक श्याम राम नामक व्यक्ति का बोलबाला था। वह जयपुर नरेश का गुरु बना था। राजाजी को कहते हैं मेल जोल से

ताबीजमादि से उसने वश में करवाया था। संवत् १८१७ में श्यामराम के सहयोगियों द्वारा लूट पाट हुई, जैन मंदिर नष्ट किये गये। कहा जाता है कि दि० बालचन्द जी ने महाराजा के हाथ पर बधे हुए ताबीज को खुलवाकर उसके स्थान पर कागज का टुकड़ा रख दिया। फलस्वरूप महाराजा को बोध हुआ और अपने किए पर पछताने लगे, और तत्काल श्यामराम को देश निकाला दिया गया। सं० १८१६ में राजाज्ञा निकाली कि जैनों के साथ कोई भेदभाव न किया जाय, जो माल लूटा हो वापस किया जाय। फलस्वरूप जितने मंदिर भ्रष्ट हुए उतने ही और बने। धर्म रक्षार्थ दि० बालचन्दजी ने अभूतपूर्व कार्य किए जो वर्णनातीत हैं। संवत १८२१ में एक बहुत बड़ा इन्द्र ध्वज विधान उत्सव हुआ जिसमें दूर दूर के यात्री आये।[1] दिवान बालचन्द और दि० रतनचंद उसमें प्रभावक थे। नये जिनालय उत्सव आदि धार्मिक कार्य हुए। कुछ साम्प्रदायिक व्यक्ति इससे जले, पुन: उपद्रव मचा और फलस्वरूप महापंडित आचार्य कल्प पं० टोडरमल जी के प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ा।

४४ दिवान जयचन्द छाबड़ा

मेबालचन्द्रजी के ज्येष्ठ पुत्र थे और संवत् १८२६ से १८५५ तक इनका दीवान काल था। ये धर्मात्मा थे। दिवान बालचन्द जी के पांच लड़कों में से सबसे बड़े जयचन्दजी और सबसे छोटे रामचन्दजी बहुत प्रभावशाली हुए हैं।

४५. दि० रामचन्दजी

ये वीर, कुशल राजनीतिज्ञ और धर्मात्मा व्यक्ति थे। उदयपुर महाराणा भीमसिंह की सुन्दर कन्या कृष्णा कुमारी के साथ विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर में काफी झगड़ा हो गया, फौजें तैयार हो गई। किन्तु जोधपुर के दिवान इन्द्रराज और जयपुर के दिवान रामचन्द ने मिल कर झगड़े को शान्त किया।[2] पर शान्ति स्थाई नहीं हुई। लोगो ने जयपुर नरेश को भड़काया। पोकरण के ठाकुर ने उस समय जोधपुर की गद्दी लेने के लिए जोधपुर पर चढ़ाई करदी और जयपुर नरेश उनके साथ हो गये। तब रामचन्द जी को भी राजा जी की आज्ञानुसार जाना पड़ा। उसने सलाह दी और कोशिश की कि आप उदयपुर में चलकर विवाह करलें। पर जयपुर नरेश ने नहीं माना—जोधपुर पर चढ़ बैठे। इधर जयपुर को बिना फौज के सूना जान जोधपुर की सलाह से अमीरखां पिंडारी ने जयपुर पर धावा बोल दिया। पिण्डारी द्वारा पर पुन: उसने धावा बोला, जयपुर वाले भाग खड़े हुए। दिवान रामचन्द को जोधपुर में जब यह समाचार मिले तो उसने जयपुर नरेश को सलाह दी कि जयपुर चल कर अपनी रक्षा करें। उनने उनका कहना जरूर माना—पर फौज थकी हुई थी। ऐसी स्थिति में रामचन्द ने पिण्डारी को एक लाख रुपया देकर पिण्डा छुड़ाया।

रामचन्दजी धार्मिक वृत्ति के थे। उन्होंने अनेक यात्रासंघ चलाये। संवत १८६१ में जयपुर में बहुत बड़ी बिंब प्रतिष्ठा कराई जिसकी मूर्तियां आज भी हजारों की संख्या में उत्तरी भारत में भी दूर दूर तक पहुंची थी। इनने तीन मन्दिर बनवाये। इनमें दो लाख खर्च हुए।

महाराजा जगतसिंह रसिक थे। रस कपूर नामक गणिका से उनका अधिक प्रेम था। किन्तु रामचन्दजी राजा को इस अवगुणों ने दूर रखना चाहते थे। लेकिन चापलूस लोग भी बहुत थे। मिश्र शिवनारायण रस कपूर का भाई बना और पूर्वज श्यामराम का बदला दिवान बालचन्द के लड़के रूपचन्द से लेना चाहा। नशे में मदहोश नरेश से आज्ञा ले रामचन्द को पकड़वाकर जयगढ़ भेज दिया जहां से जीवित आने की आज्ञा न थी जब राजा को होश हुआ तो उनने रामचन्द को फौरन बुलाया। आन की वजह से पहाड़ी के पीछे की ओर से रस्से से उनको उतरवाया—फिर

---

१. देखिए बखतराम रचित बुद्धि विलास—(शास्त्र भंडार लश्कर का मंदिर जयपुर)

१. देखिए उत्सव का निमंत्रण—चिट्ठी बधीचंदजी के मंदिर का शास्त्रों में भर चिट्ठी वीर वाणी में प्रकाशित हो चुकी है।
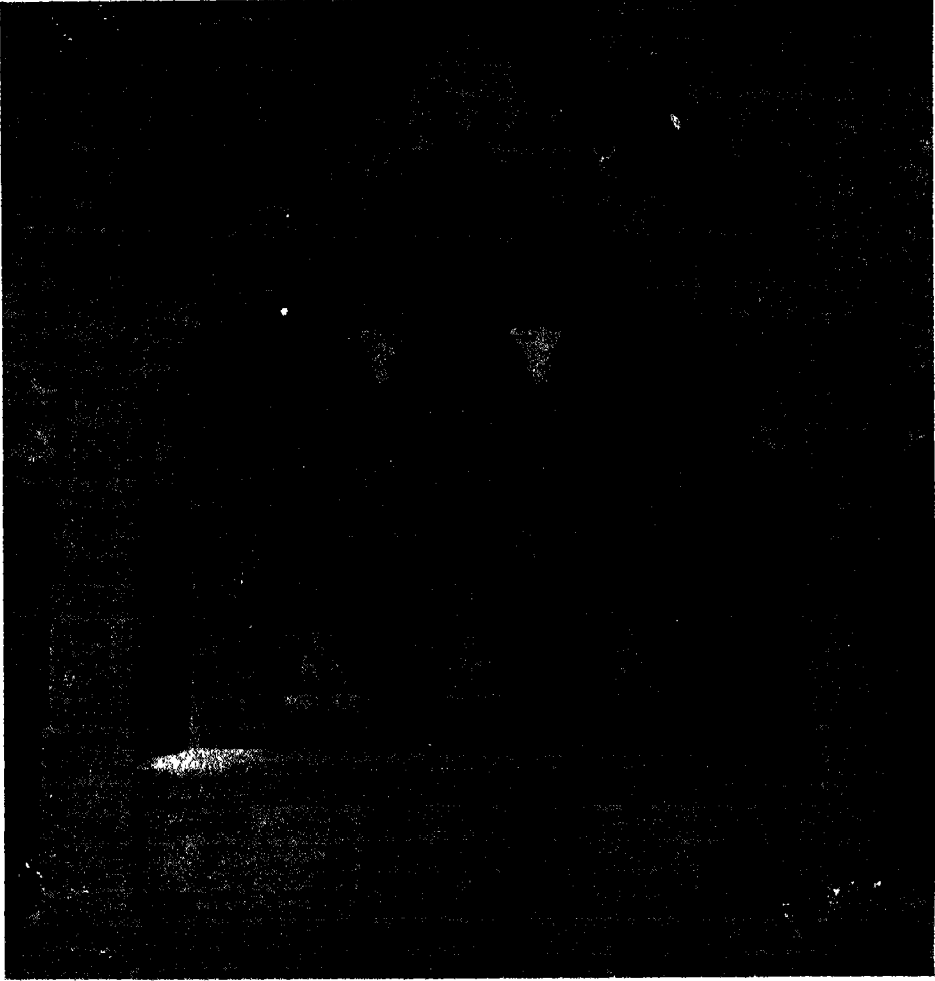
सांगानेर में भव्य एवं कला पूर्ण संघीजी के मंदिर की वेदी

दुश्मन ने बीच ही में रस्सा कटवा दिया और रामचन्द की मृत्यु हो गई। यह १८६४ की बात है।

४६ दिवान मन्नालाल छाबड़ा

दिवान काल १८६६-६६। रामचन्द जी के पुत्र थे।

४७ दिवान कृपाराम छाबड़ा

ये रामचन्द के भतीजे थे। इनका दिवान काल १८६६ से १८७५ तक। ये बड़े नीतिज्ञ और फौजी व्यक्ति थे। राज्य की ओर से इनने बड़ी बड़ी फौजों का संग्रह किया था। शेखावटी को अपने वश में रखने की दृष्टि से दिवान रामचन्दजी ने इनको वहां भेजा। इनने असन्तुष्ट सामन्तों को वश में किया। इनकी चातुरी से १० हजार सेना इनके अधीन हो गई। टाड् ने लिखा है कि जगतसिंह जी की इतनी सेना थी जितनी किसी आमेर पति की नहीं हुई।

इनके पुत्र शिवजीलाल भी दिवान हुए हैं-पर प्रामाणिक जानकारी नहीं है।

४८. दीवान श्योजीलालजी पाटनी खिंदुका—

ये रतनचन्दजी के पुत्र और प्रसिद्ध दिवान अमरचंद जी के पिता थे। इनका दिवान काल-१८३४ से १८६७ तक है। ये बड़े धर्मात्मा और वीर थे। जयपुर में मनिहारों के रास्ते में स्थित बडे दिवानजी का मन्दिर इन्हीं का बनाया हुआ है। इस मन्दिर में पचासों वर्षों तक शास्त्र प्रवचन होता आया हैं। वर्तमान जैन संस्कृत कालेज इसी की इमारत में है। संवत् १८५० में यह मन्दिर बना था। ये साहित्य प्रेमी थे। कई ग्रन्थों की प्रतियां इनने कराई थीं।

इनको धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान भी अच्छा था।

४९. दिवान अमरचन्दजी पाटनी

ये जयपुर के प्रसिद्ध दिवान थे। इनके बारे में लोग बहुत कुछ जानते थे। ये १८६० से १८६२ तक दिवान रहे। ये बड़े धर्मात्मा पुरुष थे। अपने पिता के अनुरूप ही अपनी हवेली के पास में ही एक विशाल मन्दिर इन्होंने बनाया। जो छोटे दिवानजी के मन्दिर के नाम से विख्यात है। उसके सामने ही इनकी धर्मशाला है। यह मन्दिर संवत् १८७२ से १८८४ तक बना। चौदह हजार रुपये इसमें खर्च हुए, जो आज कई लाख के बराबर हैं। इनने लकड़ी पर सोने के काम की समवसरण से जंबूदीप रचना बनवाई जो बधीचन्दजी के मन्दिर में मौजूद है।

इनने कई सामाजिक रीति रिवाजों में सुधार किये जो वर्षों तक प्रचलित रहे। दयालु इतने थे कि किसी जरूरतमन्द व्यक्ति के घर पर चुपचाप अनाज एवं कपड़े आदि भिजवा देते और मालूम तक नहीं होता कि किसने भेजा है। कई बार लड्डुओं में म्होर रखकर ये गरीब घरों में भिजवा देते थे। मन्दिर में स्वयं अपने हाथों से झाड़ू लगाते थे। इनने अपने जीवन में अनेकों को स्वाध्याय आदि के व्रत नियम दिलवाये। स्वयं ने ग्रन्थ लिखवाये और शास्त्रों का अच्छा संग्रह कराया था।

जिस समय ये दिवान थे राज्य में नाबालगी के समय में कई राजनीतिक षड़यन्त्र चल रहे थे। एक अंग्रेज को जयपुर की जनता ने मार दिया इसलिए कि वह राज प्रासाद में नंगी तलवार लेकर निकला—लोगों ने समझा कि इसने राजा की हत्या करदी है। त्रिपोलिया एवं किशनपोल बाजार के (जहां वह मारा गया) सारे क्षेत्र पर अंग्रेजों का प्रकोप हुआ। तब कहीं सब लोग सामूहिक रूप से न मारे जांय—दिवानजी को यह भय हुआ। षड़यन्त्रकारियों को मौका मिला—इनको पकड़वाया गया। अंग्रेजों द्वारा बनाई गई एक समिति (ट्रिब्यूनल) ने इनको अपराधी माना और फांसी पर लटकाने का हुकम हुआ। किन्तु आत्म चिन्तन में लीन ध्यानस्थ आत्माराम कब चले गए उसकी कहानी अमर बन कर रह गई।

५०. दिवान मानकचंद ओसवाल—

दिवानकाल १६०६ से १६१२ तक। विशेष जानकारी प्राप्त नही हुई।

मुंशी प्यारेलालजी कासलीवाल (रेवेन्यू मिनिस्टर) इस परम्परा के अन्तिम उच्चाधिकारी थे। संवत् १६७६ से १६७६ तक रहे।

अब तक जो जानकारी उपलब्ध हुई है—उसका संक्षिप्त स्वरूप मैंने इस परिचय में प्रस्तुत किया है। खोजी एवं अनुसंधानकर्ताओं को इस पर और भी खोज करनी चाहिए और उन्हें जो भी सामग्री मिले यदि इन पंक्तियों के लेखक को सूचित करने का कष्ट करें तो मैं उनका आभारी रहूंगा। ★

महावीर जयन्ती समारोह सन् १९६९

गत वर्ष हुए महावीर जयन्ती समारोह के कार्यकर्ता